सत्यदेव परिव्राजक

व्यक्तित्व एवं साहित्यिक कृतित्व

डा॰ दीनानाथ शर्मा

पंजाब से तिरुचिरापल्ली तक हिंदी भाषा की पताका फहराने वाले निष्काम संन्यासी स्वामी सत्यदेव परिव्राजक सच्चे अर्थों में अद्वितीय थे। दरअसल, वे कथनी और करनी दोनों ही दृष्टियों से परिव्राजक थे।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से लेकर महात्मा गांधी के युग तक लगातार साहित्य-साधना में लगे रहने वाले स्वामी सत्यदेव जी का मूल्यांकन करना आसान काम नहीं है। कविता, कहानी, निबन्ध, जीवनी, यात्रा-वृत्तान्त आदि साहित्य की अनेक विधाओं में उन्होंने सार्थक लेखन किया है। स्वामी जी के साहित्य और व्यक्तित्त्व का मूल्यांकन अपना अलग महत्त्व रखता है।

डॉ० दीनानाथ शर्मा ने स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के व्यक्तित्व और उनकी साहित्यिक उपलब्धियों का पहली बार अपनी इस पुस्तक में आधिकारिक रूप से विवेचन किया है। परिव्राजक जी के साहित्य की यह विवेचना जहां साहित्य के गंभीर अध्येताओं को परितोष देगी, वहीं उनके व्यक्तित्त्व का लेखा-जोखा सामान्य पाठकों को भी नयी जानकारी और प्रेरणा देगा।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक : व्यक्तित्त्व एवं साहित्यिक कृतित्त्व

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक : व्यक्तित्त्व एवं साहित्यिक कृतित्त्व

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की पी.एच.डी. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

डॉ० दीनानाथ शर्मा

भूमिका

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के समकालीन लेखकों में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का नाम अग्रगण्य है। स्वामी जी का जन्म पंजाब प्रदेश के लुधियाना नगर में हुआ था। इनके प्रपितामह सिख तथा पिता सनातनधर्मी विचारधारा के अनुयायी थे। प्रारम्भिक शिक्षा डी० ए० वी० स्कूल लाहौर में प्राप्त की। छात्रावस्था में सत्यार्थप्रकाश तथा राबिन्सन क्रूसो नामक पुस्तकों ने उन्हें सत्य तथा न्याय के लिए निरन्तर संघर्षशील रहने की प्रेरणा दी। महर्षि दयानन्द सरस्वती की विचारधारा में पूर्णतया रच-पचकर वह समाज-सुधार की दिशा में आगे बढ़े। लाला लाजपतराय, स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी विवेकानन्द के राष्ट्रीय तथा आध्यात्मिक विचारों का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। बीस वर्ष की अवस्था में स्वामी महानन्द जी से दीक्षा प्राप्त कर आप सत्यदेव से सत्यदेव परिव्राजक बने। देहरादून, कानपुर होते हुए आप काशी पहुंचे तथा नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक डॉ० श्यामसुन्दरदास, श्री रामनारायण मिश्र तथा ठाकुर शिवकुमार सिंह के सम्पर्क में आए। सरस्वती में आपका पहला लेख भीष्म पितामह नाम से छपा। काशी में रहते हुए स्वामी रामतीर्थ से आपका पत्र-व्यवहार हुआ। अमरीका जाने के लिए यह प्रेरक घटना थी। स्वामी जी की दृढ़ संकल्प शक्ति, कर्मठता, ध्येय-निष्ठा तथा साहसिक दौड़धूप का परिचय 'अमरीका प्रवास की मेरी अद्‌भुत कहानी' से मिल जाता है। अमरीका से आपने आचार्य द्विवेदी को पत्र लिखे तथा सरस्वती में नियमित रूप से प्रकाशनार्थ लेख भेजे। 1911 में अमरीका से लौटकर काशी को साहित्य-साधना का केन्द्र बनाया और सत्यग्रन्थ माला नाम से अपनी पुस्तकों का प्रकाशन प्रारम्भ किया। उन दिनों हिन्दी के प्रमुख पत्रकार श्री लक्ष्मीनारायण गर्दे आपसे बड़े प्रभावित थे। सरस्वती के ग्राहकों—विशेषत: तरुणों को आपके लेखों से बड़ी प्रेरणा मिली, नई रोशनी जो उन्होंने दी थी। काशी और प्रयाग उनकी साधना के दो प्रमुख केन्द्र थे।

राजर्षि टंडन, गणेशशंकर विद्यार्थी तथा नारायणप्रसाद अरोड़ा के सम्पर्क में आकर वह राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़े। स्वाधीनता का सन्देश तथा हिन्दी-प्रचार उनके

जीवन के प्रमुख लक्ष्य बन गए। इसी सिलसिले में 1918 में मद्रास के गोखले हाल में श्री देवदास गांधी के साथ हिन्दी कक्षाएं चलाकर दक्षिण के अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सिखाने का कार्य आपने किया। हिन्दी की पहली पुस्तक तथा 'बालरामायण' की रचना आपने इसी उद्देश्य से की थी। हिन्दी-लेखन को वैचारिक प्रतिबद्धता से जोड़ने के लिए आपने बड़ा प्रयत्न किया। ऐयारी और तिलस्मी लेखन के आप विरुद्ध थे। चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता सन्तति तथा दारोगा दफ्तर जैसे तिलस्मी उपन्यासों को आप विष के भण्डार मानते थे। मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यासों की मौलिकता को लेकर भी आपने असहमति प्रकट की थी। उग्र जी के चाकलेट के विरुद्ध डॉ० बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा चलाए गए घासलेटी साहित्य के आन्दोलन में चतुर्वेदीजी की मित्रता को ताक पर रखकर आपने उग्र जी का साथ दिया। साहित्यिकों के खेमे में निष्पक्ष खड़े होकर तूफान खड़ा कर देना उनके अपराजेय व्यक्तित्त्व का प्रमुख चिह्न था। श्रीधर पाठक, पण्डित द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी, पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी तथा श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी स्वामी जी के अनन्य समर्थक साहित्यकार थे।

स्वामी जी सर्वस्व त्याग की प्रतिमूर्ति थे। हरिद्वार में उन्होंने अपने जीवन-भर की सात्विक कमाई तथा कलमजन्य श्रम से अर्जित पवित्र राशि से हिन्दी-प्रचार के लिए 'सत्यज्ञान निकेतन' की स्थापना की। 30 नवम्बर, 1943 को यह भवन स्वामी जी ने नागरी प्रचारिणी सभा को दान कर दिया। 'स्वतन्त्रता की खोज' पुस्तक में स्वामी जी के दान-संकल्प का पूर्ण विवरण उपलब्ध है। पश्चिमी भारत में हिन्दी-प्रचार के लिए यह सम्पत्ति स्वामी जी ने सभा को समर्पित की थी, किन्तु अपने लक्ष्य में सभा की उदासीनता के कारण वैसी सफलता नहीं मिल सकी, जैसी स्वामी जी ने आशा की थी। स्वामी जी अन्तिम समय तक इस बात को लेकर व्यथित रहे।

मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद' तथा आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में स्वामीजी के साहित्यिक कर्तृत्व का परिचय दिया। आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में हिन्दी की प्रथम कहानी का निर्णय करने के लिए इन्दुमती, गुलबहार, प्लेग की चुड़ैल, ग्यारह वर्ष का समय, पण्डित और पण्डितानी व दुलाई वाली का उल्लेख किया है पर स्वामी सत्यदेव की कहानी माला का उल्लेख नहीं किया। परिव्राजक जी की आश्चर्यजनक घंटी भी 1908 में सरस्वती में छपी थी। यह ठीक है कि माला फ्रांसीसी लेखक की कहानी का अनुवाद है पर पाश्चात्य कहानियों के शिल्प से हिन्दी लेखकों को परिचित कराने में यह एक सुखद प्रयत्न कहा जाना चाहिए। राधाकृष्णदास, गिरिजाकुमार घोष, पृथ्वीपाल सिंह, सूर्यनारायण दीक्षित, रूपनारायण पांडेय तथा शिवनारायण शुक्ल जैसे अंग्रेजी तथा फ्रेंच से कहानियों के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने वाले लेखकों के साथ परिव्राजक जी को भुलाया नहीं जा सकता। 'इन्दु' तथा 'सरस्वती' ने इन लेखकों को प्रोत्साहन दिया। विषय वैविध्य की दृष्टि से परिव्राजक जी की हिन्दी कहानियों का मूल्यांकन नहीं हुआ। आधुनिक हिन्दी-कहानी के उद्भवकाल की पृष्ठभूमि में हिन्दी-साहित्येतिहासकारों द्वारा स्वामी जी की रचनाओं

का नामोल्लेख न करना साहित्यिक उदासीनता का ही परिचायक कहा जाएगा।

आधुनिक हिन्दी गद्य में यात्रा-साहित्य के लेखन को तीव्रगति देने में भी परिव्राजक जी की लेखनी आगे रही। 1911 से लेकर 1937 तक उन्होंने अमरीका, जर्मन-यात्रा, उत्तराखण्ड के पथ पर तथा तिब्बत-यात्रा जैसे ग्रंथ लिखे। स्वामी जी ने यात्रा के लिए उत्सुक सैलानियों के प्रशिक्षण के लिए 'यात्री मित्र' जैसी उपयोगी पुस्तक की रचना की। पुस्तक के मुखपृष्ठ पर इसका विज्ञापन दिया गया है। मद्रास से प्रकाशित दैनिक 'हिन्दू' में इस पुस्तक की प्रशंसा छपी थी। अपने विषय की यह पहली पुस्तक हिन्दी में कही जा सकती है। विदेश-यात्रा को लेख-बद्ध करने वाले हिन्दी लेखकों में गोपालराम गहमरी, केदाररूप राय, वेणी शुक्ल, मंगलानन्द पुरी, कृपानाथ मिश्र, सत्येन्द्रनारायण तथा राहुल सांकृत्यायन से अधिक परिमाण में सत्यदेव जी ने ही लिखा है।

निबन्ध, आत्मकथा, लेखन-कला, आलोचना तथा कविता के क्षेत्र में भी उनका लेखन द्विवेदीयुगीन लेखकों से गुणवत्ता में कम नहीं है। आत्मकथा-लेखन में भवानीदयाल संन्यासी तथा सत्यदेव जी ने युगान्तरकारी कार्य किया। सांस्कृतिक मूल्यों के पुनरावलोकन के साथ-साथ शैलीगत उपलब्धि की दृष्टि से भी इस कार्य का मूल्यांकन अपेक्षित था। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर उनके निबन्ध प्रतिक्रियावादी कहे जा सकते हैं, पर तर्क, न्याय, पुष्ट शैली, प्रेषणीयता तथा भाषा के चुटीलेपन की दृष्टि से इस युग के निबन्धकारों में उनकी चर्चा होनी चाहिए। खेद है, इतिहास-ग्रंथों में कहीं पर भी इस दृष्टि से स्वामी जी का उल्लेख नहीं है।

शैली और लेखन-कला को लेकर बाद में आचार्य रामचन्द्र वर्मा तथा आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने अच्छी हिन्दी तथा लेखनकला पुस्तकों की रचना की, पर हिन्दी में इस विषय पर 1916 में सर्वप्रथम परिव्राजक जी ने पुस्तक लिखी। परिव्राजक जी ने अन्द्रे मारिस कृत 'दी आर्ट आफ राइटिंग' (1915) तथा वाल्टर रैलेह कृत 'आन राइटिंग एंड राइटर्स' (1916) पुस्तकों से प्रेरणा लेकर इस पुस्तक की रचना की थी। परिव्राजक जी की पुस्तक पर रायबहादुर पण्डित शुकदेव बिहारी मिश्र ने अच्छी सम्मति दी थी—'नवाभ्यासी लेखकों के लिए इस पुस्तक ने मार्गदर्शक का कार्य किया। लेखनी उठाने से पहले यदि इसे पढ़ लिया जाए तो सफल लेखक बनने का गुर हाथ आ सकता है। तात्पर्य यह कि आधुनिक हिन्दी गद्य-लेखकों तथा भाषा-विचारकों में उनका स्थान पुरस्कर्त्ता आचार्य का है।'

हर्ष का विषय है कि डॉ०दीनानाथ शर्मा ने 'स्वामी सत्यदेव परिव्राजक : व्यक्तित्त्व एवं साहित्यिक कृतित्त्व' प्रबन्ध में उक्त सभी दृष्टियों से स्वामी जी के कर्तृत्व की अन्तरंग परीक्षा कर उनके साहित्यिक अवदान को योग्यता के साथ उद्घाटित किया है। इस अनुसन्धान परक शोध-प्रबन्ध में स्वामी जी के जीवन-वृत्त के संकलन के साथ उनकी रचनाओं के प्रतिपाद्य और शैलीगत वैशिष्ट्य का प्रकाशन भी हुआ है। तथ्यपूर्ण व्यवस्थित सामग्री सुबोध प्रांजल भाषा तथा शोध-पुष्ट निष्कर्ष इस ग्रंथ की मूल विशेषताएं हैं। निबन्ध-

साहित्य, लेखन-शैली, यात्रा-साहित्य, जीवनी तथा आत्मकथा, कहानी, काव्य तथा राष्ट्र-भाषा प्रचार के क्षेत्र में किए गए कार्यों का समीक्षात्मक अध्ययन लेखक के विशद् अध्ययन का परिचायक है। हिन्दी सेवी संस्थाओं में नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन-प्रयाग, पंजाब प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के मंच से किए गए उनके ऐतिहासिक क्रियाकलाप का व्यौरा भी इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम दिया गया है। विषय नवीन होने से आलोचना के क्षेत्र में पिष्टपेषण से भी बचने का अवसर लेखक को मिला है। पंजाब से लेकर त्रिचनापल्ली तक हिन्दी की ध्वजा उठाए यह संन्यासी निष्काम और निर्लोभवृत्ति से निरन्तर घूमता रहा। उसकी अटनशीलता निरर्थक नहीं थी। वह कथनी और करनी दोनों दृष्टियों से परिव्राजक था। वर्तमान भाषिक विवाद और राजनीतिक वैमनस्य के वातावरण में स्वामी जी का राष्ट्रीय व्यक्तित्त्व निःसन्देह प्रेरणादीप का कार्य करेगा। इस ग्रन्थ से जहां स्वामी जी की कीर्तिरक्षा होगी, वहां हिन्दी-सेवा का निर्व्याज आदर्श लेकर चलने वालों को कठिन परिस्थितियों में भी आत्मबल बनाए रखने की प्रेरणा मिलेगी। मैं आयुष्मान् डॉ० दीनानाथ को इस उत्तमग्रंथ के लेखन के लिए बधाई देता हूं और आशा करता हूं कि प्रमादरहित होकर वह निरन्तर साहित्य-सेवा करते रहेंगे।

—डॉ० विष्णुदत्त राकेश

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार
16-11-83

अपनी बात

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का वरदहस्त हिन्दी-साहित्य की जिन विभूतियों पर रहा, उनमें स्वामी सत्यदेव परिव्राजक जी का स्थान कम महत्त्व नहीं रखता। विदेश में रहकर ज्ञान के देवता की सतत साधना में लगे हुए अध्ययनार्थियों के साभयिक लेखों को 'सरस्वती' में प्रकाशित करके आचार्य द्विवेदी ने दो महत्त्वपूर्ण कार्य किए थे। एक वीणावादिनी के इन वरद् पुत्रों के विदेशों के अनुभवों से भारतीय जनता को परिचित कराना। दूसरा समय-समय पर आर्थिक सहायता द्वारा इन अध्येताओं को जीवनयापन की सुविधा प्रदान करना। परिव्राजक जी ने अपनी आत्मकथा में इसका उल्लेख भी किया है। आचार्य द्विवेदी ने विदेशों में रहकर अध्ययन करने वाले जिन-जिन लेखकों की समय-समय पर सहायता की उनमें प्रसिद्ध पत्रकार संत निहालसिंह का नाम भी उल्लेखनीय है।

इस प्रकार द्विवेदी-युग के प्रारम्भिक काल से लेकर गांधी-युग तक निरन्तर साहित्य-साधना में लगे रहने वाले परिव्राजक जी की साहित्य-साधना का मूल्यांकन करना साधारण काम नहीं है। यह जानते हुए भी मैंने गुरुतर भार को वहन कर लेने का साहस कर ही डाला।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' तथा आदरणीय मिश्र-बन्धुओं के 'मिश्रबन्धु विनोद' से परिव्राजक जी की साहित्य-साधना के सम्बन्ध में जो थोड़ी-बहुत जानकारी मुझे प्राप्त हुई, उसने मुझे परिव्राजक जी के साहित्य का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। तभी से मैं उनके साहित्य-खोज में लगा रहा। जहां-जहां उनकी रचनाएं प्राप्त होती रहीं, वहां से उन्हें प्राप्त करके उनका संग्रह करता रहा।

गुरुकुल कांगड़ी के प्रशांत वातावरण में मेरा बाल्यकाल बीता है। उससे कुछ दूर ज्वालापुर मार्ग पर परिव्राजक जी का आश्रम था। जहां उनके दर्शन यदा-कदा होते रहते थे। छोटे-मोटे विषयों पर कभी-कभी वार्तालाप भी होता रहता था। एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने पर एक शोधार्थी के रूप में कार्य करने की इच्छा मेरी आरम्भ से

ही थी। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में हिन्दी विषय लेकर अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ।

सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी के कुलाधिपति श्री वीरेन्द्र तथा आचार्य श्री पृथ्वीसिंह जी आज़ाद के चरणों में हिन्दी-सेवा और उनके जीवन-दर्शन का परिचय प्राप्त हुआ। सत्यदेव जी पर अनुसन्धान कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा का मूल रहस्य भी यही है।

परिव्राजक जी ने अपने समय की समस्त साहित्यिक विधाओं पर लेखनी चलाकर अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया। संस्कृत के विद्वान् होने के साथ ही साथ उनका पश्चिमी साहित्य से भी कम परिचय नहीं था। वाशिंगटन विश्वविद्यालय में दीर्घ काल तक अध्ययन करते रहने से उन्होंने पश्चिम से बहुत कुछ प्राप्त किया था। इस प्रकार पूर्व-पश्चिम दोनों का समन्वय उनमें मिलता है। वे हिन्दी की उन विभूतियों में हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी-प्रेमियों को पश्चिमी साहित्य की उन नई-नई विधाओं से परिचित कराया था, जिनके बीज आज अंकुरित होकर विविध वृक्षों के रूप में हिन्दी-साहित्य के उद्यान को अलंकृत कर रहे हैं। पश्चिम के उन्मुक्त वातावरण में परिव्राजक जी के जीवन का मध्याह्न काल व्यतीत हुआ था। वहीं से उन्हें स्वतन्त्र-चिन्तन का वरदान मिला था। प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा लाहौर के डी० ए० वी० कालेज में सम्पन्न हुई थी। यहीं से उन्हें आर्यसमाज के क्रान्तिकारी विचार प्राप्त हुए थे। सर्वश्री लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज, अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जैसे क्रान्तिकारी विचारकों के सम्पर्क में रहकर उन्हें आर्यसमाज के संस्कार विरासत रूप में मिले थे। 'मैं विवाह नहीं करूंगा' अपनी इस प्रतिज्ञा पर वह दृढ़ रहे। परन्तु आगे चलकर यह एकाकी-जीवन उनके लिए अभिशाप बन गया था, जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी आत्मकथा में अनेक स्थलों पर किया है। परन्तु यह एकाकी-जीवन, जिसे हम अभिशाप समझते हैं साहित्य-साधना के लिए वरदान सिद्ध हुआ। जीवन-भर की सारी कमाई वह अपने पीछे आंसू बहाने वाली किसी विधवा को नहीं दे गए। जो भी उनके पास था, आज वह काशी नागरी प्रचारिणी सभा की सम्पत्ति है। इससे बढ़कर त्याग और कोई साहित्यिक क्या कर सकेगा ?

किसी भी विषय को लेकर किया जाने वाला अध्ययन अपने में पूर्ण नहीं होता। आंशिक रूप से उसमें कुछ न कुछ कमियां रह ही जाती हैं। यदि ऐसा न हो तो खोज तथा अनुसन्धान का कार्य वहीं सिमटकर रह जाए। कोई भी शोध-कार्य किसी भी दिशा में एक प्रयत्न कहा जा सकता है जो अगले शोधार्थियों का मार्ग प्रशस्त करता है। मेरा यह शोध-कार्य ऐसा ही विनम्र प्रयत्न है।

द्वितीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग के अवसर पर पं० बालकृष्ण भट्ट पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी तथा बाबू रामदास गौड़—पंडित सत्यदेव परिव्राजक जी के भाषण और उनकी अमरीकी-शैली पर मुग्ध हो गए थे, तब से हिन्दी के विद्वानों ने उनके असाधारण व्यक्तित्व से प्रभावित

होकर उन्हें 'हिन्दी का समर्थ सेवक' और 'विचारक' स्वीकार कर लिया था।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में स्वामी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। लेखन-कला, यात्रा साहित्य, निबन्ध-साहित्य, जीवनीपरक साहित्य, कहानी, काव्य तथा राष्ट्रभाषा सम्बन्धी प्रचार कार्य पर काव्य और शिल्प की दृष्टि से विचार किया गया है। सम-सामयिक राष्ट्रीय विचारकों और साहित्यकारों की वैचारिक उपलब्धियों के सन्दर्भ में स्वामी जी के कर्तृत्व का मूल्यांकन कर उसका महत्त्व अंकित किया गया है। स्वामी जी की तत्कालीन राजनीतिक गति-विधियों पर टिप्पणियों का उल्लेख उनके व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण के लिए किया गया है। उनका कोई साहित्यिक महत्त्व नहीं है। स्वामी जी मूलतः प्रचारक थे, अतः उन्होंने काव्य आदि के माध्यम से राष्ट्रीय उन्नति, स्वाधीनता, सामाजिक अभ्युदय तथा आत्मगौरव की भावना को जागृत कराया। द्विवेदी-युग के साहित्यिक वैतालिक के रूप में उनकी सेवाओं का मूल्यांकन हिन्दी ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं के लिए गौरव की बात है। स्वामी जी के साहित्यिक रूप का उद्‌घाटन शोध के व्यापक धरातल पर सर्वप्रथम इसी शोध-प्रबन्ध में हो रहा है। लेखन-कला, यात्रा और गल्प जैसी विधाओं के वह हिन्दी में प्रस्तोता लेखक हैं। श्री राहुल, श्री रामचन्द्र वर्मा, श्री किशोरीदास जी वाजपेयी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे लेखकों को उक्त दिशाओं में परिव्राजक जी ने प्रेरणा दी थी। प्रस्तुत प्रबन्ध में इस तथ्य को सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध की रचना हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् गुरुवर्य डॉ० विष्णुदत्त राकेश के निर्देशन में हुई है। इसमें जो अच्छाइयां हैं वे गुरुवर्य की कृपा का प्रसाद है और जो त्रुटियां हैं, वे मेरी हैं। मैं गुरुवर्य के प्रति सादर कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं। हिन्दी के प्रकांड विद्वान् (स्वर्गीय) आचार्य पण्डित विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र, श्रद्धेय डॉ० विजयेन्द्र जी स्नातक तथा पद्‌मभूषण पंडित बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने अनेक अमूल्य सुझाव देकर मेरा मार्ग-प्रशस्त किया है, मैं इनके प्रति श्रद्धा सहित आभार व्यक्त करता हूं। परिव्राजक जी के अनन्य स्नेहभाजन पण्डित कृष्णकुमार जी कौशिक तथा डॉ० हरिप्रकाश जी—अध्यक्ष, गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी के अमित साहाय्य से मेरा यह कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हुआ है, इन्हें धन्यवाद देकर इनकी असीम अनुकम्पा से मैं उऋण नहीं हो सकता। परिव्राजक जी के पूज्य चाचा स्वामी व्रतानन्द जी, नागरी प्रचारिणी सभा के प्रधानमन्त्री पंडित सुधाकर पाण्डेय तथा प्रेम पुस्तकालय नगीना के प्रबन्धक महोदय ने स्वामी जी के ग्रन्थों को प्रदान कर मुझ पर महती कृपा की है। विशाल-भारत की टिप्पणियां भेजकर तथा स्वामी जी सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य बातें बताकर पूज्य पंडित बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने यदि मेरी सहायता न की होती तो शायद यह कार्य इस रूप में सम्पन्न न हो पाता।

गुरुकुल विश्वविद्यालय के कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा आई० ए० एस, वित्ताधिकारी श्री ब्रजमोहन थापर तथा कुलसचिव डॉ० जबरसिंह सेंगर ने प्रकाशनार्थ

अनुदान राशि देकर इस कृति को प्रकाशन के द्वार तक पहुंचाया है, एतदर्थ इन महानुभावों का मैं हृदय से आभार स्वीकार करता हूं।

अन्त में मैं उन सभी लेखकों और विद्वानों को धन्यवाद देता हूं जिन्होंने पत्रों, ग्रन्थों और सुझावों से मेरी परोक्ष-अपरोक्ष सहायता की है। इसके साथ ही मैं अपने पूज्य पिता एवं माता का भी ऋण नहीं चुका सकता जिन्होंने मुझे इस शोध-प्रबन्ध में समय-समय पर आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी मेरा मनोबल एवं साहस इस शोध-यात्रा को पूरा करने में बनाए रखा। श्री इन्द्रदेव तथा कृष्णकुमार के प्रति भी आभार प्रकट करता हूं। इन शब्दों के साथ प्रस्तुत कृति विद्वान् समीक्षकों के हाथों में सादर समर्पित करता हूं।

विनीत
—दीनानाथ शर्मा

विषय-सूची

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक :
व्यक्तित्त्व एवं साहित्यिक कृतित्त्व

पहला अध्याय

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक : एक परिचय

जीवन-चरित

पंजाब के स्वस्थ वातावरण में पला हुआ सशक्त, सुगठित, स्फूर्तिवान शरीर, गौर-वर्ण, तेजस्वी-मुख-मण्डल, गुलाबी ओंठों पर अठखेलियां करती हुई मुस्कुराहट, क्लीनशेव, प्रशस्त-ललाट, आंखों पर चढ़ा हुआ सुनहरी कमानी का चश्मा, 5 फुट 6 इंच का लम्बा शरीर, जिसके सम्मुख पराजित होने के भय से बुढ़ापे ने कभी आने का साहस नहीं किया। ऐसा था यह व्यक्तित्व यायावरी प्रकृति के उस साहसी संन्यासी का है, जिसे हिन्दी संसार 'स्वामी सत्यदेव परिव्राजक' के नाम से जानता है।

यदि किसी अंग्रेज को भारतीय संन्यासी की कौपीन पहनाकर खड़ा कर दिया जाय तो शायद वह 'परिव्राजक' जी का ही प्रतिरूप जान पड़ेगा। योरोप में भ्रमण करने वाले इस घुमक्कड़ संत के जर्मनी और अमेरिका प्रवास के कोट-पतलून धारण किए हुए चित्रों को जिन्होंने देखा है, उन्हें हमारा उपर्युक्त कथन अतिरंजित नहीं जान पड़ेगा।

परिव्राजक जी का स्वस्थ शरीर उनके भव्य व्यक्तित्व का परिचायक है जिसे देखते ही प्रसाद की कामायनी की 'मनु' के सम्बन्ध में कही गई यह पंक्तियां अनायास ही स्मरण हो आती हैं—

'उसी तपस्वी-से लम्बे थे,
देवदारु दो चार खड़े।
× × ×
अवयव की दृढ़ मांस पेशियां,
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार।
स्फीत शिराएं, स्वस्थ रक्त का,
होता था जिनमें संचार।'[1]

हमें स्वामी सत्यदेव जी की जीवनवृत्त की सामग्री बटोरने के लिए कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा, उन्होंने पांच सौ साठ (560) पृष्ठों में स्वयं अपनी आत्म-कथा लिखी है, जिसका नाम है--'स्वतन्त्रता की खोज में।' परिव्राजक जी की यह रचना (मेरी आत्मकथा) उनके दिवंगत होने से कुछ वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हुई थी। अतः उसमें उनकी राम कहानी उन्हीं की कलम की ज़बानी सुनने को मिल जाती है।

---

1. कामायनी (चिन्ता सर्ग) : जयशंकर प्रसाद, पृ० 15

जन्म-तिथि तथा जन्म-स्थान

अपनी जन्म-तिथि तथा जन्म-स्थान के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी रचना 'मेरी आत्मकथा' में इस प्रकार लिखा है—

"सन् 1480 में लोदी वंश के पठान बादशाहों द्वारा यह 'लुधियाना' बसाया गया। इसी नगर में सन् 1879 में मेरा जन्म हुआ था। तद्नुसार विक्रमी संवत् 1936 होता है। मैंने अपनी जन्मपत्री की बहुत तलाश की ताकि ठीक महीना और तिथि मिल सके, परन्तु मुझे इसमें सफलता नहीं मिली। वैशाख के अन्त अथवा ज्येष्ठ के प्रारम्भ का मेरा जन्म है। इतना पता नगर के बड़े-बूढ़ों से मिल सका है। माता-पिता का देहान्त हो जाने से ठीक जन्म-तिथि मालूम करना कठिन है। इस शहर में एक प्रसिद्ध मुहल्ला 'नौघरा' है। इसे छोटा सा किला समझिए। इसके बाहर के द्वार कूचाबन्दी की भांति थे और अंदर बड़ा सिंहद्वार था। नौ बड़ी-बड़ी पक्की हवेलियां इसके अन्दर बनी हुई हैं, बीच में चौड़ा खुला चौक बच्चों के खेलने के लिए है इसी चौक के बीचों-बीच एक कुआं है।"[1]

परिव्राजक जी का जन्म जिस परिवार में हुआ था, उस पर उत्तर भारत की उस सन्त-परम्परा का प्रभाव था, जिसका दिव्य सन्देश श्री 'गुरुनानक देव' ने दिया था। उनके पितामह सिक्ख थे। उनके पिताजी ने सिक्ख-धर्म छोड़ दिया था। परिव्राजक जी के सन्तों जैसे जीवन को देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ता है कि वे इस प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हुए थे। इसका उल्लेख उन्होंने 'मेरी आत्मकथा में' इस प्रकार किया है—

"इन्हीं सिक्ख थापर खत्रियों में मेरा जन्म हुआ। मेरे परदादा 'अमरसिंह जी केशधारी' थे। उनके लड़के ने बाल कटवाकर शैवमत की दीक्षा ले ली। उनका नाम था—'लाला रूपचन्द'। इनके चार पुत्र और दो कन्यायें थीं। एक लड़के का देहान्त उस समय हुआ, जबकि मैं गर्भ में था। क्षत्रियों में रोने-पीटने की बड़ी भयंकर प्रथा प्रचलित है। स्त्रियों में मातम के समय जो नारी रोने-पीटने में विविध प्रकार के हृदय वेधक वाक्यों का प्रयोग कर सकती है, उसे मान की दृष्टि से देखा जाता है। उस समय हमारी बिरादरी में मेरी माता जी बड़ी बुद्धिमती और व्यवहार-कुशल मानी जाती थीं। जब घर में इस प्रकार का मातम हुआ तो गर्भवती होने पर भी उन्हीं को रोने-पीटने का सारा भार अपने सिर लेना पड़ा। निरन्तर कई दिन इस प्रकार शोक-विह्वल और आंसू बहाने का परिणाम यह हुआ कि गर्भ में ही मेरी आंखें कमज़ोर हो गईं, जिनके कारण भविष्य में मेरे जीवन-विकास में भीषण-बाधा उपस्थित हुई। माताएं अपने अज्ञान के कारण ऐसी-ऐसी बातें कर बैठती हैं, जिनकी वजह से उनकी सन्तान को भारी दुःख उठाने पड़ते हैं।"[2]

माता-पिता

स्वामी जी स्वभाव से निर्भीक तथा कष्ट-सहिष्णु थे। यह जन्म-जात गुण उन्हें

---

1. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 7-8
2. वही, पृ० 9-10

अपने पूज्य पिता जी की पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुए थे। इसके विषय में वे कहते हैं—

"मेरे पिता जी का नाम था मास्टर कुन्दनलाल और पूज्य माता का नाम नारायण देवी था। मेरी माता लुधियाने की तहसील जगरांव के 'विर्कवरसाल' नाम ग्राम की रहने वाली थीं। वह बड़ी शान्त-स्वभाव, मधुरभाषिणी और सरल हृदय थीं, कद छः फिट लम्बा और शरीर बड़ा मजबूत था। मेरे पिता बचपन में कुश्ती लड़ा करते थे, इसीलिए शरीर उनका भी बड़ा पोढा था, पर वे स्वभाव के बड़े तीखे और क्रोधी थे। दिल के तो साफ थे, किन्तु जब गुस्से में आते तो फिर आगा-पीछा नहीं देखते थे। इसी क्रोध के कारण अपने अफसरों से इनकी अनबन रही और इन्हें कई बार नौकरी छोड़नी पड़ी। माता के गुण मेरे बड़े भाई लाला केदारनाथ और भगिनी शिव देवी ने पाए। पिता का स्वभाव मेरे हिस्से में आया। मेरी माता स्वतन्त्रता प्रिय थीं, उनका यह गुण मेरे हिस्से में आया।"[1]

प्रारम्भिक शिक्षा और आर्य समाज का प्रभाव

उन दिनों उत्तर भारत आर्य समाज का सबसे बड़ा प्रचार-केन्द्र था और उसमें पंजाब सबसे आगे था। स्वामी जी के भक्तों ने पंजाब भर में डी० ए० वी० कालेजों के जाल बिछा दिए थे। दीपालपुर के किसी विद्यालय से मिडिल तक शिक्षा प्राप्त कर लेने पर परिव्राजक जी लाहौर के डी० ए० वी० कालेज में भर्ती हो गए। उस समय तक इनके हृदय पर आर्य समाज और उसके प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के सिद्धान्तों तथा विचारों की अमिट छाप लग चुकी थी। इसका उल्लेख उनकी 'मेरी आत्मकथा' में इस प्रकार मिलता है—

"इन्हीं दिनों मैंने स्वामी दयानन्द जी का अपना लिखा हुआ जीवन-चरित्र पढ़ा। उसने मेरे हृदय को पकड़ लिया। संस्कृत पढ़ने और स्वामी जी के पद-चिह्नों पर चलने की भावना मेरे अन्तःकरण के किसी कोने में जम गई।"[2]

गृह-त्याग

"दीपालपुर से मैं फिर लाहौर आ गया और डी० ए० वी० हाई स्कूल में भर्ती हुआ। यहां बड़े भाई साहब के पास मैं रहता था। इन्हीं दिनों मुझे इस बात की सूचना मिली कि एक महीने बाद पिताजी दीपालपुर से लाहौर आवेंगे और मेरा विवाह करने के लिए हम सब लोगों को लेकर लुधियाना जावेंगे। इस सूचना ने तो मानो मुझ पर वज्राघात किया। मैं अपने हृदय में विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर चुका था और घण्टों एकान्त में बैठकर स्वामी दयानन्द जी के जीवन-चरित्र पर विचार किया

---

1. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 10
2. वही, पृ० 32

करता था। उसी ने मुझे यह सिखला दिया था कि विवाहित अवस्था में देश-सेवा नहीं हो सकती। किसी आदर्श को सिद्ध करने के लिए अविवाहित रहना अत्यावश्यक है। विवाह के प्रति विरोध की आग मेरे हृदय में भड़क उठी। भाई साहब तो मेरा विचार सुनकर बड़े प्रसन्न हुए, परन्तु वे खुले तौर पर किसी प्रकार की सलाह न देते थे, जिससे पिता जी के साथ उनका कलह न हो। मैंने अपने ससुराल वालों के यहां चिट्ठियां भेजकर अपना विचार प्रकट कर दिया और लिख दिया कि यदि वे अपनी लड़की का विवाह मेरे साथ करेंगे तो उन्हें सदा के लिए कष्ट उठाना पड़ेगा, क्योंकि मैं शीघ्र ही संन्यासी होने वाला हूं। मेरी चिट्ठियों ने हमारी बिरादरी में बड़ी हलचल पैदा कर दी। पिता जी ने जब यह सुना कि लड़का शादी से इन्कार करता है तो आगबबूला हो गए और फौरन छुट्टी लेकर लाहौर पहुंचे। माता जी भी उनके साथ थीं। पिता जी ने मुझे पास बुलाया और डांटकर कहा—'तुम्हें यह बातें किसने सिखाई हैं और तुम कौन होते हो हमारे प्रबन्ध में दखल देने वाले? आज तक हमारी बिरादरी के किसी लड़के ने ऐसा नहीं किया। मैं तुम्हारे हाथ-पांव बांधकर तुम्हारा विवाह कर दूंगा।"[1]

स्वामी जी का चरित्र सर्वथा भारतीय संस्कृति के सांचे में ढला हुआ था। महर्षि दयानन्द तथा आर्य समाज के सिद्धान्तों की जो अमिट छाप उनके जीवन पर पड़ी थी। उनका घुमक्कड़ तथा यायावरी जीवन अपने दुर्भाग्य पर आंसू बहाने वाली अपनी किसी जीवन संगिनी के लिए अभिशाप नहीं बना था। महापण्डित राहुल को इस कारण क्या-क्या नहीं सहना पड़ा? स्वामी जी सत्यवादी थे, अमरीका-प्रवास के संस्मरणों की सत्याख्यान शैली के कारण उन्हें भारतीय पत्रकारों की नैतिकतावादी आलोचना का कोप-भाजन भी बनना पड़ा, पर बाहरी भय और प्रलोभन उन्हें सत्य के कठोर मार्ग से विचलित नहीं कर सके।

युवा संन्यासी

अब उनमें संस्कृत के अध्ययन की रुचि प्रबल हो उठी थी पर अब्राह्मणों को संस्कृत पढ़ानेवाला अध्यापक मिलना उस समय दुर्लभ था। इसका उल्लेख करते हुए परिव्राजक जी अपनी आत्मकथा में इस प्रकार लिखते हैं—

"किसी ने मुझे यह सुझाया कि स्वामी महानन्द जी दादूपंथी हैं। वे व्याकरण के बड़े पण्डित हैं और आर्यसमाज से उनका परम अनुराग है। उन्होंने देहरादून के प्रसिद्ध वकील बाबू ज्योतिस्वरूप जी को संस्कृत पढ़ाई है, उन्हें किसी प्रकार की जाति-पांति का पक्षपात नहीं है। बस, मैं उनकी खोज में निकल पड़ा।"[2]

परिव्राजक जी ने इन्हीं स्वामी जी से संन्यास की दीक्षा ली थी, जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी आत्मकथा में इस प्रकार किया है—

---

1. स्वतंत्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 32-33
2. वही, पृ० 68

"स्वामी जी के पास मैं कई महीने रहा और लघुसिद्धान्त-कौमुदी पढ़ी। यहीं पर माता-पिता का दिया हुआ नाम छोड़कर मेरा नाम सत्यदेव रखा गया और मैं एक प्रकार से संन्यासी हो गया। यद्यपि उस समय तक मैं संन्यास-धर्म के कठिन उत्तरदायित्व से पूर्णतया वाकिफ नहीं था, पर चूंकि मेरी विवाह करने की इच्छा नहीं थी, इसलिए मैंने यही उचित समझा कि संन्यासी हो जाने से विद्या पढ़ने में अधिक सुविधा रहेगी और जात-पांत का बखेड़ा भी मुझे नहीं सतायेगा।"[1] *

संस्कृत के अध्ययन में कठिनाइयां

सूर्य पूर्व से निकलता है और पश्चिम में अस्त होता है, पर जिस समय की चर्चा हम कर रहे हैं, वह युग था—जब पूर्व, ज्ञान का प्रकाश पाने के लिए पश्चिम की ओर देख रहा था।

स्वामी दयानन्द जी के जीवन से प्रभावित होने के कारण स्वामी सत्यदेव जी में संस्कृत की इच्छा का प्रबल हो जाना स्वाभाविक था। वह बचपन में ही अपनी यह तुकबन्दी गाते फिरते थे—

> दुनिया में चारों वेदों का प्रचार करेंगे,
> जो कुछ कहा ऋषि ने उसे सिर पे धरेंगे।

---

1. स्वतंत्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 67

* स्वामी महानन्द जी स्वामी दयानन्द जी सरस्वती के समकालीन थे। देहरादून में उनका अपना एक मठ था। स्वामी जी जब हरिद्वार से देहरादून पधारे थे तब स्वामी महानन्द जी ने उन्हें 'शंकर वेदान्त' पर शास्त्रार्थ करने के लिए चुनौती दी थी। पूरे एक सप्ताह तक शास्त्रार्थ होता रहा, जिसमें पंचपुरी के विद्वान् भी पधारे थे। अन्त में स्वामी महानन्द जी को अपनी पराजय स्वीकार करके वैदिक-धर्म की दीक्षा लेनी पड़ी थी। आज जहां देहरादून 'आर्य समाज' का विशाल भवन खड़ा है वहीं महानन्द जी का आश्रम था। स्वामीजी से पराजित हो जाने पर उन्होंने अपने उस मठ को संस्कृत विद्यालय का रूप दे दिया था। जहां वह व्याकरण आदि शास्त्रों को पढ़ाते थे। अपने इस विद्यालय में उन्होंने देहरादून की जनता में आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार किया था। बाबू ज्योतिस्वरूप स्वामी महानन्द जी के परमभक्त और शिष्य थे, जो देहरादून में वकालत करते थे तथा जाति के भटनागर कायस्थ थे। अरबी, उर्दू, फारसी भाषाओं के ज्ञाता थे। उन्हें महानन्द जी ने अष्टाध्यायी व्याकरण पढ़ाया था। देहरादून में महादेवी कन्या पाठशाला कालेज की स्थापना उन्होंने अपनी पत्नी के नाम से की थी। यह उत्तर भारत की सबसे पहली संस्था है, जिसने स्त्री-शिक्षा के लिए पहला कदम उठाया था। इन्होंने ही परिव्राजक जी का परिचय स्वामी महानन्द जी से करवाया था।

अफ्रीका, स्याम, ब्रह्मा आदि जंगली जो देश,
कल्याणी वाणी वेद की वे दिल से पढ़ेंगे ।।'[1]

यह वह समय था जब संस्कृत के पठन-पाठन पर केवल जन्मजात ब्राह्मणों का ही आधिपत्य था। दूसरी जाति के हिन्दू भी इस प्रकार की अनधिकार चेष्टा नहीं करते थे।

यद्यपि उस समय भी योरोप में 'मैक्समूलर, मैकडानल्ड' जैसे ईसाई आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज जैसे विश्वविद्यालयों में संस्कृत के अध्यापन का भार संभाले हुए थे। संस्कृत पढ़ने का दृढ़ संकल्प लेकर भगवान् विश्वनाथ की नगरी 'काशी' में प्रवेश करने वाला यह था एक पंजाबी खत्री बालक और फिर उस पर आर्यसमाजी। इसकी कल्पना तक करना कठिन है कि उसे कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। अपनी इन कठिनाइयों को हमारे सम्मुख रखते हुए वह कहते हैं—

"बड़ी कठिनाई से जींद के अन्नक्षेत्र में मुझ विद्यार्थी के भोजन का प्रवन्ध हुआ लेकिन वहां निरादर से भोजन मिलता था—सनातनधर्मी विद्यार्थी, आर्यसमाजी विद्यार्थियों के साथ अस्पृश्यों जैसा व्यवहार करते थे और उन्हें अपनी पंक्ति में नहीं बिठलाते थे। पहले कुछ दिन मेरी बड़ी कठिनाई से कटे। क्षेत्र का भोजन मुझे पसन्द नहीं था। उससे मेरे आत्मसम्मान को ठेस लगती थी। धीरे-धीरे यहां का वातावरण मेरे अनुकूल होने लगा। मित्र प्रेमियों की संख्या बढ़ने लगी और भोजन सम्बन्धी दिक्कतें भी दूर होने लगीं, अलबत्ता संस्कृत पढ़ने की समस्या को हल करने में बहुत-सी बाधाओं का सामना करना पड़ा। तिवारी जी की संस्कृत पाठशाला में सिद्धान्त कौमुदी का पाठ लेने जाया करता था और इस पाठशाला में सारा दिन केवल व्याकरण का ही चक्र चलता था—दस विद्यार्थी पाठ पढ़ने आते और पन्द्रह चले जाते। तिवारी जी उसी एक विषय को निरन्तर पढ़ाते हुए कभी थकते नहीं थे। व्याकरण के ग्रन्थों की घुण्डिया खोलने में वे बड़े व्युत्पन्न थे और फक्किकाओं के दांव-पेंच कुशल पहलवान की तरह वे सिखलाया करते थे। काशी की गलियों में सैकड़ों विद्यार्थी नंगे-पैर और नंगे-सिर शताब्दियों से इसी प्रकार अपनी प्राचीन भाषा का अध्ययन करते आये हैं और उन्होंने उसमें कुछ परिवर्तन नहीं किया।"[2]

काशी-प्रवास में उनके चार वर्ष

इस काशी-प्रवास में सिद्धान्तकौमुदी के घोटे लगाने वाले सत्यदेव जी वहां के सार्वजनिक जीवन में भी आने लगे। यहीं रहते हुए रायबहादुर श्री श्यामसुन्दर दास जी से भी उनका परिचय हुआ। उस समय काशी नागरी प्रचारिणी सभा, जो उनका लगाया हुआ पौधा था, अभी धीरे-धीरे पनप रहा था। स्वामी जी ने सभा के इस प्रारम्भिक जीवन को भी देखा जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी आत्मकथा में इस प्रकार किया है—

---

1. स्वतंत्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 64
2. वही, पृ० 102

"काशी नागरी प्रचारिणी सभा यहां की लोकप्रिय संस्था थी। उन दिनों इसका अपना भवन नहीं था। स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दर दास इसके सर्वेसर्वा थे और उन्होंने कम्पनी-बाग के पास भूमि का एक टुकड़ा लेकर भवन बनाने की योजना प्रारम्भ कर दी थी। इनसे भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया और मैंने इन्हीं के आग्रह से प्रयाग की 'सरस्वती' मासिक पत्रिका में 'राजर्षि भीष्म पितामह' शीर्षक लेख लिखे—मैंने इन लेखों के नीचे एक विद्यार्थी ही लिखा था, अपना पूरा नाम नहीं दिया था। किन्तु बाद में जब सरस्वती का सम्पादन-भार आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने ले लिया तो सरस्वती में मेरे नाम के लेख छपने लगे और हिन्दी-जगत् धीरे-धीरे मुझे जानने लगा। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के इस समय के कार्यकर्ताओं में बाबू श्यामसुन्दर दास जी, बाबू बेनीप्रसाद जी, ठाकुर शिवकुमार सिंह जी और बाबू माधवप्रसाद जी ये चारों नाम मुझे खूब स्मरण हैं।"[1]

सभा के साथ स्वामी जी का आजीवन सम्बन्ध रहा। वह उनकी परमप्रिय संस्था थी। इसीलिए उन्होंने अपनी समस्त सम्पत्ति तथा अपना विशाल पुस्तकालय सभा को अर्पण कर दिया था।

काशी प्रवास में ही स्वामी सत्यदेव जी का परिचय स्वामी रामतीर्थ जी से हुआ। उन्हीं से प्रभावित होकर उनमें अमरीका भ्रमण की इच्छा प्रबल हो उठी। इसका उल्लेख स्वामी जी ने इस प्रकार किया है—

"इन्हीं दिनों प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी रामतीर्थ जी अमरीका से लौटकर भारतवर्ष आ गए। वे उर्दू में पत्र-व्यवहार किया करते थे। मैंने उनसे अमरीका सम्बन्धी बहुत-सी बातें पूछीं, जिनका उन्होंने संतोषजनक उत्तर दिया। सेन्ट्रल हिन्दू कालेज छोड़ने के बाद मुझे अमरीका जाने की धुन लगी और मैं अमरीका सम्बन्धी सामग्री जुटाने लगा। शिकागो में जो धर्म सम्मेलन हुआ था, महाबोधि सोसाइटी की ओर से श्रीमान् अनागरिक धर्मपाल जी बौद्धभिक्षु वहां भेजे गये थे। काशी के निकट स्थित सारनाथ नामक बौद्ध तीर्थ है, वहीं उन्होंने आश्रय लिया। मैं उनके पास सलाह लेने गया तो उस दयालु व्यक्ति ने शिकागो विश्वविद्यालय के जन्मदाता, प्रेसीडेन्ट हार्पर के नाम मुझे परिचय-दायक पत्र दिया, जो आगे चलकर बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ।"[2]

नई दुनिया की ओर

स्वामी जी अपनी धुन और लगन के पक्के थे। स्वामी रामतीर्थ के पत्र ने जो चिनगारी लगाई थी, वह उनका मशाल के रूप में मार्ग-दर्शन करने लगी। 'अमरीका-प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी' नामक पुस्तक में इसका उल्लेख स्वामी जी ने इन शब्दों में किया है—

---

1. स्वतंत्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 104-5
2. वही, पृ० 105

'ईसा की बीसवीं शताब्दी अपना अमर सन्देश लेकर इस पृथ्वी पर पदार्पण कर रही थी और मैं उसके सिंह-द्वार से उसका पावन-सन्देश सुनने के लिए लालायित हो रहा था। माता-पिता का घर तो मैंने छोड़ ही दिया था। सोचा यह था कि पहले ब्रह्मचारी मूलशंकर की तरह काशी में रहकर संस्कृत का अध्ययन किया जाए और बाद में किसी स्वतन्त्र देश की यात्रा की जाए। स्वामी विवेकानन्द अमरीका से लौटकर अपना दिव्य-सन्देश देशवासियों को सुना रहे थे। युवा संन्यासी स्वामी रामतीर्थ भी उसी धुन में घर से निकल पड़े थे। शिकागो में होने वाला 'सर्व-धर्म-सम्मेलन' अपनी उदारता का सन्देश दुनिया को दे चुका था। बौद्धभिक्षु अनागरिक धर्मपाल भी उसमें सम्मिलित हुए थे और वे भी भारतीयों का हित-चिन्तन कर छात्रों को अध्ययनार्थ अमरीका भेजना चाहते थे।'[1]

अमरीका के उन्मुक्त वायु-मण्डल में शिक्षार्थी के रूप में प्रवेश करने वाले स्वभाव से घुमक्कड़ और विद्रोही के जीवन-प्रवाह को एक नया मोड़ मिला। जीवन में छोटी-से-छोटी घटना का भी बहुत अधिक महत्त्व होता है। अमरीका का एक अखबार बेचने वाला छह वर्ष का बालक स्वामी जी के जीवन में किस प्रकार एक नया मोड़ लाया, इसका उल्लेख उन्होंने अपनी 'अमेरिका के स्वावलम्बी विद्यार्थी' नामक पुस्तिका में इस प्रकार किया है—

"एक बार सियेटल में मैं डाकखाने से डाक लेने गया। लौटकर रास्ते में एक छः वर्ष के बालक को अखबार बेचते हुए देखा।

'मिस्टर, क्या आप अखबार खरीदेंगे ?'

'नहीं, मुझे अखबार नहीं चाहिए।' मैंने धीरे से उत्तर दिया।

'केवल एक आना, ज्यादा नहीं।' बालक ने मीठी आवाज़ से कहा।

'नहीं, मुझे अखबार की जरूरत नहीं है।'

'कृपा करके अवश्य खरीदिए, एक आना बड़ी रकम नहीं है ?'

इस बालक के आग्रह करने पर मैंने जेब से आना निकालकर उससे अखबार खरीद लिया और पूछा—

'क्या तुम्हारे माता-पिता गरीब हैं ? लड़का बड़ा विस्मित हुआ। वह मेरी तरफ देखकर बोला—

'आपने ऐसा क्यों पूछा ?'

मैं—'क्योंकि तुम अखबार बेच रहे हो।'

बालक—'क्या अखबार बेचने वाले गरीब होते हैं ?'

मैं—(खिसिया कर) !....'नहीं, मेरा मतलब यह है कि तुम्हारी इतनी छोटी उम्र और अभी से तुम अखबार बेचने लग गए हो।'

बड़ी हैरानी से उस लड़के ने मेरी ओर देखा फिर बड़े जोश से बोला—

---

1. अमरीका-प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 1

'देखिये मिस्टर ! मेरे माता-पिता गरीब नहीं हैं, लेकिन मैं अपने बाप के सहारे नहीं रहना चाहता। यह जो कपड़े मैं पहने हुए हूं, ये मेरी अपनी मेहनत से खरीदे हुए हैं और जो खर्च मुझे चाहिए, वह मैं अपने उद्योग से कमाता हूं। मेरे पचास डालर बैंक में जमा हैं।"[1]

स्वामी जी की जीवन-गाथा का निर्माण पूर्व-पश्चिम के ताने बाने से हुआ था। वे वहां से स्वावलम्बन का पाठ पढ़कर आए थे। मसिजीवी इस तपस्वी ने अपना लक्ष्य इन शब्दों में प्रकट किया था—

"अमरीका से लौट कर जुलाई, सन् 1911 में हिन्दी-साहित्य-सेवा का कार्य प्रारम्भ किया था। स्वामी श्रद्धानन्द जी जैसे बड़े-बड़े नेता भी मेरी मसखरी उड़ाते थे कि 'सत्यदेव भूखा मर जाएगा, इसकी हिन्दी की पुस्तकें कौन खरीदेगा ?"[2]

अपने कटु आलोचकों के मध्य स्वामी जी निर्भीकता और निष्काम-भाव के साथ हिन्दी साहित्य की सेवा करते रहे। वह तो अपनी कृतियों के माध्यम से आधुनिक बोध देना चाहते थे और वह अपने लक्ष्य में सफल भी हुए। आधुनिक भारत के वैचारिक निर्माण में उनका भी योगदान है।

परिव्राजक जी का आहार-विहार तथा स्वास्थ्य

परिव्राजक जी कितना भोजन करते थे, उनका दैनिक आहार-विहार क्या था, इसके सम्बन्ध में अपनी राम कहानी को समाप्त करते हुए वह लिखते हैं—

"इस समय मेरी शारीरिक अवस्था बहुत अच्छी है। सिर और पेट में कभी दर्द नहीं होता। खाना ठीक तरह से हज़म होता है। मैं चौबीस घण्टे में एक बार अन्न लेता हूं और पांच छटाक आटा खाता हूं—वह भी परांठे के रूप में। शाक-भाजी खूब खाता हूं और रात के समय आध सेर दूध केले के साथ अथवा बादाम और मुनक्के खा लेता हूं। दाल और चावल बिल्कुल नहीं खाता। लहसुन का उपयोग मैं बराबर करता हूं और मेरे लिए रामबाण का काम देता है।"[3]

यह परिव्राजक जी के खान-पान और भोजन का विवरण उस समय का है, जब वह अपने जीवन के बहत्तर वसन्त देख चुके थे। इस प्रकार यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उनका स्वास्थ्य कैसा था। उनकी खुराक और खान-पान को देखते हुए हम यही कहेंगे कि परिव्राजक जी को स्वस्थ शरीर अपने पूर्वजों से विरासत में मिला था।

परन्तु अपनी दृष्टि-हीनता के सम्बन्ध में अपनी मनोव्यथा को प्रकट करते हुए वह इसी प्रकरण में अपने लंगड़ेपन का भी उल्लेख करते हुए कहते हैं—

"आंखों से मैं बिल्कुल नहीं देखता। दृष्टि बचपन से ही कमज़ोर थी और मैं मोटे

---

1. अमरीका के निर्धन विद्यार्थी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 5-6
2. वही, प्रस्तावना, पृ० 1
3. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 560

शीशे की ऐनक लगाता था। ब्रिटिश सरकार की कृपा से मेरी आंखों की रही-सही ज्योति भी जाती रही और सन् 1929 के कोलोन (जर्मनी) में होने वाले मेले के अवसर पर जो दवाई अथवा पारा मुझे पिला दिया गया, उसके कारण मेरे दोनों घुटने अत्यन्त निर्बल हो गए थे और वह कमजोरी घुटनों में अभी तक विद्यमान है।"[1]

स्वतंत्रता सेनानी

सन् 1940 का वह वर्ष जब आकाश में विश्व-युद्ध के बादल मंडरा रहे थे। जर्मनी के 'हिटलर', इटली के 'मुसोलिनी' विश्व को विनाश के पथ पर धकेल रहे थे। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री 'चर्चिल' अंग्रेज जाति को इस विनाशकारी संकट से बचाने के लिए राजनीतिक दाव-पेंच लड़ा रहे थे। उस समय अंग्रेजी राज्य में सूर्यास्त नहीं होता था। यह विश्व-युद्ध साम्राज्यवादी ब्रिटेन को एक महान् चुनौती थी। जो हिटलर और मुसोलिनी जैसे सर्व-सत्ता सम्पन्न अधिनायकों की ओर से उन्हें दी जा चुकी थी। अंग्रेज जाति यह अनुभव करने लगी थी कि हमारे इस विशाल साम्राज्य की नींव डगमगाने लगी है। भारत भी अंग्रेजों के विशाल साम्राज्य का एक अंग था।

यही समय है जब हम अंग्रेजों को भारत से निकालकर भारत-माता के बन्धनों को काट सकते हैं। भारतीय नेता उस समय यह अनुभव करने लगे थे। 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' के नारे लगाते हुए सारा देश विश्व-वन्द्य-बापू के नेतृत्व में निरन्तर आगे बढ़ता चला गया। ब्रिटिश साम्राज्य सत्ता का दमन-चक्र द्रुतगति से चल रहा था। समय की पुकार ने देश के बालक, युवा और बूढ़ों को स्वतन्त्रता-संग्राम में जूझने के लिए विवश कर दिया। उस समय कम्युनिस्टों ने इस विश्व-युद्ध को 'जनयुद्ध' का नाम देकर स्वतंत्रता संग्राम का खुलकर विरोध किया था। यही कम्युनिस्ट कभी-कभी परिव्राजक जी पर छींटाकशी करते हुए कह दिया करते थे—

'स्वामी जी, आप जेल तो जाते नहीं, खाली व्याख्यान देते हैं।'[2] पर परिव्राजक जी तो पहले ही स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने का निश्चय कर चुके थे। जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी आत्मकथा में इस प्रकार किया है—

"इन अज्ञानियों को क्या पता था कि मैंने ही पहले-पहल इस देश में 144 धारा को तोड़ा था और चार बार इसका उल्लंघन किया था। मैं उत्तर में हंसकर उनसे कहता—अच्छा, अब की बार मैं तुमको जेल जाकर दिखाऊंगा।"[3]

"जब महात्मा गांधी जी का सत्याग्रह बिगुल बजा तो मैंने उन्हें अपने संकल्प की सूचना दे दी। उत्तर में उन्होंने मुझे सत्याग्रह करने से मना किया और लिखा कि वे मुझसे दूसरा काम लेना चाहते हैं। मैंने उनकी बात नहीं मानी और सहारनपुर के मजिस्ट्रेट को पत्र द्वारा यह सूचना दे दी कि मैं पहली दिसम्बर सन् 1940 को हरिद्वार

---

1. स्वतंत्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 560
2. वही, पृ० 410
3. वही, पृ० 411

की हरकी पौड़ी पर सत्याग्रह करूंगा। महात्मा गांधी न जाने क्यों मेरे सत्याग्रह करने के बहुत बरखिलाफ थे और उन्होंने उस सूबे की कांग्रेस के मंत्री को लिख भेजा कि स्वामी सत्यदेव को सत्याग्रह करने न दिया जाए। पर मुझे तो ब्रह्मा भी नहीं रोक सकता था—एक बार जो निश्चय कर लिया सो कर लिया।"

उस समय देशभक्ति को अपराध समझा जाता था। परिव्राजक जी को इस अपराध में एक वर्ष की सादी सजा मिली। वह एक महीना सहारनपुर की जेल में रहे, जिसके विषय में वह लिखते हैं—

"जब मैं जेल की अपनी कोठरी में पहुंचा तो मेरे कई एक प्रेमी वहां मौजूद थे, जो मुझे देखकर नाचने लगे। एक महीना तक मैं सहारनपुर जेल में रहा। ठा० फूलसिंह जी और भाई अजीतप्रसाद जैन मेरे साथ वहीं पर थे। नित्य प्रति व्यायाम करना और शाक तरकारी परांवठे बनाकर खाना तथा अखबार सुनना यह हमारा प्रोग्राम था। सहारनपुर के वकील बा० कृष्णलाल जी एक दिन मेरे लिए टोकरी भर संतरे लाए, उस रोज़ खब आनन्द रहा।"[1]

समकालीन नेता—समाजसेवी, विद्वान् एवं साहित्यकार

एक छोटे से भू-खण्ड में निवास करने वाले साधारण व्यक्तियों का परिचय भी जीवन-यात्रा के साथ-साथ बढ़ता चला जाता है। ऐसा व्यक्ति जिसने दुनिया घूम-घूमकर देखी हो उसका परिचय कितने लोगों से हुआ, कितने समाजसेवी, कितने साहित्यकार, कितने क्रान्तिकारी नेता, कितने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वानों, विचारकों, दार्शनिकों, वक्ताओं से हुआ होगा, यदि यह प्रश्न ऐसे व्यक्ति से किया जाए तो वह भी इस नामावली को गिनवाते समय कुछ क्षणों तक अवश्य सोचेगा, फिर भी यह सन्देह अवश्य रह जाएगा कि कितने नाम छूट गए। परिव्राजक जी का जिन विश्व की विभूतियों के साथ किसी न किसी रूप में कोई सम्बन्ध रहा है, उनमें उल्लेखनीय नाम हैं—पंजाब केसरी लाला लाजपतराय, संत निहालसिंह, एम० एन० राय, पं० मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहरलाल नेहरू, डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद, महात्मा गांधी, राजगोपालाचार्य अय्यर, श्रीधर पाठक, महामहोपाध्याय साहित्याचार्य पाण्डेय रामावतार शर्मा, पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पं० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० कृष्णदत्त पालीवाल, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, श्री वियोगी हरि, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी, प्रोफेसर कृपलानी, पं० पद्मसिंह शर्मा, जयचन्द्र विद्यालंकार, इन्द्र विद्यावाचस्पति तथा संतराम बी० ए०।

पंजाब केसरी लाला लाजपतराय के सम्बन्ध में उनका कहना था—"स्वर्गीय लाला लाजपतराय जी का स्थान मेरे हृदय में सदा ऊंचा रहेगा। वे इसी समय से बलिदान के भावों से प्रेरित होकर देश-सेवा में लग गए थे। वकालत से कमाये हुए धन

---

1. स्वतंत्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 412

को वे बड़ी उदारता से जन-साधारण की शिक्षा के लिए अर्पण करते और अपने व्याख्यानों द्वारा नवयुवकों के हृदयों में राष्ट्रीय चैतन्य लाते थे। उनकी लिखी हुई यों तो बहुत-सी किताबें हैं, किन्तु 'मैजीनी का जीवन चरित्र' उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। उसकी भूमिका तो ऐसी योग्यता से लिखी गई है कि लेखनी उसकी प्रशंसा करने में असमर्थ है। उस किताब ने मुझे अत्यन्त प्रभावित किया और मैंने स्वतन्त्रता की खोज करने का दृढ़ संकल्प कर लिया और यह भी व्रत लिया कि मैं गुलाम सन्तान उत्पन्न नहीं करूंगा।"[1]

अमरीका प्रवास में उनकी भेंट अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के पत्रकार संत निहालसिंह जी से भी हुई थी जो महापंडित राहुल सांकृत्यायन के समान अपनी भारतीय पत्नी का परित्याग करके एक अमरीकन गौरांगना रमणी से विवाह करना चाहते थे और अन्त में उन्होंने विवाह कर भी लिया था। उस विवाह से पूर्व स्वामी जी से जो वार्तालाप उनका हुआ, उस बारे में जो उत्तर उन्होंने दिया, उससे उनके यथार्थवादी होने का आभास मिल जाता है—

"शिकागो के किसी एक अंग्रेजी-पत्र के सम्पादन-विभाग में एक युवती काम करती थी, जिसका रुझान पत्र-कला की ओर था। संत जी का उससे परिचय हो गया। परिचय होते-होते घनिष्ठता बढ़ गई। निहालसिंह जी दूरदर्शी और चतुर व्यक्ति थे। उन्होंने सोच लिया कि जब तक किसी अपने ढंग की, समाचार-पत्रकला में निपुण रमणी को पक्का साथी न बनाया जाएगा, तब तक वे समाचार-पत्र संसार में न चमक सकेंगे। उन्होंने उस युवती से पाणि-ग्रहण का निश्चय कर लिया। एक दिन बातचीत में जब उन्होंने मुझसे अपने हृदय की बात कही तो स्वाभाविक ही मुझे उसका विरोध करना था। मेरा विरोध सुनकर वे बोले—

"देखिए सत्यदेव जी, पहला विवाह मेरे माता-पिता ने मेरी मर्जी के विरुद्ध किया था। मैं उस समय विवाह-सम्बन्धी बातों को जानता भी नहीं था। इस प्रकार उसकी कोई भी जिम्मेदारी मेरे सिर पर नहीं है।'

'मैं क्या कहता! बात सच्ची थी। लेकिन तिस पर भी मैंने उनसे अनुरोध कर कहा—'बेशक, मित्र, तुम्हारा यह कहना ठीक है लेकिन फिर भी आपके पिता की भूल का दण्ड उस बेचारी गरीब हिन्दू-पत्नी को भोगना पड़ेगा, इसे सोच लीजिए।"[2]

प्रसिद्ध क्रान्तिकारी, महान् विचारक और विद्वान् श्री एम० एन० राय भी परिव्राजक जी के निकटतम परिचितों में से थे। उनसे उनकी भेंट जर्मनी में हुई थी, जिसका उल्लेख उन्होंने 'मेरी जर्मन यात्रा' में किया है—

"बोल्शेविक दल के भारतीय नेता मि० एम०एन० राय मुझसे खासतौर से मिलने के लिए आए। वे मुझे अपने दल में मिलाना चाहते थे। डेढ़-दो घण्टे तक हमारी आपस में खूब बातचीत हुई। वे मुझे अपने मत में न ला सके और मेरी तो कोई इच्छा उनका

---

1. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 45
2. अमरीका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 74-75

मत-परिवर्तन करने की न थी, क्योंकि वे भारत तो लौट सकते ही न थे, फिर उनका मत-परिवर्तन करके मैं करता भी क्या ? भारत की नौकरशाही को तो ईमानदार और स्वतन्त्र मत-परिवर्तन रखने वाला पुरुष विष-सा लगता है, उसे तो जी हजूर और झुक-झुककर सलाम करने वाले हिन्दुस्तानी चाहिए, फिर ऐसी दशा में मैं राय महाशय का मत-परिवर्तन करने की चेष्टा ही क्यों करता ? मैंने उनसे साफ कह दिया कि हिन्दुस्तान की वर्तमान राजनीतिक अवस्था में भूमिपतियों को किसानों से लड़ाना, मज़दूरों को मिल वालों से गुत्थमगुत्था कराना और महाजनों के साथ गरीब लोगों के झगड़े पैदा करना हानिकारक होगा। भारतवर्ष की जनता योरोप की जनता की तरह चैतन्य नहीं, उनके सामने इस समय केवल एक ही प्रश्न स्वराज्य का रहना चाहिए और देश की सभी श्रेणियों के लोगों की एकता कर उसी की प्राप्ति का यत्न करना उचित है। यदि हम कई प्रकार के बखेड़े खड़े कर भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोगों को आपस में लड़वा देंगे तो भारतवर्ष कभी स्वतन्त्र न हो सकेगा। मेरी बात राय महाशय की समझ में नहीं आई और आ भी कैसे सकती थी, क्योंकि अगर वे मेरी बात मान लेते तो उनका सम्बन्ध बोल्शेविक लोगों से छूट जाता, उनसे सम्बन्ध छूटने पर उनकी जिन्दगी योरोप में व्यर्थ हो जाती, भला फिर वे करते तो क्या करते ? भारत की अंग्रेजी सरकार ने हमारी जिन्दगियां ऐसी बना दी हैं कि हम इच्छा न रखते हुए भी बहुत सी बातें इसलिए करते हैं कि दूसरी इच्छानुकूल बातों के करने का हमें अवसर नहीं दिया जाता। स्वत्त्वाभिमानी पुरुष के लिए अंग्रेजी राज्य में सरकार का मित्र बनकर रहने की गुंजाइश नहीं। इस कारण भारतवर्ष में नौकरशाही के विरोधियों की पार्टी दिन-प्रतिदिन मजबूत होती जाती है।"[1]

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्णधार, स्वतन्त्रता संग्राम के भीष्म पितामह पं० मोतीलाल नेहरू से भी परिव्राजक जी की घनिष्ठता थी, इस घनिष्ठता का श्रीगणेश सन् 1924 में हुआ था और यह जीवनपर्यन्त बना रहा। परिव्राजक जी ने अपनी आत्मकथा में 'नेहरू परिवार के साथ सम्पर्क' शीर्षक अध्याय में इस प्रकार किया है—

"सन् 1924 में पंडित मोतीलाल जी नेहरू तथा देशबन्धु दास के साथ बेलगांव कांग्रेस जाते समय मैं उन्हीं के साथ था। वहां पर भी हमारा आपस में काफी सहयोग था, परन्तु असली निकटस्थ सम्बन्ध हम लोगों का सन् 1926 में हुआ, जब कांग्रेस का सारा भार अकेले पंडित जी पर आ पड़ा।"[2]

पं० जवाहरलाल नेहरू से भी परिव्राजक जी का घनिष्ठ सम्बन्ध था। वह उनके अन्तरंग मित्रों में से थे। पर उनके सम्बन्ध में उनकी अच्छी सम्मति नहीं थी। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"भारतवर्ष का यह नेता अजीब मस्तिष्क रखता है। इसमें भावुकता की अधिकता है और कमी है विवेक की। जब इन्हें देवी बसन्ती से साक्षात्कार हुआ तो वे उसी के वश

1. मेरी जर्मन यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 89-90
2. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 282

में हो गए। जब गांधी जी से भेंट हुई तो इन्होंने अहिंसात्मक आन्दोलन अपना लिया और जब लेनिन की मूर्ति के दर्शन हुए तो इनका झुकाव 'कम्युनिज्म' की तरफ हो गया। जवाहरलाल जी में sentimentalism अर्थात् भावुकता की प्रधानता है और वे इसीलिए आवेश में आकर अपना सन्तुलन खो देते हैं। जिस किसी बड़े आदमी के सम्पर्क में वे आते हैं, उसका प्रभाव इन पर पड़ने लगता है। अपनी स्वतन्त्र सोचने और मौलिक सम्मति बनाने की उनकी प्रवृत्ति नहीं।"[1]

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जी भी परिव्राजक जी के घनिष्ठ मित्रों में से थे। उनसे उनका पत्र-व्यवहार बरावर रहता था। आर्य समाज के संस्कारों में पले होने के कारण उनका बहुत-सी वातों में कांग्रेसी नेताओं से मतभेद था। जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी आत्म-कथा में विस्तारपूर्वक किया है। यही मतभेद उनकी आत्मकथा के प्रकाशित हो जाने पर जब कांग्रेसी नेताओं के सामने उभरकर आया तो उनके मित्र भी उनके विरोधी हो गए। तत्कालीन राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद के साथ उनकी मित्रता आगे निभ नहीं सकी इसका कारण उनकी कांग्रेस-विरोधी विचारधारा थी। इसका स्पष्टीकरण राष्ट्रपति के इस पत्र से हो जाता है—

राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली
17 मार्च, 1952

मैंने आपको 22 फरवरी को पत्र लिखा था, जो मैं आशा करता हूं आपको मिल गया होगा। उसके बाद मुझे 24 फरवरी के नेशनल हेरल्ड का एक कतरन मिला, जिसमें 'स्वतन्त्रता की खोज में' की लम्बी आलोचना छपी है। जैसा मैंने अपने पत्र में लिखा था, मैं आपकी पुस्तक के आरम्भ का ही थोड़ा अंश पढ़ पाया था और अभी भी बाकी अंश नहीं देख सका हूं। पर इस कतरन से मालूम होता है, कि आपने अपने ग्रन्थ में कुछ ऐसी बातें लिखी हैं, जिनके सम्बन्ध में न केवल मतभेद ही होगा बल्कि वाद-विवाद भी चल सकता है। आप अपने विचारों का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रचार कर सकते हैं और उसमें किसी को कोई उज्र नहीं हो सकता है, पर मैं जिस स्थान पर हूं वहां से किसी भी विवादग्रस्त विषय का मेरा समर्थन-विरोध उचित नहीं जान पड़ता। इसलिए अच्छा होता यदि मेरा सम्बन्ध पुस्तक के प्रकाशन के साथ किसी तरह नहीं दिखाया जाता। इस समालोचना में यह भी कहा गया है कि इस पुस्तक के सम्बन्ध में एक मौके की बात यह है कि विहार सरकार ने इसकी छपाई के लिए दो हज़ार रुपये दिए हैं और लेखक इस बात को पहले पृष्ठ पर ही घोषित करते हैं कि यह सहायता भारत के राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की प्रेरणा से दी गई है। मैं आपकी सेवाओं को जानता हूं, इनकी कद्र करता हूं और इसलिए अगर मेरे द्वारा आपकी कुछ सेवा हो सके तो मैं करना चाहता हूं, पर आपके सभी विचारों से और जो विचार इस पुस्तक में दिए गए हैं, विशेषकर महात्मा

---

2. स्वतंत्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 287

गांधी की हत्या के सम्बन्ध में तथा हमारे प्रधानमंत्री के सम्बन्ध में, उनसे मैं सहमत नहीं हूं।

भवदीय
राजेन्द्रप्रसाद

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलनेवाले परिव्राजक जी उनके तपस्वी जीवन के बड़े प्रशंसक थे। इसकी प्रशंसा उन्होंने इन शब्दों में इस प्रकार की है—

"महात्मा गांधी जी ने अहमदाबाद के पास साबरमती नदी के किनारे भूमि का एक बड़ा टुकड़ा लेकर अपना सत्याग्रह-आश्रम बनवाया था और उस पर सेठ-साहूकारों ने लाखों रुपये खर्च कर भवन बना दिए। वह एक सुरम्य स्थान बना और जंगल में मंगल हो गया। मैं वहां पर साबरमती नदी के किनारे बैठकर धूप सेंका करता था और उसके जल में स्नान किया करता था। लोग मामूली-सी कुटिया बना लेते हैं तो उसके साथ भी उनका मोह हो जाता है। उक्ति प्रसिद्ध है जो सुख छज्जू भगत के चौबारे, वह न बलख न बुखारे।' सब पशु-पक्षियों और मनुष्यों के अपने बने हुए घर मोहक होते हैं और वे उन्हें कभी छोड़ना नहीं चाहते। लेकिन इस साबरमती आश्रम को जहां गांधी जी ने वर्षों आनन्द से काटे थे, जब छोड़ने का समय आया तो उन्होंने कुछ देर नहीं लगाई और सब छोड़-छाड़ कर कहां चले गए? क्या किसी नैसर्गिक शोभा से परिपूर्ण हिमालय के शिखर पर? नहीं, नहीं, वे गए वर्धा के पास एक ग्राम में, जहां न कोई पेड़ न पत्ता, न फूल न लता, बिलकुल धूल-धूसरित गांव में, जहां मिट्टी उड़ती है और सख्त गर्मी पड़ती है। ऐसे रद्दी स्थान में वे क्यों गए? आर्य-संस्कृति का जो दूसरा बड़ा गुण है 'त्याग'।"[1]

मद्रास में हिन्दी प्रचार का प्रश्न जब नेताओं के सामने आया तब गांधी जी के आदेशानुसार परिव्राजक जी ही राष्ट्रभाषा के प्रचारक के रूप में महात्मा गांधी जी के पुत्र देवदास गांधी के साथ मद्रास पहुंचे थे, वहीं उनका परिचय श्री राजगोपालाचार्य जी से हुआ था—

"श्री देवदास गांधी की सहायतार्थ मैं यहां भेजा गया था।" यहीं श्री राजगोपालाचार्य की सुपुत्री का शुभ-विवाह जाति-पांति के बन्धनों को तोड़कर महात्मा गांधी के पुत्र से हुआ। उत्तर और दक्षिण की संस्कृतियों का यह सम्बन्ध समाज-सुधारकों की दृष्टि में कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। राजगोपालाचार्य जगत्गुरु शंकराचार्य के वंशज नम्बूदरी ब्राह्मण थे। उनकी पुत्री का वैवाहिक सम्बन्ध एक वैश्य के पुत्र से होना उस समय की दृष्टि से सचमुच एक क्रान्ति थी। परिव्राजक जी इस क्रान्तिकारी विवाह की चर्चा करते हुए श्री राजगोपालाचार्य के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए अपनी 'डायरी में से कुछ पन्ने' शीर्षक लेख में लिखते हैं—

'इस कुशाग्र-बुद्धि ब्राह्मण' का पूर्ण परिचय मुझे मिला और मैंने समझ लिया कि यह लम्बी चुटिया वाला ब्राह्मण देवता कांग्रेस का बड़ा भारी नेता होगा। महात्मा गांधी जी

1. स्वतंत्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 496

के 'सत्याग्रह आंदोलन' में इन्हें बड़ी दिलचस्पी थी और हम लोगों में बराबर सत्याग्रह सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय होता रहता था। कच्छी सेठ के उस मद्रासी गली के मकान में कैसे-कैसे वाद-विवाद हुए, वे ग्रीष्म-ऋतु की रातें क्या कभी भूल सकती हैं ?"[1]

विद्वान् एवं साहित्यकार

परिव्राजक जी के इन परिचितों में कवि-सम्राट 'पं० श्रीधर पाठक' का नाम उल्लेखनीय है। जिन दिनों परिव्राजक जी जान्स्टनगंज प्रयाग में रहते थे, उन दिनों पाठक जी उनसे मिलने के लिए यदा-कदा उनके कार्यालय में आया करते थे। इसकी चर्चा करते हुए परिव्राजक जी लिखते हैं—

"मोतीहारी के मेरे किसी प्रशंसक ने मुझे शेर की खाल दी थी, जिसे मैंने अपने कमरे में बिछा रखा था। एक बार दोपहर के समय जब पाठक जी आए तो उन्होंने उस खाल को देखकर उसकी बड़ी तारीफ की। मैंने झट उनसे कह दिया 'आपको पसन्द हो तो ले जाइए।' वे मेरे मुंह की ओर देखने लगे—उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि स्वामी जी सचमुच दे रहे हैं। जब मैंने हंसकर उन्हें विश्वास दिला दिया तो वे बड़े हर्षित हुए और खाल उठाकर लपेट ली। मेरा चित्त भी उन्हें ऐसी चीज़ भेंटकर बड़ा प्रसन्न हुआ।"[2]

महामहोपाध्याय साहित्याचार्य पाण्डेय रामावतार शर्मा उन दिनों काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष-पद को सुशोभित कर रहे थे, तब परिव्राजक जी भी वहां संस्कृत पढ़ा करते थे। उनकी वेश-भूषा और रहन-सहन की चर्चा करते हुए परिव्राजक जी लिखते हैं—

"जब मैं हिन्दू कालेज बनारस में पढ़ा करता था, तब वे वहां पर अध्यापक थे। वहीं से मेरी उनसे घनिष्ठता हुई। अमरीका से लौटकर मैं प्रायः उनसे मिलने के लिए पटना जाया करता था। वे धोती के ऊपर हैट लगाया करते थे और जब बाइसिकल पर बैठकर वे निकलते थे तो उनके विद्यार्थी और दर्शक खूब हंसा करते थे। अपने ढंग का यह निराला सरयूपारी ब्राह्मण था, जिसने पुराने रूढ़िवाद को तिलांजलि देकर नवीन-युग का आलिंगन किया था। छह दर्शनों की तरह उन्होंने भी सूत्रबद्ध सातवां दर्शन लिखा है। इस विद्वान् की जितनी प्रशंसा की जाए, थोड़ी है।"[3]

उनकी भेंट हिन्दी के साहित्यकार चार चतुर्वेदियों से हुई, जिनकी उनके हृदय पर अमिट छाप थी। हिन्दी के उन चिरपरिचित साहित्यकारों के नाम हैं—

---

1. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 286
2. पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, (रजत जयन्ती स्मृति ग्रन्थ) संपादक-भीमसेन विद्यालंकार—सन् 1958, पृ० 20
3. वही, पृ० 21

पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पं० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी तथा पं० माखनलाल चतुर्वेदी' यह परिव्राजक जी के घनिष्ठ मित्रों में से एक थे। इनका उल्लेख करते हुए परिव्राजक जी लिखते हैं—

"हिन्दी के मेरे साहित्यिक जीवन में मेरा चार चतुर्वेदियों से पाला पड़ा—पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पं० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० माखनलाल चतुर्वेदी। पहले दो का तो देहावसान हो चुका है, पिछले दो चतुर्वेदी ईश्वर कृपा से हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। इन चारों चतुर्वेदियों में श्री माखनलाल जी चतुर्वेदी का दर्जा सबसे ऊंचा है और वे हरिद्वार में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के सभापति भी बनाए गए थे। आप बड़े सुशिक्षित, सुसंस्कृत और मार्मिक गद्य-पद्य लेखक हैं। इनकी लेखनी में बड़ा ओज है। भावपूर्ण भाषा में इनकी पद्य रचना पढ़ने में बड़ा आनन्द आता है। 'भारतीय आत्मा' के नाम से वे पद्य रचना करते हैं।"[1]

'आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी' भी स्वामी जी के परम मित्रों में से थे। स्वामी जी के अमरीका-प्रवास में जब भी उन्हें आर्थिक संकटों ने घेरा तभी उन्होंने सहायता पहुंचाकर संकटों से मुक्ति दिलाई।

इसका उल्लेख उन्होंने 'अमेरिका-प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी' में इस प्रकार किया है—

"जब मैं सियेटल में पैदल चलने की सोच रहा था, उस समय मैंने एक चिट्ठी पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी, 'सरस्वती'—सम्पादक के पास जूही (कानपुर) भेजी थी, जिससे वे डेढ़ सौ रुपये मूल्य के काशी के पीतल के बर्तन और रेशमी रूमाल मेरे न्यूयार्क के पते से भेज दें। भारत लौटने के लिए मेरे पास जहाज का किराया नहीं था, अतएव निश्चय यह किया कि डेढ़ सौ रुपये का भारतीय सामान न्यूयार्क में बेचकर छह सात सौ रुपया पैदा किया जाए। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने बड़ी मुस्तैदी से काम किया और सामान भिजवा दिया। न्यूयार्क के अपने एक मित्र को मैंने असबाब के आने की सूचना दे दी। इससे निपटकर हम लोग एक होटल में गए और वहां डेढ़ सौ रुपया रात का देकर सो रहे।"[2]

स्वतन्त्रता संग्राम के अमर सेनानी दैनिक 'सैनिक' के संपादक 'श्री कृष्णदत्त पालीवाल' जी भी परिव्राजक जी के मित्रों में से थे। उनके सम्बन्ध में एक स्थान पर कहते हैं—

"पं० कृष्णदत्त पालीवाल से मेरा परिचय उस समय हुआ, जब वे आगरे में, हाई स्कूल में पढ़ते थे। वे मेरे पास अल्मोड़े आए थे, जब मैंने वहां राजनीति पर सिलसिलेवार व्याख्यान दिए थे और वर्ग खोला था। इसके बाद से जब-जब मैं आगरे जाता, वे बराबर मेरे पास आते थे। सन् 1924 में उन्होंने पब्लिक जीवन में अपना स्थान ले लिया था और एक समाचार-पत्र निकाल रहे थे। जब मैं उनसे मिला तो उन्होंने बड़े

1. पंजाब प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, रजत जयंती स्मृति ग्रंथ, पृ० 21
2. अमरीका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 399

आदर से मेरा आतिथ्य किया। मेरी 'जर्मन यात्रा' में लाला हरदयाल जी की अंग्रेजी चिट्ठियों का अनुवाद प्रकाशित हुआ है, वह पालीवाल जी के परिश्रम का फल है। उस के लिए मैं उनका आभारी हूं।"[1]

'पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी' परिव्राजक जी के अन्तरंग मित्रों में से थे, उनका उल्लेख करते हुए वह कहते हैं—

"प्रयाग के दारागंज मोहल्ले के रहने वाले पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी जी ने भी हिन्दी साहित्य की बड़ी सेवा की है। सरस्वती में प्रकाशित मेरे लेखों ने उन्हें भी मेरी ओर आकर्षित किया था। वे बड़े उत्साह से मुझसे मिले और वर्षों तक उनकी मेरी मित्रता रही। वे अपनी रचनाओं को बराबर मेरे पास भेजा करते थे। सन् 1924 के बाद से मेरा उनसे मिलना नहीं हुआ। वे अब संसार में नहीं हैं।"[2]

विश्ववन्द्य बापू के अनन्य भक्त राष्ट्रीय आन्दोलनों के कर्णधारों में से एक स्वतन्त्रता संग्राम के अमर सेनानी 'आचार्य कृपलानी' भी परिव्राजक जी के निकटतम मित्रों में से थे। उनके सम्बन्ध में परिव्राजक जी लिखते हैं—

"प्रो० कृपलानी मुजफ्फरपुर कालेज की प्रोफेसरी छोड़कर गांधी दल में आ मिले थे। देश भक्ति के विचार इनमें कूट-कूट कर भरे थे। और यह सिन्धी सज्जन बराबर मेरे व्याख्यानों में आया करते थे और अपने स्वाभाविक मीठे-मसखरे चुटकलों से मेरा जी बहलाया करते थे। इनसे मिलकर मैं बड़ा खुश होता था, क्योंकि ये बड़े सरल चित्त, निश्छल व्यक्ति थे। जब मैं पटना से मोतीहारी पहुंचा तो गांधी आश्रम की देख-रेख इन्हीं के सुपुर्द थी। इन्हें वहां पाकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ।"[3]

'राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन' से परिव्राजक जी के अटूट सम्बन्ध बराबर बने रहे। कठिन से कठिन समय में उन्हें उनकी सहायता प्राप्त होती रही। परिव्राजक जी उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहते हैं—

"सन् 1913 ई० का वर्ष आया और वह मेरे लिए बड़ा मंगलकारी हुआ। मेरी भेंट बाबू पुरुषोत्तमदास जी टण्डन से हुई। वे प्रयाग में अपना हिन्दी साहित्य सम्मेलन चला रहे थे। उनके आग्रह पर मैं अपना सत्य-ग्रन्थमाला कार्यालय जान्सटन गंज प्रयाग में ले गया। टण्डन जी यहीं वकालत करते थे और उन्हीं के दफ्तर के साथ ही मैंने भी मकान किराये पर ले लिया। अब मुझे हिन्दी का एक सच्चा सेवक मिल गया, जो निष्काम-भाव से देश को स्वाधीन करने में लगा हुआ था। हमारी दोनों की पटड़ी बैठ गई और मैं कुछ वर्षों तक इलाहाबाद में ही रह गया।"[4]

---

1. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 289
2. पंजाब प्रान्तीय (हिन्दी सम्मेलन, रजत जयन्ती स्मृति ग्रन्थ), सन् 1958, संपादक व भीमसेन विद्यालंकार, पृ० 21
3. स्वतन्त्रता की खोज में, पृ० 199
4. पंजाब हिन्दी साहित्य सम्मेलन, रजत जयन्ती स्मृति ग्रन्थ, पृ० 16

हरिजन आन्दोलन के वयोवृद्ध नेता व्रजभाषा साहित्य के मर्मज्ञ तथा 'विनय पत्रिका' के सुप्रसिद्ध टीकाकार 'श्री वियोगीहरि' भी उनके परिचितों में से थे। उनके सम्बन्ध में वह लिखते हैं—

'वियोगी हरि' बड़े सुन्दर कवि हैं, जिन्हें कानपुर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में मगलाप्रसाद पुरस्कार मिला था। उनके ऐसे आदरणीय होने पर वहां पर आए हुए दूसरे कवियों के दिलों में ईर्ष्या की आग धधक उठी थी, जिससे सौम्यमूर्ति हरि जी ने उस बारह सौ रुपये के पुरस्कार को हिन्दी-माता को अर्पण कर ईर्ष्या की चिनगारियों को शान्त किया था। वही वियोगीहरि जी महात्मा गांधी जी के आदेश से हरिजनों के सेवक बनकर दिल्ली में आ गए थे। और हिन्दी-सेवक के संपादक के नाते मुझसे लेख लेने के लिए नई दिल्ली के मेरे स्थान पर पधारे थे। तब से हमारा पारस्परिक-प्रेम बहुत बढ़ गया।'[1]

पं० पद्मसिंह शर्मा से उनका घनिष्ठता थी तथा वह श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जी के अन्तरंग मित्रों में से थे। इसका आभास पं० पद्मसिंह शर्मा के एक पत्र द्वारा, जो उन्होंने चतुर्वेदी जी को लिखा था, मिल जाता है। शर्मा जी चतुर्वेदी जी को सम्बोधित करते हुए अपने पत्र में लिखते हैं—

"प्रिय चतुर्वेदी जी,

नमस्कार !

आप ऊपर ही ऊपर उड़ गए। यहां आपके इन्तजार में लोग 'वासक सज्जा' बने राह देखते रहे। मामूली आदमी ही नहीं, साक्षात् परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी सत्यदेव जी एक कविता के स्वयंवृत स्वामी यानी कवि !

उत्सुक रहे ! रात में रास्ता पूछते-पूछते यहां पहुंचे ! जब बेचारों को मालूम हुआ कि आप नहीं आए तो बस 'खूं टपक पड़ा-निगाह-ए इन्तजार से।"[2]

सुप्रसिद्ध साहित्यकार स्वर्गीय श्री 'जयचन्द विद्यालंकार' परिव्राजक जी के अनन्य भक्तों में से थे। वह परिव्राजक जी की भाषा शैली के बड़े प्रशंसक थे। 'स्वामी सत्यदेव की राष्ट्र को देन' शीर्षक अपने निबन्ध में उन्होंने लिखा था—

"सन् 1911 में सत्यदेव चमकते सितारे की तरह प्रकट हुए। वे तभी अमरीका से छः वर्ष के प्रवास के बाद लौटे थे। उनका नाम पहले 'सरस्वती' में प्रकाशित कुछ लेखों पर भी हम देखा करते थे, पर इधर अपने अमरीका-प्रवास और अनुभवों के बारे में उन्होंने जो पोथियां निकालनी शुरू कीं, उनमें उनके विचारों से स्वाधीनता और मनुष्यता की फूंक थी।"[3]

उनके वाक्य होते थे, मानो—

---

1. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 337
2. पद्मसिंह शर्मा के पत्र—संपादक बनारसीदास चतुर्वेदी, पृ० 104
3. स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अभिनन्दन ग्रन्थ—भाषा विभाग—पटियाला, पृ० 1

सतसैया के दोहरे जिमि नाविक के तीर,
देखन में छोटे लगें घाव करें गम्भीर ।।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध पत्रकार 'अर्जुन' के संपादक श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति परिव्राजक जी के अन्तरंग मित्रों में से थे। विद्यार्थी जीवन से ही वह उनके भक्त थे। उनके सम्बन्ध में वह लिखते हैं—

"जब मैं विद्यार्थी था तब से श्री स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के लेख पढ़ा करता था। परिव्राजक जी के लेख उन दिनों प्रायः 'सरस्वती' में निकला करते थे। एक ऊँचे दर्जे के भारतीय सज्जन अमेरिका की यात्रा करके हिन्दी में लेख लिखें, उन दिनों यही बात काफी आश्चर्य में डालने वाली थी। उनका विशेष प्रभाव नवयुवकों पर तब पड़ता जब उन लेखों के विषय पर दृष्टि पड़ती थी। उस दासता के युग में स्वाधीनता की चर्चा हृदय में अद्भुत पड़ती और गुदगुदी पैदा करती थी। स्वामी जी के लेखों की प्रारम्भ से ही यह विशेषता रही है कि वे मानसिक, सामाजिक और राजनीतिक हर प्रकार की स्वाधीनता के भावों से ओत-प्रोत होते हैं। हम विद्यार्थी लोग बड़े चाव से स्वामी जी के लेखों को पढ़ते थे और अगले लेख की प्रतीक्षा करने लगते थे। जब परिव्राजक जी अमरीका से लौट आए तब उनकी 'मनुष्य के अधिकार' के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई। देश उस समय राष्ट्रीय स्वाधीनता के युद्ध में प्रवेश कर रहा था। स्वामी जी की पुस्तक नवयुवकों के कानों में युद्ध-घोषणा के समान पड़ी। तब से अब तक लगभग पचास वर्ष हो गए, स्वामी जी निरन्तर अपने लेखों द्वारा सर्वतोमुखी स्वाधीनता के प्रचार में लगे हुए हैं।"[1]

पंजाब के सुप्रसिद्ध साहित्यकार बहुमुखी प्रतिभा के लेखक तथा समाज-सेवी श्री संतराम बी० ए० परिव्राजक जी के अनन्य भक्तों और प्रेमियों में से। उन्होंने परिव्राजक जी के सम्बन्ध में अपने जो विचार प्रकट किए हैं, उनमें स्वामी जी का घुमक्कड़ व्यक्तित्व सामने उभरकर आ जाता है।

'मैं समझता हूं, उनका परिव्राजक नाम जितना उनके लिए सार्थक है, उतना बहुत थोड़े दूसरे लोगों के लिए होगा। उन्होंने संसार का खूब भ्रमण किया है। उनके गत जीवन पर दृष्टिपात करने से ऐसा लगने लगता है कि मानो वे किसी कवि के निम्नलिखित पद्य पर पूरी तरह आचरण करते हैं—

सैर कर दुनिया की गाफिल,
जिन्दगानी फिर कहां ?
जिन्दगानी गर हुई तो भी
नौजवानी फिर कहां ?

मैं समझता हूं अपने अमेरिका-प्रवास पर उनकी पुस्तक पढ़कर जितने भारतीय

---

1. स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अभिनन्दन ग्रन्थ, भाषा विभाग-पटियाला, पृ० 13-14

नवयुवकों को विदेश-यात्रा की प्रेरणा मिली है, उतनी कदाचित् दूसरे किसी भ्रमण-वृत्तान्त से नहीं।"[1]

हिन्दी के सुप्रसिद्ध इतिहासकार मिश्रबन्धु (श्री गणेशविहारी मिश्र, श्यामविहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र) 'मिश्रबन्धु विनोद' के नाम से प्रकाशित अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में परिव्राजक जी की साहित्य-साधना पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

"स्वामी जी एक प्रकार से राजनीतिक संन्यासी रहे, यद्यपि राजनीति के झोंके में नहीं आए। ये जो कुछ लिखते उसमें हार्दिक भावों का ज्वार भरा रहता था। ये एक आदर्श पर्यटक रहे। खेद है वे अब नेत्रों से लाचार होकर पढ़ने-लिखने में विवश हैं, फिर भी पत्रों का उत्तर अपने सहायक द्वारा अवश्य भिजवा देते हैं, जो इनके व्यक्तित्व की उदारता का पूर्ण परिचायक है।"[2]

"कलम के धनी क्रान्तिकारी लेखक, चिन्तक और विचारक 'आचार्य चतुरसेन शास्त्री' अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में परिव्राजक जी की साहित्य-सेवा के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"इनकी वाणी और कलम में तीखी चुभने वाली शक्ति रहती है। अमेरिका से भी अच्छे-अच्छे गद्य लेख प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पत्रों में सदा छपवाते रहे हैं और स्वदेशानुसारपूर्ण लेखों में अनेकानेक बातों का वर्णन करते रहे।"[3]

परिव्राजक जी का स्वभाव एवं प्रकृति

परिव्राजक जी अत्यन्त स्पष्टवादी, खरी कहने वाले, उग्र स्वभाव के व्यक्ति थे। अपने इसी उग्र स्वभाव के कारण उनकी मित्रता किसी से दीर्घकाल तक नहीं निभ सकी। अपने उग्रस्वभाव तथा स्पष्टवादिता के कारण उन्हें अनेक कष्ट भी उठाने पड़े, अपने विरोधियों की संख्या भी बढ़ानी पड़ी। पर जो मनुष्य का स्वभाव बन जाता है, उसमें किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इसे परिव्राजक जी ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। वह कहते हैं—

"मेरे स्वभाव में बड़ी उग्रता रही है और मुझमें दूसरों को साथ बांधने की कला का अभाव है। मैं ऐसे किसी गुरु के पास नहीं रहा, जो मुझे लीडर बनने की शिक्षा देता। कठिन कार्यों के करने में निर्भयतापूर्वक जुट जाना यह मेरा स्वाभाविक गुण है, किन्तु उस कार्य के करने में और सहायकों को भी अपने साथ खींच लेना और लोक-संग्रह कर लेना, यह मुझे नहीं आता। सारी आयु अपनी लड़ाइयां मैंने अकेले लड़ी हैं और किसी ने

---

1. स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अभिनन्दन-ग्रन्थ, भाषा विभाग, पटियाला-सन्तराम बी० ए०—'जैसा मैंने उन्हें देखा', पृ० 13-14
2. 'मिश्रबन्धु-विनोद'—भाग 4, मिश्रबन्धु—पृ० 347
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास —आचार्य चतुरसेन शास्त्री, पृ० 558

मेरी सहायता नहीं की। मैं सदा अकेला ही रहा। अमरीका से लौटा तो अपना प्रचार-कार्य किसी संस्था के अधीन होकर नहीं किया। स्वतन्त्रता से पैसा कमाया और अपनी ही इच्छा से खर्च किया। मैंने यह कभी नहीं सोचा था कि मैं किसी समय नेत्रहीन हो जाऊँगा और तब मेरा दूसरों की सहायता के बिना कदापि काम नहीं चलेगा। फस्ट-क्लास की तन्दुरुस्ती, कोई बुरी आदत नहीं जिस में पैसा बरबाद हो, सिनेमा थियेटर के निकट नहीं जाना, अपना सारा काम खुद कर लेना और मितव्ययी अव्वल दर्जे का—ये मेरे चरित्र के स्वाभाविक गुण थे। इस कारण मैंने यह कभी नहीं सोचा था कि एक समय ऐसा आ सकता है, जब मुझे देख-रेख करने वालों की ज़रूरत पड़ेगी और मुझे अपने संरक्षण की आवश्यकता होगी।"[1]

उनके जीवन की कुछ घटनाएं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं जिन्हें उन्होंने स्वयं लिखा है। जिन दिनों आचार्य द्विवेदी जी के संपादकत्व में 'सरस्वती' प्रकाशित हो रही थी, उन्हीं दिनों प्रयाग से श्रीकृष्णकान्त मालवीय जी के संपादकत्व में 'मर्यादा' का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। मर्यादा भी सरस्वती के समान ख्याति प्राप्त पत्रिका थी। परिव्राजक जी के लेख जब सरस्वती में प्रकाशित हुआ करते थे तो परिव्राजक जी के शब्दों में उन लेखों के कारण सरस्वती की ख्याति बढ़ने लगी थी।* उसकी ग्राहक संख्या भी बढ़ने लगी थी, जिसका उल्लेख परिव्राजक जी ने इस प्रकार किया है—

"पं० कृष्णकान्त मालवीय से यह देखा न गया। उन्होंने झट मुकाबले में 'मर्यादा' मासिक पत्रिका निकाल दी। बस तब से 'सरस्वती' और 'मर्यादा' में झगड़ा शुरू हो गया। पं० कृष्णकान्त मालवीय जी ने मेरे पास अमरीका में पत्र भेजकर मुझसे लेख मांगे और भरपूर पुरस्कार देने का वायदा किया। अमरीका से शिक्षाप्रद और मनोरंजक लेख लिखने वाला मैं ही पहला हिन्दी लेखक था, जिसके यात्रा सम्बन्धी लेखों ने हिन्दी पढ़ने वाले नर-नारियों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। चातक की तरह पाठक 'सरस्वती' की प्रतीक्षा किया करते थे और पुस्तकालयों में उन लेखों को पढ़ने के लिए भीड़ जमा होती थी। 'मर्यादा' वालों ने भी 'सरस्वती' की तरह लोकप्रियता पाने के लिए मेरे साथ सम्बन्ध स्थापित किया और मेरे लेख उसमें भी निकलने लगे। आचार्य द्विवेदी जी इस कारण मुझसे नाराज हो गए। मुझे कृष्णकान्त जी से करीब नब्बे रुपये लेने थे और मैंने उनकी चिट्ठियों से उन्हें सच्चा देशभक्त समझकर उन्हीं के पास अपना ट्रंक भेज दिया था। परन्तु मेरे आश्चर्य की सीमा न रही, जब मैंने अभ्युदय प्रेस में जाकर देखा कि मेरा ट्रंक खुला हुआ ऐसी जगह रखा है, जहां कोई भी क्लर्क आसानी से उसमें से पुस्तकें निकाल सकता है और उसमें से कुछ चुनी हुई पुस्तकें निकल भी चुकी थीं।"

---

1. सन् 1942 का क्रान्तिकारी वर्ष—पृ० 431-32

* ऐसा हम नहीं कहते—'अपनी स्वतन्त्रता की खोज में' परिव्राजक जी स्वयं कहते हैं। पृ० 134-35

उपन्यास-सम्राट मुंशी प्रेमचन्द जीवन भर अपने समकालीन लेखकों के ईर्ष्या के पात्र बने रहे। 'सरस्वती' में अवध उपाध्याय और श्रीनाथसिंह जैसे लेखकों ने उन्हें घृणा का प्रचारक प्रेमचन्द कहकर उन पर कम कीचड़ नहीं उछाला। परिव्राजक जी की भी उन पर कभी कृपा नहीं रही। उनकी कटु-आलोचना करते हुए उन्होंने एक बार उनसे पूछा था—

"क्यों प्रेमचन्द जी, क्या आप कभी कलकत्ते गए हैं? वे मुस्कराकर बोले —'नहीं।' मैंने व्यंग्य से उन्हें कहा - 'तभी तो आपने अपने 'गबन' उपन्यास में कलकत्ते में कड़कड़ाते जाड़े की बात लिखी है। मेरे प्यारे, कलकत्ते में तो ऐसा जाड़ा पड़ता ही नहीं।' अपने स्वाभाविक भोलेपन से उन्होंने उत्तर दिया —'स्वामी जी, ऐसी भूलें आप ही पकड़ सकते हैं। आप मेरी पुस्तकों में जहां-जहां ऐसी गलतियां पाएं, कृपया उन्हें मुझे सुझा दें, जिससे अगले संस्करणों में मैं उनको दूर कर सकूं।"[1]

अपनी आलोचना सुनकर भी प्रेमचन्द जी केवल इतना ही कहकर रह गए 'आप जहां ऐसी गलतियां पाएं उन्हें मुझे सुझा दें', यह थी उनकी शालीनता।

परिव्राजक जी को इतने से ही शांति नहीं मिली, अब उन्होंने प्रेमचन्द जी के सम्पूर्ण साहित्य की खोज-बीन करनी आरम्भ कर दी। उन्होंने यहां तक लिख डाला कि जो भी लिखा है और जितना भी लिखा है वह सब 'फसाना आज़ाद' की चोरी है।

"अब यहां पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि ऐसी ही बात है तो फिर प्रेमचन्द जी को कहानियां और उपन्यास लिखने की ऐसी सामग्री कहां से मिली, क्योंकि उन्होंने तो भ्रमण किया ही नहीं था? उत्तर में हमारा निवेदन यह है कि वे नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में नौकरी करते थे। उर्दू के जगत्-विख्यात् लेखक 'पं० रतननाथ' ने अपना अमरग्रन्थ 'फसाना आज़ाद' लिखा है, जिसकी चार मोटी-मोटी जिल्दें हैं। श्री प्रेमचन्द जी के हाथ लग गया और उसी के सहारे वे हिन्दी-जगत में प्रसिद्ध हुए।"[2]

इस प्रकार अपने समकालीन लेखकों के प्रति जो विचार उन्होंने प्रकट किए इसकी प्रतिक्रिया भी उनके लिए भयानक सिद्ध हुई। इसीलिए वे साहित्य-क्षेत्र में अपना वह स्थान नहीं बना सके जिसके वे अधिकारी थे। उन्होंने जिन पर अपने व्यंग्य बाणों का प्रहार किया उनमें से कुछ ने उनके उत्तर भी दिए और कुछ प्रेमचन्द के समान चुप होकर बैठ गए।

यह प्रेस-युग है। किसी भी उभरते हुए साहित्यकार को अपने पाठकों के सम्मुख आने के लिए पत्र-पत्रिकाओं को अपना माध्यम बनाना पड़ता है। इसके लिए संपादकों की कृपा और अनुग्रह की आवश्यकता होती है। ख्याति-प्राप्त लोगों को यह कृपा अनायास ही प्राप्त हो जाती है, सर्वसाधारण को इसके लिए पत्रकारों के दरवाज़े झांकने पड़ते हैं। परिव्राजक जी एक सफल-वक्ता, सामाजिक कार्यकर्ता तथा विश्व-पर्यटक भी थे, इस

---

1. पंजाब हिन्दी साहित्य सम्मेलन, रजत जयन्ती स्मृति ग्रंथ, पृ० 18
2. वही, पृ० 18-19

कारण ख्याति उनके पीछे-पीछे दौड़ी चलती थी। संपादकों की कृपा के लिए उन्हें भटकना नहीं पड़ता था। अनायास ही प्राप्त हो जाने वाली संपादकों की इस कृपा ने अपने समकालीन लेखकों में हिन्दी प्रेमियों की चर्चा का विषय बना दिया था। प्रतिभा की भी उनमें कमी नहीं थी, पर इस उग्रता ने उनके सम्बन्ध तत्कालीन पत्रकारों से इतने बिगाड़ दिए थे कि जिसके कारण उन्हें इन्हीं पत्रकारों का कोपभाजन भी बनना पड़ा।

'विशाल भारत' के संपादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी उनके मित्रों तथा प्रशंसकों में हैं। उनके सम्पादकत्त्व में उनके लेख-कहानियां तथा कविताएं बराबर प्रकाशित होती रहती थीं। यह सही है कि परिव्राजक जी ने अपने जीवन की छिपाने योग्य बुराइयों को भी बेनकाब करके रख दिया। जर्मनी, फ्रांस तथा अमेरिका के होटलों में उन्होंने गौरांग रमणियों के साथ जो भी किया उसे पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराते रहे। विशाल भारत के अक्तूबर, सन् 1930 के अंक में उनकी 'कोलोन का कार्नवाल मेला' शीर्षक कविता प्रकाशित हुई थी, जिसमें जर्मनी के युवक और युवतियां मिलकर नृत्य किया करते हैं। जिसका उल्लेख करते हुए परिव्राजक जी मन्दाक्रान्त छन्द में लिखते हैं—

ऐसे मैं तो, अलग अपने, ध्यान में था अकेला,
साथी मेरा, बन तुरकसा, देखता नाच मेला।
आओ जल्दी, घर पर चलें, हो नहीं तो अबेला,
सोचा मैंने, सब लख लिया, कार्नवाली झमेला।

प्रयाग और काशी हिन्दी साहित्य के भाग्य-विधाताओं के प्रधान कार्य-क्षेत्र रहे हैं। 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' और 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' के माध्यम से प्रयाग और काशी के हिन्दी-प्रेमियों द्वारा जो हिन्दी साहित्य की सेवा हुई है उसका अपना महत्त्व है। फिर भी जहां संस्थाओं को कार्य-क्षेत्र बनाकर कोई भी कार्य किया जाता है तो वहां गुटबन्दी और पार्टी-पोलिटिक्स के अखाड़े स्वयं बन जाते हैं। काशी से प्रयाग आने पर परिव्राजक जी ने वहां के साहित्य-सेवियों में भी यही रोग पाया था। जिससे इन गुटबन्दी के शिकार होने के कारण उन्होंने हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के कर्णधारों की खूब खबर ली—

"जब स्वर्गीय बाबूराव पराड़कर पहली बार कलकत्ते में गवर्नमेंट के क्रोध का शिकार हुए तो प्रयाग के वे हिन्दी-प्रेमी उनके साथ सहानुभूति का प्रस्ताव पास करते हुए घबराते थे और उनकी इस कायरता को देखकर मैंने सम्मेलन से त्याग-पत्र दे दिया था।"[1]

उनके स्वभाव में निर्भीकता भी थी जो इस प्रकार की राजनीतिक गुटबन्दियों के प्रति आक्रोश के रूप में समय-समय पर प्रकट होती रही थी—उनकी स्पष्टवादिता उनकी एक ऐसी विशेषता थी जिसमें उनके सारे दोष छिप जाते हैं।

---

1. पंजाब हिन्दी साहित्य सम्मेलन, रजत जयन्ती स्मृति ग्रन्थ, पृ० 16

सर्वस्व दानी स्वामी सत्यदेव

कलम को ही जीविका का साधन बनाने वाला लेखक भूखों मरता है। यह धारणा हमारे देश में चिरकाल से चली आई है और भाग्य से जिन लेखकों को अच्छे प्रकाशक मिल जाते हैं, उनकी पुस्तकें बिकती तो बाजार में बहुत हैं और साज-सज्जा भी उनकी कम आकर्षक नहीं होती और बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों की ऊंची परीक्षाओं में भी उन्हें स्थान मिल जाता है, पर उन्हें जीवन-भर लक्ष्मी के भक्तों के सामने हाथ फैलाना ही पड़ता है। स्वामी जी से यह बात छिपी नहीं थी, इसीलिए उन्होंने अपनी पुस्तकें स्वयं प्रकाशित कीं। उनकी बिक्री से जो धन प्राप्त होता था, उसी के बल पर उन्होंने विदेशों की यात्राएं कीं और कभी किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। लाखों कमाये और खो दिए। परन्तु साथ ही साथ वह यह भी जानते थे कि एक अन्धे लेखनीजीवी के जीवन में एक ऐसा समय भी आ सकता है, जब उसे पूरी तरह से दूसरों पर आश्रित हो जाना पड़े।

'सत्यज्ञान निकेतन' की स्थापना

शायद इसीलिए उन्होंने 13 जनवरी 1936 को 2000/- रुपये में पांच बीघा एक बिस्वा ज़मीन खरीद ली और जिसमें से दो बिस्वा ज़मीन बेचकर चार बीघा 19 बिस्वा पर 'सत्यज्ञान निकेतन' नामक आश्रम की स्थापना की थी। यह स्वामी जी की अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति थी, उसे वह जिसे चाहे दे सकते थे। उनके काशी-प्रवास में जब 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' अपनी शैशवावस्था में थी तभी से वह उनके आकर्षण का केन्द्र बन गई थी। सभा के संस्थापक बाबू श्यामसुन्दर दास, श्री रामनारायण मिश्र, ठाकुर शिवकुमारसिंह इनके अनन्य मित्रों में से थे।

ऐसी दशा में सभा के साथ इनका सम्बन्ध होना अनिवार्य था। स्वामी जी सभा के आजीवन सदस्य भी थे। जीवन के अन्तिम दिनों में उनके सामने प्रश्न था कि मेरे बाद इस संस्था को कौन संभाले ? किन्तु सोच-विचार करने पर सभा ही उन्हें एक ऐसी संस्था जान पड़ी जिसे वह अपनी यह अमूल्य निधि भेंट कर गए।

हरिद्वार में 'नागरी प्रचारिणी सभा'

स्वामी जी ने 30 नवम्बर 1943 को अपना यह आश्रम सभा को दान कर दिया। जिसका उल्लेख उन्होंने अपने अर्पण-पत्र में कर दिया है। परन्तु सभा के अधिकारियों के साथ स्वामी जी की अधिक समय तक नहीं पट सकी। व्यवहार में कटुता आने लगी, जिसका उन्हें जीवनपर्यन्त खेद रहा।*

* 30 नवम्बर, सन् 1943 को 'सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर' की रजिस्ट्री, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के नाम हो गई। मेरे परममित्र पं० रामनारायण जी मिश्र, मैं और प्रोफेसर वेदव्रत विद्यालंकार इस निकेतन के आजीवन सदस्य बनाये गए। पंडित जी के मुंह लगे क्लर्क ने लगे हाथ मेरी सारी पुस्तकों का स्टाक

परिव्राजक जी की कृतियां

परिव्राजक जी द्वारा रचित साहित्य का विवरण इस प्रकार है—

1. अमरीका दिग्दर्शन, (नवीन संस्करण) 2. अमरीका भ्रमण, (अमरीका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी,) 3, अमरीका के निर्धन विद्यार्थी, 4. मेरी कैलाश-यात्रा, 5. योरोप की सुखद् स्मृतियां, 6. मेरी जर्मन-यात्रा, 7. जर्मन में मेरे आध्यात्मिक प्रवचन, 8. यात्री-मित्र, 9. संजीवनी-बूटी, 10. मनुष्य का अधिकार, 11. भारतीय स्वाधीनता सन्देश या संगठन का बिगुल, 12. अनन्त की ओर, 13. ज्ञान के उद्यान में, 14. लेखन-कला, 15. हिन्दू-धर्म की विशेषताएं, 16. हमारी सदियों की गुलामी के कारण, 17. विचार स्वातन्त्र्य के प्रांगण में, 18. स्वतन्त्रता की खोज में, 19. पाकिस्तान एक मृग-तृष्णा, 20. नई दुनिया के मेरे अद्भुत संस्मरण, 21. देवचतुर्दशी, 22. राजर्षि भीष्म, 23. अनुभूतियां (काव्य,) 24. हिन्दी की पहली पुस्तक, 25. राष्ट्रीय संध्या (काव्य) 26. हिन्दी का संदेश (ट्रेक्ट,) 27. भारतीय समाजवाद की रूपरेखा, 28. लहसुन बादशाह।

और मेरी पुस्तकों का (Copy Right) भी मुझसे दान के तौर पर लिखवा लिया, लेकिन वह रजिस्ट्री की लपेट में इसलिए नहीं आया, क्योंकि उनके दाम लगा देने से उतने से ज्यादा कीमत के स्टाम्प रजिस्ट्री-पत्र पर चिपकाने पड़ते थे, सो वह बात केवल कागज पर ही लिखी रह गई। पंडित जी का हृदय तो ऐसा कठोर न था, लेकिन वह क्लर्क बड़ा षड्यन्त्री एवं प्रपंची था। पंडित जी उसके काबू में थे। ऐसा क्यों था? इसका कारण यह था कि उसने स्वर्ण-जयन्ती के काम में पंडित जी की बड़ी सहायता की थी और उनका विश्वासपात्र बन गया था। वह पुस्तकों का स्टाक पांच हज़ार रुपये की लागत का था, जिसे बाद में आधे के करीब मिश्र जी ने मुझे लौटा दिया और आधे पर सभा का कब्जा रखा, कापीराइट का लिखा हुआ कागज़ भी मेरे तकादे पर वापस दे दिया।

असल में बात यह थी कि सभा के दूसरे सभासद तो इस जायदाद के लेने के विषय में कुछ ऐसे उत्सुक नहीं थे। छः सौ मील के फासले पर बैठे हुए काशी से हरिद्वार में बिना किसी प्रकार की आमदनी वाली जायदाद को लेकर सफेद हाथी का खर्च बांधना ही तो था। भला ऐसे बेगार के सिरदर्द को सभा वाले मोल क्यों लेते। फिर पंडित जी ने यह सिरदर्द, ऐसी बड़ी जायदाद को लेकर तथा अपने लिए नित्य नये झंझट क्यों खरीद लिए?

इसके दो-तीन कारण थे। पहला तो यह कि 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर आई हुई शिक्षित जनता को जब सभा के जन्मदाता मिश्र जी यह घोषित करेंगे कि उनके सतपरामर्श से स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने हरिद्वार जैसे पवित्र स्थान में पच्चीस हज़ार रुपये की लागत की जायदाद हिन्दी प्रचार के लिए दे दी है, तो स्वाभाविक ही उसका प्रभाव जनता पर पड़ेगा

निधन

8 दिसम्बर, सन् 1961 की रात्रि को आठ बजे परिव्राजक जी की जीवन-ज्योति चिर-प्रकाश में विलीन हो गई। यह दुःखद समाचार जनवरी सन् 1962 की 'गुरुकुल पत्रिका' में प्रकाशित हुआ था :

प्रसिद्ध साहित्यकार श्री सत्यदेव परिव्राजक जी का निधन

हमें यह प्रकाशित करते हुए अत्यन्त दुःख हो रहा है कि उच्चकोटि के साहित्य-कार, सुप्रसिद्ध व्याख्याता तथा 'सत्यज्ञान निकेतन, हरिद्वार' के संस्थापक प्रज्ञाचक्षु श्रद्धेय स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक का 8 दिसम्बर की रात्रि को लगभग आठ बजे गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के श्रद्धानन्द चिकित्सालय में देहावसान हो गया। स्मरणीय है कि स्वामी जी महाराज मृत्यु से तीन दिन पूर्व अपनी कुटिया में फिसलकर गिर गए थे, जिसके फलस्वरूप मस्तिष्क में चोट आने के कारण वे बेहोश हो गए। इसी अवस्था में गुरुकुल में अधिकारियों द्वारा उन्हें चिकित्सालय में लाया गया। यहां पर सुयोग्य डाक्टर तथा छात्र उनकी जीवन-रक्षा के लिए भरसक प्रयत्न करते रहे, किन्तु विधि के विधान को कोई टाल न सका।

और चूंकि आज तक किसी ने ऐसा दान सभा को नहीं दिया था, उस निकेतन की कीमत आगे चलकर बहुत ज्यादा हो जाने वाली थी—यह दूरदर्शिता मिश्र जी के मस्तिष्क में थी, दूसरा कारण उस जायदाद को लेने का यह था कि इनका परम प्यारा क्लर्क उस जायदाद के कारण घर के निकट ही पक्की नौकरी पा सकता था, इससे उसका भला भी पंडित जी ने सोचा, तीसरा कारण मिश्र जी की उत्सुकता का यह था कि हरिद्वार एक सुन्दर, नीरोग स्थान है और पंजाबियों का बड़ा भारी तीर्थ है, जहां पर कुम्भ और अर्द्धकुम्भी के पर्व होते हैं—ऐसी जगह जायदाद मिल जाने से सभा को दान मांगने के अवसर सहज में ही मिल जाया करेंगे। पंडित रामनारायण मिश्र थे केवल पेंशनर, उन्हें था पूरा अवकाश, कोई विशेष योजना उनके हाथ में थी नहीं—इनकी दीर्घ दृष्टि ने सोचा कि चलो, इसी बहाने हर साल हरिद्वार की सैर हो जाया करेगी, पास ही देहरादून और मसूरी के पहाड़ हैं, वहां भी घूम आया करेंगे। सभा के दूसरे मेम्बर थे अपने-अपने धन्धे वाले, उनके लिए था यह मुफ्त का सिरदर्द। केवल श्री बाल देवीनारायण जी खत्री वकील ही ऐसे थे, जो यद्यपि वकालत तो काशी में करते थे, लेकिन उनके अधिक मुवक्किल साधु-संत महन्त और धार्मिक ठिकानों वाले फकीर थे, इन्हें भी अपने मुवक्किलों से मिलने का अवसर मिल जाता था, सो उनकी दिलचस्पी भी जायदाद में इसी कारण से हो गई।'

स्वतन्त्रता की खोज में—पृ० 450-51

मान्य स्वामी जी की मृत्यु का समाचार हवा की भांति शीघ्र ही चारों ओर फैल गया और इस दुःखद समाचार को सुनते ही पंचपुरी-वासी नर-नारी अन्तिम दर्शनों के लिए आने लगे। 9 दिसम्बर को दोपहर 11 बजे स्वामी जी के शव को फूलों से सजाकर ट्रक पर रखा गया और ज्वालापुर इण्टर कालेज के प्रिन्सिपल महोदय ने तथा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सहायक मुख्याधिष्ठाता जी ने आपके शव पर पुष्प-मालाएं चढ़ाकर दोनों संस्थाओं की ओर से सादर श्रद्धांजलि अर्पित की।

परिव्राजक जी के प्रति संस्कृत तथा हिन्दी के कवियों तथा साहित्यकारों ने अपनी भाव-भीनी श्रद्धांजलियां अर्पित की थीं। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के वेद-विभागाध्यक्ष पंडित धर्मदेव विद्यावाचस्पति, विद्यामार्तण्ड ने संस्कृत में उनके प्रति जो श्रद्धांजलि अर्पित की थी, उसे गुरुकुल पत्रिका ने अपने विशेषांक में प्रकाशित करवाया था —

दिवंगत : स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

स्वदेशस्य भक्तःस्वतन्त्रत्वसक्तः,
सदा राष्ट्रमुन्नेतु मत्रानुरक्तः।
महाल्लेखको राष्ट्रभाषाप्रवीणो,
यतिस्सत्यदेवः परिव्राट् सदेड्यः ॥1॥

विदेशेषु गत्वा सदाध्यात्मताया,
ददौ वाग्मिवर्यः सुसन्देशमुच्चम्।
युवभ्यः सदा स्फूर्तिमुग्रां ददौ यो,
यतिस्सत्यदेवः परिव्राट् सदेड्यः ॥2॥

स्वदेशः स्वतन्त्रो भवेन्नैव यावन्न,
तावद् विवाहं करिष्यामि जातु।
प्रतिज्ञामिमां पालयन् ख्यातकीर्तिः,
यतिस्सत्यदेवः परिव्राट् सदेड्यः ॥3॥

स्वतन्त्रा यदीयाभवत् संयमीषा,
न दास्यं विचारस्य कस्यापि सेहे।
सदाचाररत्नान्वितो व्यक्तवक्ता,
यतिस्सत्यदेवः परिव्राट् सवन्द्यः ॥4॥

परेशस्य भक्तो महानास्तिकोयः,
सदा देवभक्तो रतः शुद्धबुद्धिः।
सदाचारशिक्षारतो यः सदासीद्,
यतिस्सत्यदेव, परिव्राट् सवन्द्यः ॥5॥

सदा संस्कृतिर्भारतीया सुरक्ष्या,
विना तां न शक्याध्रुवा विश्वशान्तिः
शुभं सत्यसन्देशमेतं ददन्नो,
यतिः सत्यदेवः परिव्राट् सदेड्यः ॥6॥

(श्री धर्मदेवो विद्यामार्तण्डः)

9-12-61 दिवगंतस्य स्वा, सत्यदेवस्यान्त्येष्टिसंस्कारानन्तरं सभायां समर्पितः श्रद्धांजलिः[1]

1. गुरुकुल पत्रिका-जनवरी, 1962, पृ० 208

दूसरा अध्याय

परिव्राजक जी का निबन्ध-साहित्य

निबन्ध में लेखक के व्यक्तित्व की छाप निहित होती है। पाठक और निबन्ध के रचनाकार के मध्य यह निजी संवादी विधा है। निबन्धेतर विधाओं में – कहानी, नाटक, उपन्यास, खण्डकाव्य, महाकाव्य में लेखक जो भी चाहता है वह सब पात्रों के माध्यम से कहता है। उसकी स्थिति उस कठपुतली नचाने वाले के समान होती है, जो पर्दे के पीछे रहकर निर्जीव कठपुतलियों में गतिशीलता उत्पन्न करके पाठक, दर्शक अथवा श्रोताओं को उनकी ओर आकर्षित करता रहता है। परन्तु निबन्ध में लेखक का स्व-प्रधान होता है। इसीलिए निबन्ध में लेखक सम्पूर्ण शक्ति के साथ अपने विचार व्यक्त करता है। व्यक्तित्व, विषय और अभिव्यंजना की संश्लिष्टता निबन्ध का प्रमुख आधार है।

'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' ने व्यक्तित्व प्रकाशन की समस्या को लेकर महत्त्वपूर्ण मन्तव्य दिया है—

"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जान-बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक सामान्य-स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालों की-सी कसरतें या हठयोगियों के-से आसन कराये जाय जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।"[1]

पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में भी सामान्य रूप से निबन्ध किसी निश्चित विषय पर अपेक्षित विस्तार में लिखी गई गद्यमय रचना है।[2] इनसाइक्लोपेडिया अमेरिकाना के अनुसार मूलरूप में निबन्ध शब्द का तात्पर्य नाटक, उपन्यास और काव्य के

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 482
2. "In general, it is a composition, usually inprose, of moderate-length and on a restricted topic."

—Dictionery of World Literary Terms, J. T. shipley pags-145

समान किसी निश्चित विषय पर व्यक्तिगत और सीमित निरीक्षण पर आधारित विश्लेषणात्मक अथवा गद्यखण्ड से है, यह साहित्य की प्रमुख विधा है।[1]

सुप्रसिद्ध हिन्दी समीक्षक डा० जगन्नाथ शर्मा ने विषय वैविध्य और शिल्प की दृष्टि से निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार दी है—

निबन्ध में तर्क और पूर्णता के प्रति उदासीनता किसी विषय अथवा उसके वंश का लघु विस्तार स्वच्छन्दतया आत्मीयता पूर्ण शैली के द्वारा लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना प्रधान होती है।'[2]

अन्त में सारांश रूप में कहा जा सकता है कि—

'तर्क और पूर्णता का अधिक विचार न रखने वाला गद्य-रचना का वह प्रकार निबन्ध कहलाता है, जिसमें किसी विषय अथवा विषयांश का लघु विस्तार में स्वच्छन्दता एवं आत्मीयतापूर्ण ढंग से ऐसा कथन हो कि उसमें लेखक का व्यक्तित्व स्वतः झलक उठे।'

परिव्राजक जी के निबन्धों की समीक्षा करते हुए श्री ओमप्रकाश भारद्वाज, एम० ए० ने स्वामी जी के निबन्धों की तुलना चार्ल्स लैम्ब से की है। यों हिन्दी में बेकन और इमोजान सैअर्टमिन्न की निबन्ध शैली से अनुकरण की बात आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी की थी। स्वामी जी उपयोगितावादी दृष्टि से ही निबन्ध लेखन की दिशा में प्रवृत्त हुए थे। इस तथ्य की पुष्टि स्वामी जी के निजी मन्तव्य से हो जाती है—

"मैं हूं उपयोगितावादी। मुझे छायावादी और रहस्यवादी लेखक कभी पसन्द नहीं आए। दिमागी ऐयाशी की पुस्तकें और कविताएं मेरे निकट दो कौड़ी कीमत भी नहीं रखतीं। साहित्य भी एक साधन है मानव के उत्कर्ष का। जो भाषा तथा साहित्य समाज को ऊपर नहीं उठाता, दैनिक जीवन की समस्याओं को हल नहीं करता, मनोविज्ञान के चमत्कारों पर प्रकाश नहीं डालता और सत्यज्ञान की प्राप्ति में सहायक नहीं बनता, वह साहित्य और भाषा केवल समय नष्ट करनेवाली है।"[3]

परिव्राजक जी के प्रकाशित निबन्ध संकलनों की क्रमिक सूची इस प्रकार है: 1. संजीवनी बूटी (सन् 1915), 2. मनुष्य के अधिकार (सन् 1922), 3. ज्ञान के उद्यान में (सन् 1937), 4. भारतीय स्वाधीनता सन्देश (सन् 1939), 5. अनन्त की ओर (सन् 1948)।

---

1. "The word has come to mean primarily an analytical or interpretative piece of prose literature, based on observation, dealing with its subject from a limited or personal view with the drama, the novel and poetry, it is a main division of Literature."
—The Encyclopaedia Americana—Vol. 30, page 508
—1947 Edition, New York.

2. आदर्श निबन्ध—डा० जगन्नाथ शर्मा, पृ० 9, बनारस, सं० 2008

3. अनन्त की ओर—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 1

इनके अतिरिक्त उनके 5 निबन्ध 'विशाल-भारत' और 1 निबन्ध 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ है। इन निबन्धों का समावेश किसी संकलन में नहीं हुआ। इन निबन्धों को लेकर पर्याप्त विवाद हुआ।

इनमें कुछ निबन्ध ऐसे भी हैं, जो पर्याप्त विवाद और चर्चा के विषय बन गए थे। परिव्राजक जी के समकालीन साहित्यिक मित्रों में इन निबन्धों ने असाधारण कटुता उत्पन्न कर दी थी। वैचारिक-दृष्टि से प्रचलित राजनीतिक चिन्तन-धारा में सर्वथा नया तूफान खड़ा कर देने के कारण इन निबन्धों का ऐतिहासिक महत्त्व है। इन निबन्धों की चर्चा इस अध्याय के अन्त में की जाएगी।

यहां स्वामी जी के निबन्ध संकलनों पर क्रमशः विचार किया जाएगा।

संजीवनी बूटी

यह निबन्ध संग्रह दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसका प्रथम भाग सन् 1915 में प्रकाशित हुआ था, जो अब दुष्प्राप्य है। द्वितीय भाग जनवरी सन् 1939 में प्रकाशित हुआ है। इसमें कुल मिलाकर 14 अध्याय हैं, जिन्हें अलग-अलग निबन्धों के रूप में विभक्त किया गया है। इनमें अधिकांश निबन्ध गवेषणात्मक हैं।

इस पुस्तक का दूसरा नाम है 'ज्ञान की खान'। अध्ययन की दृष्टि से पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। यूनान, आर्य तथा यहूदी संस्कृतियों पर तुलनात्मक अध्ययन इसके निबन्धों का मुख्य विषय रहा है। यूनानी तथा आर्य संस्कृति को एक दूसरी का पर्यायवाची बता कर लेखक यहूदी संस्कृति की समीक्षा करता हुआ उसके द्वारा फैलाई गई धर्मान्धता और अन्ध-विश्वासों को विश्व की अशान्ति का कारण बताता है। पुस्तक दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में यहूदी विचारधारा का विवेचन किया गया है और उसे भक्ति-मार्ग का जन्मदाता बताया गया है। यहूदियों के पैगम्बरवाद को भारतीय अवतार-वाद का जनक सिद्ध किया गया है। दूसरे खण्ड में यूनान के महान सन्त सुकरात का जीवन परिचय देकर उसके सिद्धान्तों की समीक्षा की गई है। इसके उपरान्त कुछ स्वास्थ्य सम्बन्धी निबन्ध भी इसमें दिए गए हैं। पुरातत्त्व, संस्कृति और भारतीय आचार-शास्त्र की समस्याओं पर दृष्टिपात करने वाले इन निबन्धों को अनुसंधानात्मक कोटि में रखा जा सकता है।

जन-जीवन में गवेषणा का महत्त्व

इस संग्रह के पहले निबन्ध का शीर्षक है 'तलाश' जो गवेषणा, अनुसन्धान, अथवा अन्वेषण का ही एक पर्यायवाची शब्द है। इस निबन्ध में लेखक ने गवेषणा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए जिज्ञासा को उसकी जननी माना है। उसका कहना है कि मनुष्य स्वभाव से जिज्ञासु है। यह जिज्ञासा की भावना ही उसे प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को जानने के लिए प्रेरित करती है। यह जिज्ञासा क्या है, क्यों और कैसे उत्पन्न होती है, इसके सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करता हुआ लेखक कहता है—

'सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं, परंतु यह बात बिल्कुल सत्य है कि इस पृथ्वी को बने हुए करोड़ों वर्ष हो चुके हैं। जबसे मनुष्य ने होश सम्भाला है, जबसे वह पृथ्वी पर विचरने लगा है, तभी से उसमें इस अद्भुत संसार के विषय में जानने की चाह उत्पन्न हुई है। पृथ्वी के भीषण नैसर्गिक दृश्यों को देखकर उसके मन में भय का संचार हुआ, मनोहर स्थलों को देखकर उसका हृदय नाचने लगा और लावण्यमयी प्राकृतिक, शोभा ने उसका नत-मस्तक किया और वह सोचने लगा—'यह दुनिया किसने बनाई है।'[1]

शिशिर, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा आदि ऋतुएं अपने-अपने क्रम से आती हैं और चली जाती हैं। यह सब परिवर्तन किसके संकेतों पर हो रहा है वह कौन है? यह एक जिज्ञासा थी जो आदि मानव के हृदय में उत्पन्न हुई। शीतल-मन्द-सुगन्ध से युक्त वायु के झोंके, कलकल करती हुई सरिताओं, रंग-विरंगे पक्षियों को देखकर मानव-जाति के पूर्वजों के हृदय में इस जिज्ञासा का होना स्वाभाविक था कि इन सबका रचने वाला कौन है? जीवन में होने वाली अघटित घटनाओं को देखकर जरा तथा मृत्यु से पराजित मानव के हृदय में यह प्रश्न उत्पन्न होना भी स्वाभाविक था कि वह शक्ति क्या है जिस के इंगितों पर यह सब कुछ हो रहा है। इस प्रकार वह इन गूढ़ रहस्यों को जानने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता चला आ रहा है। यह संसार किसने उत्पन्न किया है? मैं कौन हूं? मेरे जीवन का आदर्श क्या है और मेरी जीवन-यात्रा का अन्त कहां और किस प्रकार होगा? यह जिज्ञासा अनन्त-काल से मानव हृदय में उत्पन्न हो रही है।

संसार में अब तक जितने अनुसंधान हुए हैं और हो रहे हैं उनका मूल रहस्य यही जिज्ञासा है। लेखक अपने इस निबन्ध में इन सब बातों पर प्रकाश डालता हुआ अन्त में अपने पाठकों से कहता है—

'मनुष्य की यह तलाश अनादि-काल से चली आ रही है और विद्वान् लोग ऐसे ही गम्भीर प्रश्नों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न सदा से करते आए हैं।'[2]

विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक के प्रारम्भ में ही मनोवैज्ञानिक गवेषणा के आधार पर जो प्रकाश डाला है, वह इस सम्पूर्ण ग्रन्थ की बिखरी हुई कड़ियों को पृथक्-पृथक् निबन्धों के रूप में संग्रहीत करके श्रृंखला का रूप दे देता है।

गवेषणा का आधार

प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को जानने के जिज्ञासु मानव ने उसकी जिन छिपी शक्तियों की खोज की, उसे उसने पृथक्-पृथक् देवताओं के रूप में मान लिया। लेखक के इस सम्बन्ध में यह विचार हैं —

'सूर्य को उसने एक महाशक्तिशाली देवता स्वीकार किया। इसी प्रकार हवा,

1. संजीवनी बूटी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 1
2. वही, पृ० 3

पानी, चांद, जंगल, पहाड़, नदी, मैदान, नगर तथा व्याधियों के भी उसने अलग-अलग देवी-देवता निश्चित किए और जब उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार का भय उत्पन्न होने की आशंका होती तो वह प्रार्थनाओं द्वारा उनसे उसे दूर करने का प्रयत्न करता, साथ ही भेंटस्वरूप अपने पशुओं का बलिदान भी देता। प्रत्येक प्रारम्भिक समाज में हम उस खोज के विकास की अवस्थाएं पाते हैं।'[1]

यूनानी संस्कृति को लेखक आर्य संस्कृति की शृंखला की कड़ी मानता है। उसका कहना है—

'आर्यवंश के लोग पृथ्वी के जिस-जिस भाग में गए हैं, वे अपनी सभ्यता और संस्कृति को साथ ले गए हैं, प्राचीन-काल के यूनानी ऐसे ही देवी-देवताओं की मूर्तियां बनाते और पूजते थे, उनके काव्य-ग्रन्थों में उनका विस्तृत वर्णन मिलता है। युद्ध के समय वे अपने नगरों के कल्याण के लिए नगर के अधिष्ठाता देवता को प्रसन्न करने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करते थे और समझते थे कि उसी की कृपा से उन्हें विजयश्री लाभ हो सकती है। अपनी पराजय को वे उसकी नाराजगी का कारण समझकर अपने आपको बड़ा अभागा मानते थे। वही विचार विकसित होकर जब आगे ईश्वर के रूप में आया तो मनुष्य यह कहने लगा—'सब कुछ करने कराने वाला वही है।'[2]

संसार में ज्ञान को विकसित करने वाली दो धाराएं प्रवाहित हुई। इनमें एक आर्य विचारधारा और दूसरी है यहूदी या सैमेटिक विचारधारा। आर्य प्रकृति के उपासक थे। उन्होंने धीरे-धीरे अपनी अनुभूति से अनेक प्रकार के देवी-देवताओं की कल्पना की और अन्त में यह परिणाम निकाला कि इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को केवल एक ही शक्ति अपने इंगितों पर नचा रही है। वही शक्ति सर्वत्र व्याप्त है।

उसी के जान लेने से इन सब गूढ़ रहस्यों को जाना जा सकता है। उन्होंने अपने इस मार्ग का नाम अध्यात्मवाद रखा और अपनी इस विद्या को ब्रह्म-विद्या कहा। वेद और उपनिषद् आर्यों के इस अध्यात्मवाद के आदि स्रोत हैं। इसी प्रकार इस वंश के जो लोग मध्य एशिया तथा यूरोप के भू-भागों में जाकर बसे उन्होंने वहां जाकर अपनी संस्कृति के अनुसार साहित्य की रचना की। प्राचीन-काल के पारसी, यूनानी तथा जर्मन लोग उन्हीं आर्यों की सन्तान हैं। उनके साहित्य तथा देवी-देवताओं में भारतीय आर्यों की चिन्तनधारा में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं है।

इसके विपरीत यहूदीवंश के लोगों ने यह परिणाम निकाला कि जैसे इस दुनिया में शक्तिशाली निरंकुशता पूर्ण शासन करते हैं, उसी प्रकार खुदा भी अपना शासन चलाता है। उनके विश्वास के अनुसार—

'स्वर्ग में एक अद्भुत शक्ति-सम्पन्न खुदा रहता है, जिसके अधीन बहुत से देवी-देवता हैं और जो अपना प्रतिनिधि दुनिया में भेजता है ताकि मानव-समाज उसके द्वारा

1. संजीवनी बूटी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 9
2. वही, पृ० 10

स्वर्गारोहण कर सके। इस प्रकार की विचारधारा को विकसित कर सैमिटिक (यहूदी) समाज के पैगम्बरों, पीरों, गुरुओं और अवतारों की प्रथा चलाई और वंश परम्परा अथवा योग्यता के अनुसार उसकी नियुक्ति करने लगे। बादशाहों की तरह उन्होंने इस खुदा के प्रतिनिधि को अधिकार दिए और बाद में उसी के अधीन लोक और परलोक के सब सुखों को मानकर उसके द्वारा शासित होने में अपना अहोभाग्य समझने लगे। जितने भिन्न-भिन्न रूप ईश्वर की खोज, उसकी प्राप्ति और उसके ज्ञान के विषय में संसार में प्रचलित हुए हैं, वे इन दोनों प्रकार की संस्कृतियों के विकृत अथवा परिष्कृत मार्ग हैं।'[1]

यहूदीवंश की विचारधारा

राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, यहूदी इस विचारधारा के समर्थक थे। उन्होंने अपने सरदार को ईश्वर, उसके मंत्री को पैगम्बर उसकी आज्ञाओं को ईश्वर-वचन मानकर ईश्वर प्राप्ति का सबसे सुगम-मार्ग खोज निकाला। कई हजार वर्ष पूर्व फिलिस्तीन में यहूदियों ने ऐसे भक्ति-मार्ग की स्थापना की थी, जिससे पैगम्बरों की परम्परा का प्रारम्भ हो गया। यहूदियों के इस भक्ति-मार्ग के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए परिव्राजक जी कहते हैं—

'यहूदियों के इस भक्ति-मार्ग ने मनुष्य-समाज को शीघ्रातिशीघ्र अपनी ओर आकर्षित किया। पैगम्बरों ने खड़े होकर बड़े-बड़े दावे किए, किसी ने चांद के दो टुकड़े किए, तो दूसरों ने अन्धों को आंखें दे दीं, एक ने ईश्वर से बातें कीं, तो दूसरे ने मुर्दे जिन्दा कर दिए, यदि किसी ने बन्ध्या को पुत्र दिया, तो दूसरे ने निर्धन को धनवान बनाया—इस प्रकार दीनों के नाथ, निर्बलों के सहायक और दुःखियों के त्राता बनकर ये पैगम्बर और मसीहा अपने शिष्यों की संख्या बढ़ाने लगे। चेलों ने भी अपनी शक्ति से बढ़कर भेंटें देनी प्रारम्भ कीं।'[2]

लेखक की यह मान्यता है कि चमत्कार को नमस्कार है के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाला यहूदियों का भक्ति-मार्ग ही धार्मिक दुकानदारियों के रूप में परिवर्तित हो गया। इनकी दुकानें मस्जिदें, गिर्जे, मन्दिर और गुरुद्वारों के साइनबोर्ड लगाकर स्थापित होती चली गईं। वह कहता है—

'चारों ओर इन पैगम्बरों, मसीहों, आचार्यों और अवतारों के शिष्य वर्ग खुदा के नाम पर दुकानदारी के लिए निकल पड़े और भक्ति-मार्ग का एक नया व्यापार संसार में प्रारम्भ हुआ। स्थान-स्थान पर इनकी कोठियां, एजेन्सियां, मस्जिदों, गिर्जों, मन्दिरों और गुरुद्वारों के रूप में स्थापित हो गईं, जहां भक्तिमार्गी जन-साधारण तुक्कड़-तावीज़ और प्रसाद के लिए हजारों की संख्या में एकत्रित होने लगे और इस प्रकार ईश्वरीय खोज का मार्ग सदा के लिए बन्द कर दिया गया। दो प्रकार के व्यापार—लौकिक और पारलौकिक—

---

1. संजीवनी बूटी —स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 12-13
2. वही, पृ० 17-18

यहूदी विचारधारा ने इसी दुनिया में निर्माण किए और पैसे का प्यारा यहूदी सोने को ही खुदा मानकर उसी को अपना सर्वोत्तम साधन बना, संसार में विचरने लगा।'[1]

यहूदी संस्कृति के अनुयायियों ने अपने पैगम्बरों द्वारा चलाए गए ईसाई-धर्म और इस्लाम का प्रचार और साम्राज्य का विस्तार करने के उद्देश्य से संसार के एक बहुत बड़े भाग्य को मनुष्य जाति के रक्त से रंग दिया।

इस प्रकार इस यहूदी विचारधारा ने मानव-समाज को अविद्या और अज्ञान के अन्धकार में भटकाकर उसे अध्यात्मवाद के प्रकाश की ओर जाने से रोक दिया। इस मार्ग के यात्री कुएं के मेंढक बनकर अपने नबी और पैगम्बरों को ही ज्ञान का आगार मान बैठे।

यहूदी विचारधारा का नया रूप

ईसाइयों ने यहूदियों की इस विचारधारा को एक नया रूप दिया। ईसा ने जो उन्हें मनुष्य-मात्र से प्रेम करने की शिक्षा दी थी, वह उनके सेवा-भाव में परिणित हो गई।

'आप रोमन कैथोलिक ईसाइयों के गिरजों और मठों में जाइए, आप उनके मिशनरियों को पृथ्वी के दुरूह भू-भागों में बैठे हुए देखिए, आप उन्हें कोढ़ियों के अस्पतालों में बीमारों की सेवा करते हुए पाइए और ईसाई-पाठशालाओं में अस्पृश्य बच्चों को प्रेम से पढ़ाते हुए सुनिये, आपका हृदय उनके इस त्याग को देखकर नाचने लगेगा और आपके मुंह से अनायास ही ऐसे शब्द निकलेंगे—कैसे त्यागी हैं ये लोग और कैसा उत्कृष्ट पथ है इनका! इन मिशनरियों में अच्छे-अच्छे घरानों के लाड़ले बच्चे अपना सब सुख त्याग कर इस पथ के पथिक बने हैं और उन्हीं के इस बलिदान को देखकर इस भक्तिमार्गी का यह सम्प्रदाय प्रशस्त हुआ है।'[2]

इन्होंने भक्ति-मार्ग को एक नया रूप दे दिया। ईसा और मरियम के रंग-बिरंगे चित्रों और मूर्तियों से गिरजाघरों की शोभा बढ़ने लगी। यहूदी मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। कला और साहित्य के लिए उनके कोश में कोई स्थान नहीं था। पर ईसा के भक्तों ने उनके भक्ति-मार्ग को एक नया रूप देकर उसका कायाकल्प कर दिया। जिसका प्रभाव संसार भर के सभी देशों पर आज भी किसी न किसी रूप में दिखाई देता है। इस सम्बन्ध में लेखक की यह मान्यता है—

'कला के क्षेत्र में इस भक्ति-मार्ग ने बड़े-बड़े चमत्कार किए हैं। संसार के प्रसिद्ध चित्रकारों की कृतियां उनके अन्धविश्वास के कारण बड़ा उत्कृष्ट स्थान पा गई हैं, उन्होंने इसी के सहारे बड़ी-बड़ी उड़ानें भरकर मानव-हृदय के सर्वोत्तम भावों का प्रदशन अपनी कृतियों में किया है। कला के इस क्षेत्र में लब्ध-प्रतिष्ठ माइकल एंजिलो इसी

---

1. संजीवनी बूटी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ 18
2. वही, पृ० 23

बात के ज्वलन्त उदाहरण थे। शिशु यीशु और माता मरियम की अत्यन्त सुन्दर तस्वीरें इस कुशल चित्रकार ने खींची हैं। इतना ही नहीं, बल्कि सनातनधर्मी ईसाइयों की पौराणिक गाथाओं में से कुछ बातें लेकर अपनी कल्पना-शक्ति से इस कला के श्रेष्ठतम नमूने वे संसार के सामने पेश कर गए हैं। इसी प्रकार अन्ध-विश्वासी बौद्ध सम्प्रदायों के शिल्पकारों ने भी अपनी-अपनी शक्ति अनुसार सात्विक भावों का प्रदर्शन अपनी कृतियों में किया है। भगवान् बुद्ध की जीवनी के भिन्न-भिन्न स्थलों के सम्बन्ध में अंधेरी गुफाओं में संगतराशी के जो विशिष्ट दृश्य अन्वेषण द्वारा पाए गए हैं, उन्हें देखकर मनुष्य श्रद्धा से नतमस्तक हो जाता है। इसी प्रकार जगत-प्रसिद्ध ताजमहल रौज़े पर जो कुरान-शरीफ की मनोहर आयतें खुदी हुई हैं, वे भी इस भक्ति-मार्ग के श्वेत पहलू को दर्शाती हैं।'[1]

भारतीय भक्ति-मार्ग और पैगम्बरी विचारधारा

लेखक की मान्यता है कि भारतीय वैष्णव-धर्म और उसका भक्ति-मार्ग ईसाइयों द्वारा परिवर्तित यहूदी विचारधारा का ही बदला हुआ रूप है। उसका कहना है –

'वैष्णव-सम्प्रदाय ने भारतीय जनता को सुसंस्कृत बनाने में बड़ा काम किया है, इसलिए इसके विरुद्ध लेखनी उठाने में हमें संकोच तो होता है, किन्तु सत्य की अवहेलना नहीं की जा सकती।···हमारा दावा है कि भक्तिमार्ग नितान्त दासता का मार्ग है। आप चाहे पैगम्बर को आत्म-समर्पण करें, उसे निर्भ्रान्त मानकर उसे ही अपना मुक्तिदाता समझें, चाहे आप भगवान् श्रीकृष्ण जी को अपना व्यक्तित्त्व देकर आत्मसमर्पण कर उन्हें ही अपने सारे पापों का त्राता मानकर उन्हीं की शरण में जाना स्वीकार करें, दोनों में कोई फर्क नहीं पड़ता। पैगम्बर है ईश्वर का प्रतिनिधि और अवतार है स्वयं ईश्वर, लेकिन हकीकत में शरीर-धारण करने के कारण सर्वव्यापक परमात्मा का प्रतिनिधि ही माना जा सकता है, उसमें भी ईश्वर की ओर बढ़ने की बजाय हम उस महापुरुष के दास बनकर उसी पर निर्भर रहने की आदत डाल लेते हैं।'[2]

---

1. संजीवनी बूटी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 24-25
2. वही, पृ० 36

देखिए —जब भक्तिमार्गी लोगों में ऐसे लोगों की वृद्धि हुई, जिनका हृदय स्त्री-सा था —अत्यन्त कोमल —तो उनमें अहिंसा के सिद्धान्त का समावेश हुआ। मनुष्य के शरीर में स्त्री-पुरुष —दो प्रकार की शक्तियां हैं। कइयों की बनावट में पुरुषत्त्व की अधिकता होती है और कई में स्त्रीत्त्व की। स्त्रीत्त्व स्वभाव वाले मनुष्य डरपोक, लज्जाशील, दयावान् और अत्यन्त सहानुभूति से भरे हुए होते हैं। उन्हें हम Lamb Nature अर्थात् कोमल-स्वभाव वाले पुकारते हैं। ऐसे मनुष्यों ने जब हिंसात्मक कुकृत्य देखे, पशुओं का करुणाजनक रुदन सुना, तब उनके हृदय में उनका स्त्रीत्त्व गुण

इस प्रकार लेखक वैष्णवों के भवितमार्ग को विशुद्ध भारतीय नहीं मानता वह उसे यहूदियों की इस परिवर्तित विचारधारा का ही रूपान्तर मानता है। यही नहीं, वह इस भवित-मार्ग को देश के दुर्भाग्य तथा सर्वनाश का कारण मानता है। वह कहता है कि इस भक्तिमार्ग ने ही क्षात्र-धर्म का लोप करके हिन्दू-जाति को कायर और निर्बल बना दिया है।

यहूदी विचारधारा की दो शाखाएं

यहूदी विचारधारा के प्रवर्त्तकों में आदम, इब्राहीम, मूसा, दाऊद तथा सुलेमान का नाम लिया जाता है। उनकी यह विचारधारा आगे चलकर दो शाखाओं में विभक्त हो गई। एक शाखा के प्रवर्त्तक थे—महात्मा ईसा और दूसरी शाखा के प्रवर्त्तक थे—हज़रत मुहम्मद। महात्मा ईसा ने मानव-जाति के प्रति 'प्रेम तथा सेवा' को प्रधानता दी थी और हज़रत मुहम्मद ने 'हिंसा' को। मुहम्मद साहब में पुरुषत्त्व के गुण अधिक थे। उन्होंने अरब की बर्बर और जंगली जातियों को क्रूर और हिंसक बना दिया। इन दोनों महात्माओं की शिक्षाओं का मनुष्य-जाति पर एक जैसा प्रभाव क्यों नहीं पड़ा, इसे स्पष्ट करते हुए परिव्राजक जी कहते हैं—

'जो वस्तु एक के लिए अमृत होती है, वही दूसरे के लिए विष हो जाती है। हज़रत ईसा मसीह के अहिंसात्मक ढंग के भवितमार्ग ने योरोप के वीर क्षत्रिय आर्यों में उत्कृष्ट सेवा की भावना भर दी और उन्हें सुसंस्कृत बना दिया। हज़रत मुहम्मद साहब में पुरुषत्त्व-गुण अधिक थे। उन्होंने जब अरब के जंगली लोगों को अपना सन्देश दिया तो उन्हें और भी अधिक हिंसक बना दिया। यही कारण है कि हम ईसाई-समाज को उन्नति की ओर शीघ्र ले जा सकते हैं, लेकिन मुस्लिम-समाज उत्कृष्ट बातों को शीघ्र

जाग उठा। उन्होंने भक्ति-मार्ग की धारा को अपने स्वभाव के अनुसार नया रूप देना चाहा। चूंकि स्त्री पुरुष को आत्मसमर्पण करती है और सोलह आना अपने आपको उसके अनुकूल बनाकर रहना जानती है, इस लिए आत्मसमर्पण के इस सिद्धान्त को स्त्रीत्त्व स्वभाव वाले इन भक्ति-मार्गियों के हाथ में बड़ा ऊंचा दरजा पाया और ये सिद्धान्त उनके मनो-विकारों की अपील भी करता था। जैसे स्त्री बलवान् शक्तिशाली पुरुष को अपने वश में कर लेती है और उससे मनमाने काम कराती है, इसी प्रकार भक्ति-मार्ग के इस रूप में पति-पत्नी की भावना भरी गई और ईश्वर को पति मानकर भक्तजन उसकी पत्नियां बने। बाहर से देखने-सुनने में इसमें बड़ा महत्त्व, बड़ा उत्कृत-भाव और बड़ा बड़प्पन भासित होता है, किन्तु यदि आप वैज्ञानिक ढंग से भक्ति-मार्ग के इस रूप का विश्लेषण करें तो आपको इसके भीषण दोषों का पता चल सकेगा।'

संजीवनी बूटी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 38-39

नहीं पकड़ता। ईसाई-समाज तो शिष्ट और सुसंस्कृत हो गया है, किन्तु मुस्लिम-समाज अभी वहुत पीछे है।'[1]

विद्वान् लेखक को अपने इस ग्रन्थ में आर्यवंश की विचारधारा पर अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट करने थे। यहूदी-वंश की विचारधारा पर प्रकट किए गए उसके यह विचार इसकी प्रस्तावना है।

•

आर्यवंश की विचारधारा

लेखक इससे पूर्व दो विचार-धाराओं का उल्लेख कर चुका है। यहूदी विचार-धारा पर अपने विचार प्रकट करने के उपरान्त वह आर्यवंश की विचारधारा की समीक्षा करता है —

यहूदी वुद्धिवाद के घोर शत्रु थे। मनुष्य के अतिरिक्त किसी में वह आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते थे। पिछली शताब्दी तक वे स्त्री-जाति को वरावरी का दरजा नहीं देते थे। वाकी प्राणियों को उन्होंने जड़वत् माना और उनके साथ वैसा ही व्यवहार किया, अलवत्ता उन्होंने सामाजिक संगठन को अवश्य दृढ़ किया। ईसाइयों ने तो अपने मसीहा के सात्त्विक उपदेशों के कारण सेवा-धर्म को अत्यन्त ऊंचा स्थान दिया है सो वह भी आर्यवंश का जो सांस्कृतिक प्रभाव हज़रत ईसा मसीह पर पड़ा था, उसी का यह पुण्य-प्रताप है। मुसलमानों में तो सेवा के इस पहलू की नितान्त कमी है।'[2]

लेखक ने अंग्रेज इतिहासकारों के इस कथन का समर्थन किया है कि आर्यवंश के लोग प्रकृति के प्रेमी थे। हिंसक जन्तुओं से भरे हुए जंगलों में वह आश्रम वनाकर रहते थे। गुरुकुलों की स्थापना करके उन्होंने ज्ञान-मार्ग को प्रशस्त किया। आगे चलकर इनकी दो शाखाएं हो गईं। एक सिन्धु नदी को पार करके शस्य-श्यामला भूमि की ओर बढ़ी और दूसरी अपनी विरादरी से पृथक् होकर पश्चिम की ओर बढ़ी।

आर्यवंश के लोग जीवन का उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्न मानते थे और यहूदी मनुष्य को जन्म से पापी मानते थे। दोनों की विचारधारा में बड़ा भारी अन्तर था। वह अन्तर क्या था इसे स्पष्ट करते हुए लेखक कहता है—

'आर्यवंश के लोग जीवन को आनन्दमय मानते थे। यहूदियों की तरह उनका आदम प्रारम्भ से ही गुनहगार नहीं वना था। यहूदी तो यह कहते थे कि मनुष्य शुरू से ही पापी है, उसने खुदा का हुक्म नहीं माना और वर्जित वृक्ष का फल खाया, इस कारण वह स्वर्ग से गिरा। उस पाप से छुड़ाने के लिए पैगम्वर आता है, जो उसके गुनाहों को क्षमा कर, फिर उसे स्वर्ग में विठलाता है। जो पैगम्बर को नहीं मानता, उसे नरक की घोर यातनाएं सहनी पड़ती हैं और सदा के लिए आग में जलना पड़ता है। आर्यवंश के लोग इन सिद्धान्तों की हंसी उड़ाते थे और उन्हें अज्ञानियों की गप्पें मानते थे। वे कहते थे

1. संजीवनी वूटी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 41
2. वही, पृ० 43

कि जीवन आनन्दमय है और प्रभु है आनन्द का आगार। हमें उस आगार की ओर बढ़ना चाहिए।'[1]

आर्यवंश की यह दो धाराएं जो भारत और यूनान में प्रवाहित हो रही थीं, उनका प्रवाह किस प्रकार एकाकी रुक गया या उसकी गति मन्द पड़ गई, यह प्रश्न है हमारे सामने ? इतिहास के रक्त-रंजित पृष्ठ इसका उत्तर दे रहे हैं। ईसा के अनुयायी धर्म-प्रचार की आड़ में साम्राज्य-विस्तार की दूषित भावना को लेकर यूनान की ओर बढ़ते चले गए। उन्होंने वहां की पुरातन संस्कृति को नष्ट कर डाला। परन्तु आर्य-संस्कृति की चिन्तन-परम्परा को वह नष्ट नहीं कर सके। भारत पर भी मुहम्मद के अनुयायी मुसलमानों ने धर्म-प्रचार और साम्राज्य-विस्तार की दूषित भावना को लेकर अनेक आक्रमण किए, पर वह उसे नष्ट नहीं कर सके। भारतीय संस्कृति आज भी जीवित है। इसका एक ही उत्तर है, वह है भारतीय अध्यात्मवाद।

इसके उपरान्त इस ग्रन्थ के दूसरे खण्ड का आरम्भ होता है। इसमें विश्व-वन्द्य सन्त सुकरात का विस्तृत जीवन चरित दिया गया है। जिसे हम निबन्ध की कोटि में न मानकर गद्य की एक स्वतन्त्र-विधा जीवन-चरित में स्थान देंगे।

इसके बाद इसमें स्वास्थ्य तथा धर्म-शिक्षा सम्बन्धी निबन्ध संकलित हैं। साहित्यिक दृष्टि से वह महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ते, इसीलिए उनके सम्बन्ध में कुछ कहना यहां आवश्यक नहीं जान पड़ा।

मनुष्य के अधिकार

निबन्ध के क्षेत्र में यह परिव्राजक जी का पहला प्रयास था। उनके इस निबन्ध संग्रह का प्रथम संस्करण 28 अप्रैल, सन् 1912 को प्रकाशित हुआ था। यह वह समय था जब हिन्दी-भाषा-भाषी थोड़ी बहुत अंग्रेजी जान लेने पर राष्ट्रभाषा हिन्दी में कुछ लिखना अपना अपमान समझते थे। 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' इस काल की इस मनोवृत्ति पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

'उच्च शिक्षा प्राप्त लोग धीरे-धीरे आने लगे पर अधिकतर यह कहते हुए कि 'मुझे तो हिन्दी आती नहीं।' इधर से जवाब मिलता था 'तो क्या हुआ ?' आ न जाएगी। कुछ काम तो शुरू कीजिए।' अतः बहुत से लोगों ने हिन्दी आने के पहले ही काम शुरू कर दिया। उनकी भाषा में जो दोष रहते थे, उनकी खातिर से दरगुज़र कर दिए जाते थे। जब वे कुछ काम कर चुकते थे···दो-चार चीज़ें लिख चुकते थे—तब तो पूरे लेखक हो जाते थे। फिर उन्हें हिन्दी आने, न आने की परवा क्यों होने लगी ?'[2]

आचार्य शुक्ल तत्कालीन हिन्दी-लेखकों पर पड़े हुए इस विदेशी प्रभाव पर एक तीखी चुटकी लेते हुए कहते हैं—

---

1. संजीवनी बूटी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 47
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 466 (15 सं०)

इस काल-खण्ड के बीच हिन्दी-लेखकों की तारीफ में प्राय: यही कहा-सुना जाता रहा कि ये संस्कृत बहुत अच्छी जानते हैं. ये अरबी-फारसी के पूरे विद्वान् हैं, ये अंग्रेजी के अच्छे पंडित हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी कि ये हिन्दी बहुत अच्छी जानते हैं। यह मालूम ही नहीं होता था कि हिन्दी भी कोई जानने की चीज़ है।'[1]

परिव्राजक जी उस समय सीधे अमेरिका से शिक्षा प्राप्त करके लौटे थे। वह भला फिर कैसे इस प्रभाव से मुक्त हो सकते थे।

इस निबन्ध-संग्रह के प्रत्येक प्रकरण का प्रारम्भ अंग्रेजी की सूक्तियों से किया गया है और फिर उनकी हिन्दी में व्याख्या की गई है। वह भी इस प्रकार जैसे कोई किसी अहिन्दी भाषा-भाषी को अंग्रेज़ी के माध्यम से अपनी बात समझाना चाहता है। जिन सूक्तियों को इस प्रकार समझाया गया है, वे सब विदेशी मनीषियों की नहीं हैं। उनमें उनकी सूक्तियां भी उद्धृत की गई हैं, जो अंग्रेजी में हैं।

इसका एक उदाहरण देखिए—

"This is God's world and we are all his children."

—DEOA DUTTA

"Justice to all and Privileges to none, should be the motto of every honest man."— 1

अर्थ : यह सृष्टि परमपिता परमात्मा की है और हम सब उसके बच्चे हैं।

प्रत्येक ईमानदार पुरुष का यह सिद्धान्त होना चाहिए कि समाज में सबके साथ न्याय हो और किसी की रियायत न की जाए।"[2]

इस संग्रह में कुल सात निबन्ध हैं। जिनका उद्देश्य है राष्ट्र के नवांकुरों को नागरिकता का ज्ञान कराना। जैसा कि इसमें दिए हुए निबन्धों के इन शीर्षकों से स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, स्वतन्त्र-अधिकार, स्वत्वरक्षा, समाधिकार, वाक्-स्वतन्त्रता, धार्मिक-स्वतन्त्रता, शासनाधिकार।

श्रेष्ठ नागरिक बनने के लिए किन-किन गुणों की आवश्यकता है, इसका इस लघु पुस्तिका में विषद् विवेचन किया गया है।

लेखक मनुष्यमात्र में भ्रातृत्व की भावना भरना चाहता है, इसीलिए वह अपने युग की नई पीढ़ियों से कहता है।

'उठो, ईश्वरदत्त सन्देश सुनो ! इसको गांवों-गांवों में ले जाओ और कहो कि मनुष्यमात्र ईश्वर की दृष्टि में बराबर और भाई है। उनको बतलाओ कि भारत हम सबकी माता है। इसके ऐश्वर्य, इसकी सम्पत्ति, इसके दु:ख, इसके सुख में सबका बराबर हिस्सा है। उनके गले मिलो और निवेदन करो कि उनके अधिकार हमारे जैसे हैं। उनसे घृणा मत करो। समाधिकार की दुदम्भि बजाओ और सबको यही शिक्षा दो कि भारत पर

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 466 (15 सं)
2. मनुष्य के अधिकार—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 57

सब भाइयों का बराबर अधिकार है। जो कुछ अन्याय पहले हो चुका, हो चुका। अपनी भूलों को स्वीकार करो, हृदयों से घृणा, द्वेष को निकाल दो। अपनी-अपनी भेड़ें मत बढ़ाओ, बल्कि "Justice to all and Privileges to none." सबके साथ न्याय और किसी की भी रियायत न की जाए। यह आदर्श सामने रखो।'[1]

वह नई दुनिया के उन्मुक्त वायुमण्डल में भ्रमण कर चुके थे। उन्होंने वहां के श्रमजीवी को होटलों में वहां के धनिक-वर्ग के साथ एक ही मेज़ पर भोजन करते हुए देखा। अपने देश के श्रमजीवियों को भी वह इसी प्रकार यहां के पूंजीपति-वर्ग के साथ समानता के अधिकार प्राप्त करने के लिए सम्बोधित करते हुए कहते हैं।

'प्यारे मज़दूर पेशा भाइयो! अपनी स्थिति को देखो। आप कब तक इस प्रकार दुःख सहते रहोगे। उठो, चिन्ता छोड़ो। अपने स्वत्त्वों को देखो, अपने अधिकारों को पहचानो। यह जगत् आपके लिए भी वैसा ही है। आप जो दुःख उठा रहे हो वह केवल आपकी अपनी अज्ञानता के कारण है। आप स्वत्त्व-रक्षा नहीं करते और स्वत्त्वरक्षा आप तभी कर सकेंगे जब आप मिलकर काम करना सीखेंगे—प्रभु आपकी सहायता करेगा।'[2]

65 वर्ष पूर्व लिखे गए इस पुस्तक के निबन्ध आज बहुत पुराने पड़ गए हैं। उन्होंने तत्कालीन भारत की जिन समस्याओं पर इस पुस्तक में प्रकाश डाला है, आज वह इतनी पुरानी पड़ गई हैं, जिन्हें पढ़ते समय स्वतन्त्र भारत के उन्मुक्त वायु-मण्डल में सांस लेने वाला नन्हा-मुन्ना बालक यह आश्चर्य करने लगता है कि लेखक किस पुरानी दुनिया की बातें कर रहा है? क्या कभी यहां कोई ऐसी जाति भी थी जिसे लोग शत्रु कहकर अपमानित करते थे, या घृणा की दृष्टि से देखते थे?

ज्ञान के उद्यान में

उनका यह निबन्ध संग्रह प्रथम बार सितम्बर सन् 1935 में प्रकाशित हुआ था। अगस्त, सन् 1947 में इसका द्वितीय संस्करण और 1954 में तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ था। इस उद्यान के चालीस पुष्प लेखक ने विश्व-वन्द्य—बापू के चरणों में इन शब्दों के साथ अर्पित किए हैं—

'आप तो चले गए, परन्तु आपकी अमर यश-सुरभि दिग्दिगन्तरों में फैल रही है। निःसन्देह आप युग-प्रवर्त्तक थे, और आपने सभ्य संसार के लोगों को नवीन विचार-धारा की ओर मोड़ दिया। यह आपका 'गांधी-युग' भगवान् बुद्ध के बाद विश्व में शान्ति लाने के लिए महान् प्रकाश-स्तम्भ का काम करेगा। मैं बड़ी श्रद्धा और स्नेह से आपके पवित्र चरणों में अपनी यह कलाकृति पहले की तरह (सन् 1936 में) सादर समर्पित करता हूं।'[3]

---

1. मनुष्य के अधिकार, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 66-67
2. वही, पृ० 52
3. ज्ञान के उद्यान में, पृ० 1

लेखक ने अपने इस संग्रह को उद्यान का रूप देकर उसके सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार किया है—

'संसार एक उद्यान है। प्रभु ने इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के सुन्दर पदार्थ उत्पन्न किए हैं। जिस ओर दृष्टि दौड़ाइए, प्राकृतिक विभिन्नता हमें विस्मित करती है। प्रात: काल जिस समय भगवान् भास्कर अपनी सुनहरी रश्मियों को वन-उपवनों में फैलाते हैं तो कैसे रंग-बिरंगे फूल जंगल की शोभा को बढ़ाते हैं। वृक्षों के पत्ते और गाने वाले पक्षियों का कलरव कैसा प्यारा मालूम होता है। किसी भी ज्ञान के प्यासे को वहां काफी सामग्री अध्ययन करने के लिए मिल जाती है। वनस्पति-शास्त्र के मर्मज्ञ वर्षों अपना जीवन जंगलों में बिता देते हैं, परन्तु तिस पर भी वे नहीं अघाते। उनके अन्वेषणों से भरे हुए ग्रन्थ पुस्तकालयों में विद्यार्थियों के हृदयों को पुलकित करते हैं और जिज्ञासु उनका आनन्द लेता हुआ सृष्टि-कर्ता को लाख बार धन्यवाद देता है कि जिसने इस उद्यान को ऐसा खूबसूरत बनाया है।'[1]

प्रस्तुत संग्रह को लेखक ने दो भागों में विभक्त किया है। पहले भाग का नाम है 'चरित्र संगठन कुंज' एवं दूसरे का नाम है 'बाग की बहार'। 'चरित्र संगठन कुंज' में विचारात्मक निबन्ध तथा बाग की बहार में भावात्मक निबन्ध संग्रहित हैं।

परिव्राजक जी के विचारात्मक निबन्धों को इस संग्रह के आधार पर चार भागों में विभक्त किया जा सकता है, जिनमें उनके 'साहित्यिक', 'राजनैतिक', 'सामाजिक' और 'आध्यात्मिक' विचारों की अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में हुई है।

साहित्यिक विचार

अपने 'राष्ट्रों का उत्थान' शीर्षक निबन्ध में साहित्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए वह कहते हैं—

'साहित्य जनता का आत्मिक भोजन है। जिस प्रकार के ग्रन्थ किसी राष्ट्र के बच्चे पढ़ते हैं, वैसा ही उनका मस्तिष्क और शक्तियां हो जाती हैं। लोग हमसे पूछते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीता के होते हुए हिन्दू भीरु क्यों हैं ? इसका उत्तर यह है कि आम जनता झूठे वैराग्य के गीत सुनती है, शृंगार-रस से भरी हुई गाथाएं और कविताएं पढ़ती है।'[2]

किसी देश के उत्थान-पतन का दायित्व उसके साहित्यकारों पर होता है। हमारी शताब्दियों की दासता का कारण राजा-महाराजाओं के टुकड़ों पर पलने वाले साहित्यकार थे। परिव्राजक जी भारतीय इतिहास के इस कटु सत्य को प्रकाश में लाते हुए इस प्रकार कहते हैं—

---

1. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 3
2. वही, पृ० 119

'संक्षेप में इस विषय पर हमारा कहना यह है कि यदि भारतवर्ष पिछले एक हज़ार वर्षों से विदेशियों के पांवों तले रौंदा गया, तो इसके विशेष कारण थे। इसमें किसी को दोष देने की आवश्यकता नहीं। हमारे खुशामदी लेखक, कवियों ने अपनी कलम का सारा जोर राजाओं की खुशामद और धनियों की तारीफ में लगा दिया। जैसा साहित्य उन्होंने पैदा किया, जैसे विचारों को उन्होंने गाया, वैसा ही जनता को उन्होंने बनाया। साहित्य प्रजा की आत्मा होती है।'[1]

यहां हम 'विशाल भारत' जुलाई 1932 के अंक में प्रकाशित उनके 'साहित्य-सेवियों के आदर्श' शीर्षक लेख के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश इसलिए उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं कि जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि आदर्श और यथार्थ के सम्बन्ध में उनके विचार क्या थे ! इस विषय पर उन्होंने अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त किए हैं—

'यह बात ध्रुव सत्य है कि साहित्य-सेवी का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। वह जनता में एक प्रकाश-स्तम्भ होता है, जिसके सहारे अशिक्षित जनता पथ-ग्रहण करती है, इसीलिए किसी भी देश का साहित्य-सेवी क्यों न हो, वह चरित्रहीन है, यदि वह वेश्या की तरह पैसा कमाने के लिए ही ग्रन्थ लिखता है, तो उसे कभी भी सच्चे साहित्य-सेवी की पदवी नहीं मिल सकती। आज यूरोप और अमेरिका में जो भयंकर नैतिक-पतन के समाचार सुनने में आते हैं, उनका कारण थर्डक्लास घासलेटी साहित्य ही है।'[2]

उन दिनों-पं० बनारसी दास चतुर्वेदी चाकलेटी साहित्य के लेखक 'पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र' के पीछे बुरी तरह पड़े हुए थे। उन्होंने विशाल भारत के माध्यम से इस प्रकार के साहित्य को घासलेटी बताते हुए एक आन्दोलन खड़ा किया था। इस आन्दोलन ने एक ऐसा रूप पकड़ लिया था जिसके कारण उनके साहित्यकार का रूप एक प्रचारक के आवरण में छिपकर रह गया था। उनके लेखों से यह प्रतिध्वनित होने लगा था कि साहित्यकार एक प्रचारक या प्रोपेगेंडिस्ट के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। 'चाकलेट' के लेखक 'श्री उग्र' ने 'मतवाला' में उन्हें इसीलिए प्रोपेगेंडिस्ट-शिरोमणि की उपाधि दे डाली थी। साहित्यकार केवल साहित्यकार है, प्रचारक या धर्मोपदेशक नहीं। इसे स्पष्ट करते हुए परिव्राजक जी ने अपने इसी लेख में लिखा था—

'सबसे पहले हम यह प्रश्न उठाते हैं, 'साहित्य-सेवी धर्म-प्रचारक है ? क्या उसका काम वही है जो किसी ईसाई मिशनरी या मौलाना, अथवा किसी भिक्षु, या किसी संन्यासी का है ? हम इस बात से सहमत नहीं। हम नहीं मानते कि साहित्य-सेवी और धर्मोपदेशक का दर्जा एक ही है। हमें भय है कि भाई बनारसीदास साहित्य शब्द को बहुत संकीर्ण-भाव से प्रयोग करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि आज से तीन सौ वर्ष पहले साहित्य शब्द केवल कविता, कहानियों, नाटक, उपन्यास तथा गद्य के सदाचार

---

1. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 121
2. विशाल भारत (भाग 10) बनारसीदास चतुर्वेदी
—जुलाई, सन् 1932 (पूर्ण अंक 55) पृ० 47

सम्बन्धी निबन्धों के लिए ही उपयोग में आता था, परन्तु आज ज्ञान के, बुद्धि के युग में इसका दायरा बहुत ही विस्तृत हो गया है।[1]

यह लेख अप्रैल मास के 'विशाल भारत' में प्रकाशित उसके संपादक चतुर्वेदी जी के हिन्दी साहित्य-सेवियों के आदर्श के विरोध में लिखा गया था। उसमें यह विचार व्यक्त किए गए थे कि आज का हिन्दी लेखक जो कोठी और बंगलों में रहता है, मोटरों और हवाई जहाजों में सैर करता है वह गरीब जनता का प्रतिनिधित्व-नहीं कर सकता और न उसके विषय में कुछ कहने का अधिकारी है। इसके विरोध में परिव्राजक जी ने कहा था —

'हम इस बात से लेखक महोदय से मतभेद रखते हैं कि साहित्य-सेवी के पास मोटर और बंगला नहीं होना चाहिए। तुलसीदास और वाल्मीकि का समय और था। वे दिन बैलगाड़ियों पर चढ़ने और पैदल घूमने के थे। आज हम उन आदर्शों को नहीं रख सकते, और न ही उन्हें साहित्य-सेवियों के गले ही मढ़ सकते हैं, मोटर में चलने वाले व्यक्ति और बंगले में रहने वाला व्यक्ति भी त्याग के आदर्श का पालन कर सकता है, यदि उसके सामने जीवन का लक्ष्य स्पष्ट हो। ऐश-आराम में पले हुए हजारों नवयुवकों ने पिछले महासमर में खुशी-खुशी अपने देश के लिए सर्वस्व त्याग कर दिया। कुटिया में रहने वाला व्यक्ति भी परम स्वार्थी हो सकता है।'[2]

परिव्राजक जी प्रोपेगेंडिस्ट साहित्यकारों के विरोधी थे। अपने परम मित्र श्री चतुर्वेदी जी की इन मनोवृत्ति की आलोचना करते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था—

'यहां पर हमारा बड़ा भारी मतभेद है 'विशाल भारत' के संपादक से। अपने लेखों में उन्होंने कुछ नाम आदर्श के तौर पर भी पेश किए हैं। हमारा इस सम्बन्ध में भी उनसे मतभेद है। मान्यवर 'पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी' ने हिन्दी की बड़ी भारी सेवा की है। हम सब उनके ऋणी हैं, परन्तु वे साहित्य-सेवियों के आदर्श-रूप नहीं हो सकते, और न स्वर्गीय पद्मसिंह साहित्य-सेवियों के आदर्श कहे जा सकते हैं। जो लोग अपने प्रशंसा के पुल बांध दें, जो उनके ग्रन्थों की तारीफ करते हुए न थकें, जो अपनी विरोधियों के गुण को स्वीकार न कर उनके दोषों को बढ़ाकर दिखलावें और उन्हें मिट्टी में मिलाने का प्रयत्न करें, ऐसे लेखक कभी भी आदर्श-रूप नहीं माने जा सकते।'[3] *

---

1. विशाल भारत (भाग 10) बनारसीदास चतुर्वेदी—जुलाई, सन् 1932 (पूर्ण अंक 55), पृ० 47-48
2. वही, पृ० 48-49
3. वही, पृ० 49-50

* समालोचक के गौरवमय पद को सुशोभित करने वाले साहित्यकार जब यह उद्देश्य सामने रखकर आलोचना करते हैं कि हमें अमुक को ऊंचा उठाना है और

राजनीतिक विचार

उनके राजनीतिक विचार बड़े उग्र थे। वह महात्मा गांधी के समान शान्तिपूर्ण समझौते में विश्वास नहीं रखते थे। 'आत्म विश्वास' शीर्षक लेख में इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए वह कहते हैं—

'विश्वास! विश्वास में गज़ब की शक्ति है, शक्तियों का पुंज है। जो दशा व्यक्तियों की है, वही जातियों की भी है। जिस जाति को अपने भविष्य पर विश्वास है, जो अपने आपको महान से महान कार्य करने योग्य समझती है, वह जाति अवश्य ही अपने उद्देश्य को पूरा कर सकती है। जो जाति अपने को अयोग्य समझती है, जिसको अपने ऊपर विश्वास नहीं है, जो दूसरे के सहारे चलने में ही अपना मोक्ष मानती है, जिसको भीख मांगने की आदत है, वह कभी भी अपनी अवस्था को पलट नहीं सकती। जिस राष्ट्र के लोग समझते हैं—'हम अयोग्य हैं, हम कुछ नहीं कर सकते, हमको उठने के लिए शताब्दियां चाहिए, हममें यह नहीं है, हममें वह नहीं है' —ऐसे राष्ट्र के लोग कभी उठ नहीं सकते। उनको साक्षात् ब्रह्मा भी उठा नहीं सकता। सबसे पहले आत्म-विश्वास होना चाहिए "I will do it or die for it" अर्थात् मैं यह काम कर डालूंगा या इसके लिए मर मिटूंगा।'[1]

कांग्रेस की मुसलमानों को सन्तुष्ट करने की नीति का उन्होंने खुलकर विरोध किया था। इस विरोध का आधार था मुसलिम नेता मोहम्मद अली जिन्ना का दो जातियों का सिद्धान्त जिसमें उन्होंने हिन्दू तथा मुसलमान दो पृथक्-पृथक् जातियों के लिए दो राष्ट्रों की मांग की थी। परिव्राजक जी ने इस ओर तत्कालीन कांग्रेस के नेताओं का ध्यान दिलाते हुए कहा था —

'हम आज एक नए युग का द्वार खटखटा रहे हैं। हमें आज अपने राष्ट्र का निर्माण करना है। वह निर्माण कार्य किस सामग्री से होगा? भारतवर्ष में रहने वाले सात करोड़ मुसलमान अपनी आत्मिक खुराक कहां से लेते हैं?

अमुक को मिट्टी में मिलाना है, तो साहित्य के क्षेत्र में एक भयानक भूकम्प आ जाता है। अनेक प्रतिभाएं मिट्टी में मिल जाती हैं और उनमें प्रतिक्रिया की भावनाएं उत्पन्न हो जाती हैं। 'निराला' और 'उग्र' में जो समाज के प्रति विद्रोह की भावना जागृत हो उठी थी, उसके एकमात्र कारण ऐसे ही तथाकथित आलोचक हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा तथा श्री चतुर्वेदी जी उस समय के श्री सुमित्रानन्दन पंत, निराला और क्रांतिकारी लेखक 'श्री उग्र' के घोर समीक्षक थे। परिव्राजक जी ने यद्यपि अपने इस लेख में इन साहित्यकारों की चर्चा नहीं की, पर उनका संकेत इन्हीं की ओर है। परिव्राजक जी के कथन में उनकी व्यक्तिगत ईर्ष्या और कटुता भी दृष्टिगत होती है। वह आचार्य द्विवेदी और पं० पद्मसिंह से निजी कारणों से खिंचे हुए थे।

1. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 62

कोई सोसाइटी अथवा आन्दोलन उनमें नहीं है जो उन्हें सच्चरित्रता की ओर ले जाने वाला हो। उनकी सारी शिक्षा साम्प्रदायिक है और मजहबी कठमुल्लापन उनमें ठूंस-ठूंसकर भरा जाता है। आपका बीस वर्षों का पुराना मुसलमान नौकर, हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा होने पर हमेशा अपने मजहब वालों की तरफ जाता है, न्याय-अन्याय पहचानने की बुद्धि उसके पास है ही नहीं। वह बुरे से बुरा कर्म भी मजहब के नाम पर कर बैठता है। इस प्रवाह को कांग्रेस कैसे रोकेगी।'[1]

वे देश को युग के अनुरूप प्रगति के सांचे में ढला हुआ देखना चाहते थे। उनका विश्वास था यदि ... आपको नहीं ढाला तो ... जीवित जाति के चिह्न' ...

'महाम... ...र वीर प्रवर हिटलर ने ... शस्त्रों से सुसज्जित कर ... ों, उन्हें उसने सुखा दिए ... ृंखलता की ओर ले जा... शिकंजे से बचकर अप... उतार दिया। इस प्र... ो मिटा, उसे आशा की ... गौरव को पाने लगा ...

हिटल... ...ाम्यवादी विचार-धारा ... ...तक तथा फ्रांसीसी हथक... ...ें उन्होंने जो अपने विच... ...ा, इसका भी आभास ...

सामाजिक वि...

उनके ... ...ौर अन्ध-विश्वास को ... ...के समान उन्होंने हर क... ...हम बहुत पीछे रह गए ... निबन्ध में वह अन्ध-विश... ...हुए कहते हैं—

---

1. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 207
2. वही, पृ० 198

राजनीतिक विचार

उनके राजनीतिक विचार बड़े उग्र थे। वह महात्मा गांधी के समान शान्तिपूर्ण समझौते में विश्वास नहीं रखते थे। 'आत्म विश्वास' शीर्षक लेख में इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए वह कहते हैं—

...का पुंज है। जो दशा
...विष्य पर विश्वास है,
...वह जाति अवश्य ही
...समझती है, जिसको
...ना मोक्ष मानती है,
...पलट नहीं सकती।
...सकते, हमको उठने
...—ऐसे राष्ट्र के लोग
...सबसे पहले आत्म-
...यह काम कर डालूंगा

...होंने खुलकर विरोध
...जिन्ना का दो जातियों
...जातियों के लिए दो
...के नेताओं का ध्यान

...राज अपने राष्ट्र का
...में रहने वाले सात

...भयानक भूकम्प आ
...प्रतिक्रिया की भाव-
...के प्रति विद्रोह की
...तथाकथित आलोचक
...श्री सुमित्रानन्दन
...क्षक थे। परिव्राजक जी ने यद्यपि अपने इस लेख में इन साहित्यकारों की चर्चा नहीं की, पर उनका संकेत इन्हीं की ओर है। परिव्राजक जी के कथन में उनकी व्यक्तिगत ईर्ष्या और कटुता भी दृष्टिगत होती है। वह आचार्य द्विवेदी और पं० पद्मसिंह से निजी कारणों से खिचे हुए थे।

1. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 62

कोई सोसाइटी अथवा आन्दोलन उनमें नहीं है जो उन्हें सच्चरित्रता की ओर ले जाने वाला हो। उनकी सारी शिक्षा साम्प्रदायिक है और मजहबी कठमुल्लापन उनमें ठूंस-ठूंसकर भरा जाता है। आपका बीस वर्षों का पुराना मुसलमान नौकर, हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा होने पर हमेशा अपने मजहब वालों की तरफ जाता है, न्याय-अन्याय पहचानने की बुद्धि उसके पास है ही नहीं। वह बुरे से बुरा कर्म भी मजहब के नाम पर कर बैठता है। इस प्रवाह को कांग्रेस कैसे रोकेगी।'[1]

वे देश को युग के अनुरूप प्रगति के सांचे में ढला हुआ देखना चाहते थे। उनका विश्वास था यदि बीसवीं शताब्दी की नवीन परिस्थितियों के अनुसार हमने अपने आपको नहीं ढाला तो विज्ञान की भयंकर शक्ति हमारा अस्तित्व मिटा देगी। इसलिए 'जीवित जाति के चिह्न' शीर्षक निबन्ध में वह कहते हैं—

'महासमर के बाद जर्मन निराशाओं और झूठे वैराग्य में डूब गया था, मगर वीर प्रवर हिटलर ने डूबते हुए जर्मनी को उबार लिया, उसे समय के अनुसार अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर दिया। जो विचारधाराएं जर्मनी के विवेक पर मिट्टी डाल रही थीं, उन्हें उसने सुखा दिया और जो सोसाइटियां जर्मन युवकों को स्वच्छन्दता और उश्रृंखलता की ओर ले जा रही थीं, उनका उसने गला घोंट दिया। जो पापात्मा कानून के शिकंजे से बचकर अपना उल्लू सीधा कर रहे थे, नाजियों ने उन्हें चुपके से मौत के घाट उतार दिया। इस प्रकार इस वीर ने जर्मनी का कूड़ा-कचरा साफ कर उसकी दुर्गन्ध को मिटा, उसे आशा की गंगा में नहला दिया, इसी वजह से आज जर्मनी फिर अपने पुराने गौरव को पाने लगा है।'[2]

हिटलर के राष्ट्रीय समाजवाद के वह समर्थक थे और कार्लमार्क्स की साम्यवादी विचार-धारा के वे विरोधी थे।' 'साइबेरिया की जेल से सरहदी की जेल तक तथा फ्रांसीसी हथकण्डे' शीर्षक कहानियों में मिल जाता है। उपर्युक्त अवतरण में उन्होंने जो अपने विचार व्यक्त किए हैं, उनमें हिटलर के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या था, इसका भी आभास मिलता है।

सामाजिक विचार

उनके सामाजिक विचार बड़े क्रान्तिकारी थे। स्वार्थपरता, कायरता और अन्ध-विश्वास को वह समाज का सबसे बड़ा शत्रु मानते थे। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के समान उन्होंने हर कदम पर अन्ध-विश्वास का, जिसके कारण जीवन की दौड़ में आज हम बहुत पीछे रह गए हैं, खुलकर विरोध किया है। 'शुद्ध विचार के तीन शत्रु' शीर्षक निबन्ध में वह अन्ध-विश्वास के अन्धकार में पड़े हुए भारतवासियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

---

1. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 207
2. वही, पृ० 198

'सचमुच अन्ध-विश्वास मानवता का विकट शत्रु है। लोग इसके वशीभूत होकर देवी-देवताओं के सामने छोटे-छोटे बच्चों तक की बलि कर डालते हैं, दूसरों के अधिकार छीनकर उनके साथ अत्यन्त कुत्सित व्यवहार करते हैं और यहां तक कि वे अपने ही भाई मनुष्यों को देव-दर्शन के लिए मन्दिरों में भी जाने नहीं देते—पानी पीने के लिए कुओं पर नहीं चढ़ने देते।'[1]

आचार्य चतुरसेन के समान उनकी लेखनी ने अन्धविश्वास का सर्वत्र विरोध किया है। उनकी शैली रूढ़िवाद के विरोध के सम्बन्ध में व्यक्त किए गए विचारों का खण्डन करते समय जब उग्र रूप धारण कर लेती है तब हम दोनों की शैलियों में एक प्रकार की एकरूपता पाते हैं। आचार्य जी के इस अवतरण के साथ परिव्राजक जी के उपर्युक्त अवतरण की तुलना कीजिए—

'आज धर्म के लिए हमारे घरों में तीन करोड़ विधवाएं चुपचाप आंसू पीकर जी रही हैं। 7 करोड़ अछूत कीड़े-मकोड़े बने हुए हैं। धर्म ही के कारण पाखण्डी, घमण्डी गर्वगण्ड ब्रह्मण सर्वश्रेष्ठ बने हुए हैं। धर्म ही के कारण पत्थरों की भद्दी और बेहूदी अश्लील मूर्तियां तकपूज्यनीय बनी हुई हैं। धर्म ही के कारण पत्थर को परमेश्वर कहने वाले पेशेवर गुनहगार पुजारी लाखों स्त्री-पुरुषों से पैरों को पुजाते हैं।'[2]

परिव्राजक जी और आचार्य चतुरसेन आर्यसमाजी परिवारों में पलकर बड़े हुए थे। आर्यसमाज के संस्कार उन्हें विरासत में मिले थे। जो आगे चलकर उनके क्रांतिकारी विचारों का पल्लवन करने में सहायक सिद्ध हुए। धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों का खण्डन करने में उनकी शैली का तीखापन इसी संस्कार की देन है। और उनकी भाषा स्वगन शैली का एक अच्छा उदाहरण बन जाती है।

शिक्षा के सम्बन्ध में जो उनके विचार थे, उनमें भी हम उनका क्रान्तिकारी दृष्टिकोण पाते हैं। पुराने ढंग की पंडिताऊ तथा तत्कालीन अंग्रेजी राज्य के क्लर्कों की लम्बी चौड़ी सेना तैयार करने वाली अंग्रेजी शिक्षा से उन्हें घृणा थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—

'दूसरी शिक्षा प्रणाली अंग्रेजी ढंग की है। बहुत से भाई यह समझते हैं कि अंग्रेजी शिक्षा द्वारा हम शिक्षा के महान् उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं, परन्तु पिछले 100 वर्षों का अनुभव हमें बतलाता है कि जिस ढंग की अंग्रेजी शिक्षा भारतवर्ष में प्रचलित है, उससे कभी भी देश का कल्याण नहीं हो सकता। अंग्रेजी स्कूलों में शिक्षा पाए हुए लाखों भारतीय आज गवर्नमेंट के भिन्न-भिन्न विभागों में नियुक्त हैं। हज़ारों रेलवे कर्मचारियों का काम करते हैं। इन शिक्षित लोगों से देश का क्या उपकार होता है?'[3]

---

1. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 93
2. धर्म के नाम पर—आचार्य चतुरसेन शास्त्री, पृ० 2-3 (प्रथम सं०)
3. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 152-53

यह वह युग था जब एक ओर आधुनिकता के नाम पर नया चिन्तन योरोप से आ रहा था तो दूसरी ओर संस्कृत पाठशालाओं और मकतबों में कठमुल्लापन और पुराना रूढ़िवाद भारतीय जीवन को जकड़े हुए था। इस नवजागरण की वेला में स्वामी जी के समान ही श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने भी राष्ट्रीय शिक्षा का उद्देश्य इस प्रकार स्पष्ट किया—

"हमारी शिक्षा जहां तक सम्भव हो असाम्प्रदायिक, उदार तथा सस्ती होनी चाहिए। हमें अपने प्राइवेट स्कूलों तथा कालेजों में, जहां तक संभव हो सके सरकारी स्कूलों की अनावश्यक संकीर्णता तथा कड़ाइयों को भी दूर रखना चाहिए। विशेषकर लड़कियों के स्कूलों तथा कालेजों में यह बात बहुत दर्जे तक संभव हो सकती है। इसके लिए आवश्यक है कि हम अपने प्राइवेट स्कूलों का प्रबन्ध जिले के अफसरों के हाथों में न सौंप दिया करें। किन्तु साथ ही हमें स्मरण रखना चाहिए कि जो शिक्षा हमें प्राचीन संस्थाओं तथा प्राचीन विचारों में ही फांसे रखती हो, वह शिक्षा अर्वाचीन समय में शिक्षा कहलाने के योग्य नहीं है। वह शिक्षा, शिक्षा कहलाने योग्य है जो हमें उदार तथा मनस्वी बनाती हो, संसार के उन्नत राष्ट्रों की स्थिति, उनके इतिहास तथा निज राष्ट्र की वर्तमान स्थिति का हमें बोध कराती हो।"[1]

उस दासता के युग में स्वतन्त्र भारत का स्वप्न देखने वाले देश के इन दो विचारकों ने शिक्षा के सम्बन्ध में अपने जो विचार प्रकट किए हैं, उनमें विचारों की दृष्टि से तो समानता है ही, पर शैली की दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त साम्य है। छोटे-छोटे वाक्यों की कड़ियां जोड़कर उन्हें शृंखला का रूप देते हुए दोनों विचारकों ने जिस समीकृत शैली में अपने विचार व्यक्त किए हैं, उन्हें साधारण पाठक भी सहज ही में ग्रहण कर लेता है। यह छोटे-छोटे वाक्य सूक्तियों के रूप में उसके हृदय-पटल पर अंकित हो जाते हैं।

भारतीय स्वाधीनता-सन्देश

सन् 1939 के अक्तूबर मास में यह पुस्तक 'कायदे आज़म' मुहम्मद अली जिन्ना के दो जातियों वाले सिद्धांत की प्रतिक्रिया के रूप में लिखी गई थी। इसमें कुल मिलाकर तत्कालीन परिस्थितियों को सम्मुख रख कर लिखे गए इक्कीस निबन्ध हैं। जिन्हें पृथक्-पृथक् अध्यायों में विभक्त किया गया है और उन अध्यायों को 'अध्याय' नाम न देकर 'आशाकिरण' नाम दिया गया है। यथा—पहली आशाकिरण, दूसरी आशाकिरण इत्यादि।

इसकी समीक्षा करते समय 'पाकिस्तान एक मृगतृष्णा' के नाम से प्रकाशित लेखक की इस पुस्तिका को विस्मृत नहीं किया जा सकता। वह इस महाग्रन्थ का उपसंहार या परिशिष्ट है। कांग्रेसी नेताओं की मुस्लिमपरस्ती और भारत के बहुसंख्यक हिन्दुओं के अधिकारों के प्रति दिखाई गई उदासीनता की इसमें कड़ी आलोचना की गई है। इसकी प्रस्तावना में लेखक ने खुले शब्दों में कांग्रेसी नेताओं को यह चेतावनी दी है—

---

1. गणेशशंकर विद्यार्थी के श्रेष्ठ निबन्ध, पृ० 54

"हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की समस्या हमारे कांग्रेसी नेताओं को खाये जा रही है, लेकिन है वह कितनी आसान। यदि हम जी कड़ा कर देश की बहुसंख्यक आबादी को सुसंगठित करने में अपने प्राणों की बाजी लगा दें तो हमारी यह समस्या आप ही आप हल हो जाए। आत्मविश्वास की कमी और भय से परिपूर्ण हृदय, ये हमारे नेताओं की दो बड़ी कमज़ोरियां हैं। यदि वे इन्हें दूर कर राष्ट्रीय दृष्टिकोण बना, इस देश की बड़ी आबादी में राष्ट्रीय आदर्श फैलाकर इसका खुला सामाजिक जीवन बना देते तो मुसलमान और ईसाई बड़ी खुशी से राष्ट्रीय झण्डे के नीचे आकर एकता के सूत्र में बद्ध हो जाते। हमने इस प्रथम खण्ड में इतिहास की घटनाओं के आधार पर इसी विषय की विवेचना की है।"[1]

जिस समय यह निबन्ध लिखे गए थे उस समय देश का वातावरण साम्प्रदायिकता के कारण दूषित हो चुका था। मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए उनसे किसी प्रकार का समझौता करना राष्ट्रवादी हिन्दू पसन्द नहीं करते थे, क्योंकि उन सबके सामने लीगी नेताओं द्वारा थोपी गई भारत-विभाजन की समस्या एक प्रश्न-चिह्न बन चुकी थी। लेखक इसीलिए अपनी इस पुस्तक के 'स्वराज्य की समस्या' शीर्षक प्रकरण में खुले शब्दों में कहता है—

"यदि महात्मा गांधी जी राजनीतिक क्षेत्र में लोकमान्य तिलक जी की तरह स्वाभाविक चाल से चलते और मौलवी-मुल्लाओं को राजनीतिक क्षेत्र में न लाते तो देश को स्वराज्य प्राप्ति का सीधा सरल मार्ग मिलता और जो नई समस्याएं हिन्दू और मुसलमानों के बीच में अब खड़ी हो गई हैं, वे कदापि न होतीं।"[2]

उस समय भारत की स्वराज्य समस्या हल करने के लिए कांग्रेस, हिन्दू महासभा, मुस्लिम-लीग ये तीन संस्थाएं थीं। इन तीनों का परिचय परिव्राजक जी ने अपने इस ग्रन्थ में दिया है।

अनन्त की ओर

यह परिव्राजक जी के आध्यात्मिक निबन्धों का संग्रह है। जिसका प्रथम संस्करण दिसम्बर सन् 1948 में प्रकाशित हुआ था। इसमें उनके कुल मिलाकर तेरह निबन्ध संग्रहीत हैं। जिन्हें उन्होंने 'श्रद्धा के फूल' के रूप में अपनी माता 'नारायण देवी' को समर्पित किया है। अपने इन आध्यात्मिक निबन्धों के सम्बन्ध में वह इस संग्रह की भूमिका में कहते हैं—

"हमारे यहां अध्यात्मवाद का अर्थ दीन-दुनिया से अलग होकर योग-साधना माना जाता है, किन्तु मुझे ऐसा अध्यात्मवाद कभी पसन्द नहीं आया।"[3]

---

1. भारतीय स्वाधीनता संदेश—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, (प्रस्तावना)
2. वही—पृ० 24
3. अनन्त की ओर—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, (भूमिका से)

वह स्वयं को सुकरात का शिष्य मानते थे, अध्यात्म उनकी दृष्टि में जीवन को रूपान्तरित करने वाली शक्ति थी, पलायन करा देने वाली प्रतिक्रिया नहीं। जीवन का नैतिक और उपयोगी आधार ही उनकी आध्यात्मिक साधना का फल था।

आध्यात्मिक विचार

सृष्टि के आदि-काल से लेकर अब तक मनुष्य अभावों से ग्रस्त रहा है। इनकी पूर्ति के लिए उसे निरन्तर विघ्न-बाधाओं से संघर्ष करना पड़ा है। यह संघर्ष ही उसे प्रगति की ओर अग्रसर कर रहा है। सृष्टि के आदि-काल से नग्न रहने वाले मनु-पुत्र को शिशिर और हेमन्त की शरीर कम्पा देने वाली बर्फीली वायु, ग्रीष्म-ऋतु में सूर्य की प्रचंड उष्मा और सावन-भादों की कड़ी वर्षा में उसे अपने कबीले को लेकर आश्रय की खोज में इधर से उधर भटकना पड़ा।

"परन्तु जीवन के संघर्ष में प्रलय को पराजित करने वाले मनु के पुत्र ने अपनी हार स्वीकार नहीं की वह अपने अभावों एवं विघ्न-बाधाओं को पूरा करने के लिए प्रकृति से जूझता रहा। उसने प्रकृति को पराजित करके विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त की। सहस्रों वर्ष के इस संघर्ष के उपरान्त इस संसार को जहां भयंकर विषधरों के भय की आशंका के कारण कदम फूंक-फूंककर रखने पड़ते थे, उसने ऐसा रूप दे दिया कि उसके सामने स्वर्ग भी तुच्छ जान पड़ने लगा। उसके अभाव तो दूर हो गए, किन्तु उसके साथ ही साथ उसके मन की शांति भी समाप्त हो गई। आज के इस संसार में जहां सब प्रकार के सुख-साधन प्राप्त हैं, उसे उनकी प्राप्ति के लिए अभावों से लड़ना पड़ रहा है। उसे लगता है जैसे वह अपने हृदय की कोई प्यारी वस्तु खो बैठा है। वह वस्तु क्या है ? वह है उसके हृदय की शांति।"

परिव्राजक जी के आध्यात्मिक निबन्धों का प्रतिपाद्य है—मानव को उस शान्ति की ओर ले जाना जिसके बिना वह चिरकाल से भटक रहा है। इस पर अपने विचार प्रकट करते हुए अपने 'अखण्ड शान्ति की अनुभूति' शीर्षक निबन्ध में परिव्राजक जी इस प्रकार कहते हैं—

"यह पवित्र विश्वात्मा आनन्द-शान्ति का स्रोत है। ज्यों ही हम इसके साथ एकता स्थापित कर लेते हैं, त्यों ही शान्ति और एकत्व की धारा का रसास्वादन हमें मिलने लगता है, क्योंकि शान्ति का अर्थ है—एकत्व की स्थापना। एक गम्भीर आन्तरिक अभिप्राय इस सत्य सिद्धान्त की जड़ में काम कर रहा है। अध्यात्मवादी होने का अर्थ सजीव और शान्त होना है। इस तथ्य को पहचानना कि हम आत्मा हैं और इसी विचार में निमग्न रहना ही अध्यात्मवाद की ओर मुंह करना है और इस प्रकार एकता और शान्ति का वातावरण पैदा करना है।"[1]

शान्ति क्या है ? कहां है ? वह कैसे प्राप्त हो सकती है यह एक समस्या है हमारे

---

1. अनन्त की ओर—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 165

सामने। हम इसे आज तक नहीं सुलझा पाये। चिन्तनशील दार्शनिकों ने इस समस्या पर अपने-अपने ढंग से विचार किया है। परिव्राजक जी इसे सुलझाने का मार्ग-दर्शन करते हुए कहते हैं—

"हमारे इर्द-गिर्द लाखों स्त्री-पुरुष चिन्ता के मारे हुए दुःखी और अशान्त दिखाई पड़ते हैं, जो इधर-उधर शान्ति के लिए भटक रहे हैं और जिनके शरीर और आत्मा थकावट से चूर हैं। वे शान्ति की तलाश में दूसरे देशों की यात्रा करते हैं, पृथ्वी-प्रदक्षिणा करते हैं, तीर्थों की हवा खाते हैं, हरिद्वार में जाकर गंगाजी में डुबकियां लगाते हैं, मुक्ति की तलाश में काशी या प्रयाग की धूल फांकते हैं। किन्तु शोक ! उन्हें कहीं भी शान्ति उपलब्ध नहीं होती। नि.सन्देह उन्हें शान्ति नहीं मिलती और न कभी मिलेगी, क्योंकि वे अभागे उन स्थानों में जाकर शान्ति तलाश करते हैं, जहां शान्ति की छाया तक नहीं। उन्हें चाहिए तो यह कि वे अपने अन्दर शान्ति की खोज करें, किन्तु अज्ञानवश करते हैं उसकी खोज बाह्य-जगत में। शान्ति केवल अपने अन्दर ही मिल सकती है और जब तक मनुष्य उसे अपने अन्तस्थल में नहीं पाएगा, वह उसे कहीं नहीं मिल सकती।"[1]

वह सर्व धर्म समभाव के विश्वासी थे। सब धर्मों की बुनियादी एकता में विश्वास रखते थे। उनका विश्वास था कि संसार भर के समस्त धर्मों का लक्ष्य एक ही है। पूजा, नमाज़ और प्रार्थना करने के ढंग अलग-अलग हैं। 'मेधा और आन्तरिक ज्योति' शीर्षक निबन्ध में वह कहते हैं—

"आज दुनिया इस प्रकार के करोड़ों मनुष्यों से भरी हुई है, जो अपने-अपने सम्प्रदाय को सर्वोपरि समझकर दूसरों के मजहबों का मखौल उड़ाते हैं। वे कूप-मंडूक की तरह यह समझते हैं कि सारा सत्यज्ञान उन्हीं के पास है और वे ही ईश्वर के परम प्यारे हैं और उन्हीं की भाषा ईश्वर की खास बोलने की भाषा है। ऐसे हठधर्मी लोगों पर अजीब तरह का पागलपन सवार होता है और वे अपने क्षुद्र ज्ञान के घमण्ड में किसी विद्वान् को कुछ नहीं गिनते। उपनिषद् कहता है—'यस्यामत्तम तस्यामतम मतभयस्य न वेद सः' अर्थात् जो कहता है मैं नहीं जानता, वही जानता है, जो कहता है मैं जानता हूं, वही अज्ञानी है। संत सुकरात से किसी ने बुढ़ापे में पूछा कि आपने अपनी सारी आयु में क्या सीखा ? तो युग-प्रवर्तक उस महापुरुष ने गम्भीरता से उत्तर दिया 'मैंने अपनी सारी आयु में यही सीखा है कि मैं कुछ नहीं जानता।' राजर्षि भर्तृहरि ने भी यही बात कही है—'जब मैं मूर्ख था तो अपने आपको बड़ा पंडित, अनुभवी और ज्ञानवान् समझता था, किन्तु जब धीरे-धीरे विद्वानों के सम्पर्क से मुझे कुछ ज्ञान प्राप्ति हुई तो मुझे पता लगा कि मैं कुछ नहीं जानता हूं।' संसार के सारे विद्वान् इस सच्चाई के सामने सिर झुकाते हैं कि ज्यों-ज्यों मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसे अपनी अज्ञानता का पता लगता जाता है।"[2]

---

1. अनन्त की ओर—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 165
2. वही, पृ० 140-41

वह आप्त प्रमाण की परम्परा के विरोधी थे। तर्क और विवेक की प्रतिष्ठा उन्होंने की। उन्होंने अपने आध्यात्मिक निबन्धों में प्रमाणवाद के विरुद्ध क्रान्ति का शंखनाद किया है। इसीलिए वह अपने युग की नई पीढ़ियों को वेद, कुरान और बाइबिल आदि धर्मग्रन्थों का अन्धानुकरण करने के विरुद्ध परामर्श देते हुए कहते हैं—

"आइये, अब हम अनन्त ज्ञान की खोज करने वाले यात्री बनें और उन्नति-पथ पर आरूढ़ हों। हमें किसी इलहामी किताब से कोई मतलब नहीं और न किसी पीर-पैगम्बर से ही कोई काम है। हमें अपने निजी अनुभव द्वारा ज्ञान संचय करना चाहिए, इस विशाल पथ पर आंख-कान खोलकर, चैतन्य होकर चलना चाहिए और अपने निरीक्षण द्वारा अनुभव प्राप्त करना चाहिए। दूसरों के अनुभवों से लाभ अवश्य उठाइए, परन्तु उन्हें वेद-वाक्य समझकर अपनी अकल में ताला न लगाइए?"[1]

आध्यात्मिक निबन्धों में कहीं-कहीं वे पुरानी कहानियों व दृष्टान्तों की सहायता से विषय को इतना सरस और सरल बना देते हैं कि जिसके कारण साधारण पाठक भी उनके प्रतिपाद्य विषय को सहज ही हृदयंगम कर लेता है—इसका एक उदाहरण देखिए—

"पंचतंत्र में एक कथा आती है। एक मेंढक कुएं में रहता था और उसी में फुदक-फुदककर अपना जीवन व्यतीत करता था। उसके पास एक समुद्र में रहने वाला मेंढक मिलने के लिए आया। आपस में बातचीत होने लगी। कुएं के मेंढक ने पूछा—'भैया, आप कहां रहते हैं?' समुद्र के मेंढक ने उत्तर दिया, 'मैं महासागर में रहता हूं।' इस पर कुएं का मेंढक बोला—'तुम्हारा महासागर कितना बड़ा है?' उसका मेहमान बेपरवाही से बोला—'समुद्र बहुत बड़ा होता है', तब कुएं के मेंढक ने पास पड़े हुए पत्थर तक कूद कर कहा—'क्या इतना बड़ा?' तब कूप-मंडूक ने नयी छलांग भरी और कहने लगा—'इससे तो बड़ा हो ही नहीं सकता।' इस पर समुद्री मेंढक खिलखिलाकर हंसने लगा और बोला—'मेरे सागर में तुम्हारे जैसे इस कुएं के समान असंख्य कूप भी समा सकते हैं।' अविश्वास में मत्त कूप-मडूक विरोध कर कहने लगा—'झूठ! सरासर झूठ!! भला इस कुएं से बड़ा कोई समुद्र हो सकता है?' ऐसी दशा है उन लोगों की, जो कुएं के मेंढकों की तरह अपने मजहबी ग्रन्थों को ही सबसे बड़ा ज्ञान-सागर समझते हैं और दावा करते हैं कि उनके ग्रन्थों से बाहर कोई सचाई नहीं हो सकती।"

उनके आध्यात्मिक निबन्धों में लाक्षणिकता भी कहीं-कहीं देखने को मिलती है। विचारों और भावों का यह इन्द्र-धनुषी रंग पाठक को मन्त्र-मुग्ध कर देता है। भावात्मक-शैली में लिखे गए उनके यह आध्यात्मिक निबन्ध भाषा-शैली की दृष्टि से कहीं-कहीं सरदार पूर्णसिंह की शैली से मेल खाते हुए जान पड़ते हैं। यहां इसका एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

---

1. अनन्त की ओर—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 41
2. वही, पृ० 139-40

"एक जला हुआ दीपक लाखों दीपकों को जला सकता है, किन्तु जिनके अन्दर अन्धकार है, वे दूसरों को प्रकाश कहां से दे सकते हैं ? पहले अपने अन्दर आत्मिक ज्योति का प्रकाश होना चाहिए, तभी हम दूसरों का मार्ग-प्रदर्शन कर सकते हैं, यह मार्ग-प्रदर्शन कोरे शब्दों से नहीं होता, बल्कि इसके लिए बलिदान करना पड़ता है और यह बलिदान ही आत्मिक सूर्य की रश्मियों को चारों ओर फैलाता है। ऐसे प्रकाश से अज्ञानियों का अन्धकार दूर होता है और उन्हें रास्ता सूझने लगता है। तप, सेवा, त्याग और बलिदान जिस मनुष्य के अन्दर अपना घर कर लेते हैं, उसके रोम-रोम से प्रकाश की किरणें फूटने लगती हैं, जिनके प्रभाव से लाखों आत्माओं को शान्ति मिलती है और वे अपने जीवन-पथ में आसानी से अग्रसर हो जाते हैं।"[1]

भाव-व्यंजक शैली, काव्यात्मक कथ्य तथा आवेगपूर्ण भाषा की दृष्टि से 'अनन्त की ओर' तथा सरदार पूर्णसिंह कृत 'मजदूरी और प्रेम' तथा 'आचरण की सभ्यता' निबन्ध समान बिन्दु पर खड़े हुए प्रतीत होते हैं।

पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों से

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की पुरानी फाइलों में खोजने पर परिव्राजक जी के निबन्ध प्रचुर मात्रा में मिल सकते हैं। हमें पुराने पत्रों की फाइलें टटोलने से इस सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है, उसके फलस्वरूप कुछ निबन्धों की समीक्षा हम यहां कर रहे हैं।

जिन लेखों या निबन्धों की समीक्षा हम यहां कर रहे हैं ये सभी 'विशाल भारत' में प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें अधिकांश निबन्ध तत्कालीन राजनीति और सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित हैं। जिस समय यह लेख लिखे गए थे, उस समय भारत पर अंग्रेजों का शासन था—उन अंग्रेजों का जिनके शासन में कभी सूर्यास्त नहीं होता था।

स्वराज्य प्राप्ति का एकमात्र अवसर

अगस्त सन् 1928 के 'विशाल भारत' में प्रकाशित उनका लेख जो इस अंक का सबसे पहला लेख है—जिसका शीर्षक है 'स्वराज्य प्राप्ति का एकमात्र अवसर।' इस लेख में भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने वाले सेनानियों के सम्मुख लेखक ने एक पंचसूत्रीय योजना रखी थी। इस योजना में जो पांचवीं बात बताई गई है वह दूसरे विश्व-युद्ध से सम्बन्ध रखती है। इस अवसर पर लेखक अपने देशवासियों को यह परामर्श देता है—

"पांचवीं बात भी खूब ध्यान देने के लायक हैं। जैसे अंग्रेज हमारे घरेलू युद्ध के समय हमारे अन्दर आ घुसे हैं, ऐसे ही जब इनकी भिड़न्त संसार की दूसरी महाशक्तियों के साथ हो, तब हम इनका साथ न दें।"[2]

आज तो यह पंक्तियां अत्यन्त साधारण-सी जान पड़ती हैं, पर जिस समय यह

---

1. अनन्त की ओर—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक,, पृ० 112-13
2. विशाल भारत—बनारसीदास चतुर्वेदी, अगस्त, सन 1928, पृ० 139

लिखी गई थीं, उस समय ऐसा लिखना ततैइयों के छत्ते पर पत्थर मारने अथवा सांप के बिल में हाथ डालने के समान मूर्खतापूर्ण समझा जाता था।

सिन्ध की समस्या

यह लेख नवम्बर सन् 1928 के विशाल भारत में प्रकाशित हुआ था। कायदे आजम मुहम्मद अली जिन्ना दो जातियों के सिद्धान्त को सामने रखकर पाकिस्तान की दादुर रट लगा रहे थे। हमारे नेता सिन्ध को उन्हें सौंपकर स्वराज्य प्राप्ति का स्वप्न देख रहे थे। उस समय परिव्राजक जी ने अपने देशवासियों को इस लेख के माध्यम से जो सलाह दी थी, उसके यह शब्द आज भी हमारे नेताओं के स्वतन्त्रता की दस्तावेज पर किए गए हस्ताक्षरों की भयानक भूल का हमें स्मरण करा रहे हैं—

"मेरे प्यारे देशवासियो, पूर्ण स्वतन्त्रता के स्वर्गीय ध्येय को सामने रखकर सिन्ध की समस्या पर विचार कीजिए। सिन्ध का स्वतन्त्र भारत में खास स्थान रहेगा। खैबर की घाटी का जो महत्त्व वैज्ञानिक-युग से पहले था, वह सिन्ध को भविष्य में मिलेगा। इसीलिए आंखें खोलकर इस समस्या पर विचार कीजिए—किसी भी अवस्था में सिन्ध ऐसा प्रान्त न बन जाए, जो विदेशी आक्रमणकारियों को भारतवर्ष के द्वार की कुंजियां सुपुर्द कर दें। सिन्ध विशुद्ध राष्ट्रीयता का केन्द्र बने। वहां का प्रत्येक बच्चा यह कहे—'मैं पहले भी हिन्दुस्तानी, और पीछे भी हिन्दुस्तानी हूं। मेरे प्यारे भारतवर्ष की आज़ादी ही मेरा धर्म है।"[1]

जनसाधारण का स्वराज्य कब ?

लेखक ने अपने इस लेख में ऐसी महत्त्वपूर्ण समस्या पर विचार किया है जो आज भी जन-नेताओं के लिए उसी प्रकार की हल न होने वाली समस्या बनी हुई है। दिसम्बर 1928 के विशाल भारत में उन्होंने इस समस्या की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा था यदि देश अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त हो गया तो भी उसके सामने उन पिछड़ी हुई जातियों की गुलामी की समस्या उसी प्रकार बनी रहेगी जिस प्रकार इस दासता के युग में बनी हुई है। जनता की यह बौद्धिक दासता यदि समाप्त न की गई तो जन-साधारण स्वराज्य का वास्तविक आनन्द नहीं ले सकेंगे। हमारी बौद्धिक दासता की अफीम जो मुल्लाओं, पादरियों, पण्डे और पुजारियों के द्वारा हमें खिलाई गई है, उसका विषाक्त प्रभाव जब तक दूर नहीं होगा तब तक अज्ञान के अन्धकार में भटकती हुई भारतीय जनता का परित्राण नहीं हो सकेगा। इसीलिए परिव्राजक जी अपने देशवासियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

"स्वराज्य की समस्या इलहामों द्वारा फैसला करने की वस्तु नहीं है, और न यह पीर-पैगम्बरों और अवतारों के वाक्यों पर अवलम्बित है। यह तो मानव-समाज के विकास

---

1. विशाल भारत—नवम्बर, सन् 1928, पृ० 570

की समस्या है और उत्तरोत्तर इस पर नया प्रकाश, नवीन-विवेचनाएं और अनुभवपूर्ण सिद्धान्त समाज के सामने आते रहेंगे। जब जनसाधारण ब्राह्मणों के गुलाम थे, तो बड़े सन्तोष से अपने आचार्यों के कथन को बिना किसी हिचकिचाहट के मान लेते थे। जब उन्हें राजा को ईश्वरीय अंश समझने का पाठ पढ़ाया गया, तो वे राजाओं के सब अन्यायों को सिर झुकाकर सह लेते थे। जब उन्हें गुरु, महात्माओं और साधु-सन्तों ने अपने जाल में फंसा लिया, तो वे उनकी आज्ञाओं को शिरोधार्य कर जीवन व्यतीत करने लगे। जब समाज जांत-पांत की जंजीरों में जकड़ दिया गया और क्षत्री ही सर्वेसर्वा हो गए, तो जनसाधारण ने दासता की गहरी शराब को पीकर कहा—

कोउ नृप होय हमें का हानी।
चेरी छांड़ न होयब रानी॥

गुलामी के इस कुत्सित नशे में शताब्दियां निकल गईं। जनसाधारण केवल गाय-भैंस जायदाद मात्र बन गए।"[1]

अपने इस लेख में परिव्राजक जी यह चिन्ता व्यक्त करते हैं कि यदि स्वराज्य मिल भी गया तो जनसाधारण का स्वराज्य उसे नहीं मिल सकेगा। उसे वह कब और कैसे मिलेगा? अपनी इस चिन्ता को व्यक्त करते हुए वह देश के कर्णधारों से खुले शब्दों में कहते हैं कि स्वराज्य मिलने के बाद—

"यदि आप भारत में जनसाधारण का स्वराज्य चाहते हैं, तो धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति का कार्य ज़ोर से उठाइए। देर न कीजिए। अंग्रेजों का सूर्य अस्त होने पर आया है। वह अस्त हो गया होता, यदि भारत जनसाधारण के स्वराज्य के लिए तैयार होता। जब भारत में सामाजिक और धार्मिक क्रान्तियों के कारण जनसाधारण स्वाधीनता और समानता के भावों से संगठित हो जाएंगे, तो ब्रिटिश साम्राज्य का सूर्य सदा के लिए अस्त हो जाएगा। उस समय पूर्व और पश्चिम का मिलाप होगा। अध्यात्मवाद और प्रकृतिवाद में मित्रता होगी। उस समय सच्चा राष्ट्र-धर्म (nationalism) संसार में प्रकट होगा और भारतवर्ष के सुन्दर राष्ट्रीय आदर्शों से सारी पृथ्वी पर शान्ति फैलेगी।"[2]

हमारी संस्कृति और उसका प्रवासियों में प्रचार

लेखक ने अपने इस लेख में भारतीय संस्कृति का क्षेत्र उन सम्पूर्ण देशों को माना है जहां कभी आर्य-संस्कृति की विजय वैजयन्ती फहराती थी। इसीलिए वह अपने देशवासियों को उन देशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार करने के लिए उत्साहित करता है। वह अपने देशवासियों को सम्बोधित करते हुए कहता है—

'संसार में नए बागबान, नए बगीचे खिल उठे हैं, जिनमें पुष्प तो रंग-बिरंगे खिलते हैं, पर निर्गन्ध नीरस। आज भारतीय-समाज को अपने पुष्पों और उनकी

1. विशाल भारत—दिसम्बर, सन् 1928, पृ० 690
2. वही, पृ० 691

सुगन्धि का आनन्द विश्व को देना है, अतएव यह परमावश्यक है कि हम अपनी संस्कृति-वाटिका का स्वरूप, उसका सौन्दर्य-पहचानें और एकांगपने में न डूबकर उसके सर्वांग लालित्य को अनुभव करें। मत-मतान्तरों की दीवारों को गिराकर एक भारत-समाज उसकी एक अलौकिक-संस्कृति का दर्शन करें। भारतीय समाज का पूर्ण विकास कैसे हो? हमारे प्राचीन संस्कृति-पौधे का विकास कहां रुका था? हमें कौन-सी खाद देकर उसका दिव्य स्वरूप विकसित करना है? इन बातों पर विचार करना चाहिए।"[1]

प्रवासी भारतीयों में भारतीय संस्कृति का अमर-सन्देश कैसे पहुंचाया जाए और किस प्रकार उन देशों में अपनी सुखद और शीतल छाया पहुंचाने वाले भारतीय संस्कृति के विशाल वट-वृक्ष को सूखने से बचाया जाए? इस प्रश्न पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने यह महत्त्वपूर्ण सुझाव दिया है—

"प्रवासी भारतीयों में अपना गौरव जीवित रखने के लिए प्रत्येक उपनिवेश में से चुने हुए कुशाग्र-बुद्धि बालक-बालिकाओं का भारत के सांस्कृतिक केन्द्रों में अध्ययन आवश्यक है ताकि वे पढ़-लिखकर अपने-अपने उपनिवेशों में जाएं और वहां यह स्रोत बहाएं। ऐसा करने से बराबर ताज़गी बनी रहेगी और सम्बन्ध सुदृढ़ रहेगा। भविष्य में जब उपनिवेशों में विश्वविद्यालय बनेंगे, तो अध्यापकों के परिवर्तन से भी इस कार्य में बहुत कुछ सहायता मिल सकेगी।"[2]

अपनी लेखनी को विश्राम देने से पूर्व इस लेख को समाप्त करते हुए लेखक यह शुभ-कामना प्रकट करता हुआ भारतीय संस्कृति के कर्णधारों को इन शब्दों से सम्बोधित करता है—

'अन्त में मैं यह निवेदन करना चाहता हूं कि जो लोग विशाल भारत का गौरव फिर से देखना चाहते हैं और अपनी संस्कृति का प्रचार प्रवासी भारतीयों में देखने के इच्छुक हैं, उन्हें भारत की एकता, अर्थात् बर्मा से लेकर पेशावर तक और हिमालय से सिंहल द्वीप तक इस विशाल देश को एक पवित्र सिद्धान्त मानकर इसका ग्रहण करना चाहिए। हमारे भावी जीवन में यह प्रश्न कई बार उठने वाला है। राजनीतिज्ञ उस पर वाद-विवाद करेंगे, शायद भयंकर घरेलू युद्ध भी हो जाए, परन्तु मेरी तुच्छ सम्मति में अपनी पवित्र संस्कृति की रक्षा के लिए प्रत्येक माता को अपने स्तन-दूध में बच्चे को भारतीय एकता और एक भारतीय लिपि का यह सिद्धान्त पढ़ा देना चाहिए, ताकि जिस महान् बलिदान द्वारा हमारी संस्कृति का निर्माण हुआ है, उसका उद्देश्य सफल हो सके।"[3]

मेरा धर्म

परिव्राजक जी मुंह के ही कड़वे नहीं थे, उनकी लेखनी में भी काफी तीखा और

---

1. विशाल भारत—अगस्त, सन् 1931, पृ० 206
2. वही, पृ० 206
3. वही, पृ० 206

कड़वापन था। वह अपने विरोधियों को क्षमा करना नहीं जानते थे। सहनशक्ति का उनमें सर्वथा अभाव था।

मतभेद होना आवश्यक है। पढ़े-लिखे और सुशिक्षितों में तो वह अनिवार्य रूप से होता है, क्योंकि वह हर बात को अपने ढंग से सोचते हैं। पर परिव्राजक जी यह सहन नहीं कर सकते थे कि उनसे सम्पर्क रखने वाले उनके मित्र तथा सम्बन्धी उनकी मान्यताओं तथा उनके विचारों से असहमत हो जाएं या उनकी आलोचना कर दें।

'विशाल भारत' के सम्पादक-मण्डल से उनके मधुर सम्बन्ध थे। उसके संपादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी उनके घनिष्ट मित्रों में से थे। उनके लेख सबसे अधिक संख्या में इसी पत्र में प्रकाशित होते थे। फरवरी, सन् 1934 की 'सरस्वती' में प्रकाशित उनके 'नाजीवाद' के समर्थन में लिखे गए लेख के सम्बन्ध में चतुर्वेदी जी ने अपने पत्र विशाल भारत में अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट किए। जिनमें उन्होंने परिव्राजक जी के नाजीवाद के समर्थन को, विश्व मानवता के लिए अभिशाप बताया था। यह प्रतिवाद परिव्राजक जी कैसे सहन कर सकते थे। 13 मई, सन् 1935 के साप्ताहिक 'अर्जुन' में इसका कड़ा विरोध किया था। यही उनके 'मेरा धर्म' शीर्षक लेख की पृष्ठभूमि है।

'विशाल भारत' के सम्पादक को उनकी इस आलोचना का कड़ा उत्तर देते हुए उन्होंने इस लेख द्वारा घोषणा की थी—

"कलकत्ते की एक प्रसिद्ध हिन्दी पत्रिका के सम्पादक को यह मौका अपना पुराना वैर निकालने का हाथ लगा है। उसने तो एक लम्बा लेख लिखकर, मेरे लेखों के उद्धरणों को उलटा सीधा मिलाकर—'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' वाली कहावत को चरितार्थ किया है।"[1]

इतना ही नहीं, अपने इस लेख में विरोधियों को उन्होंने 'गलिहारे कुत्तों' तक कह डाला था। अपने विरोधियों का प्रतिवाद करते समय उनकी लेखनी कितनी उग्र हो जाती थी, यह उनके इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है—

मैंने अपने सारे जीवन में पब्लिक-सेवा के कार्य में यही रुख रखा है—'हाथी चला जाता है और कुत्ते भौंकते रहते हैं।"[2]

हिटलर और उसका नाजीवाद

जिस समय विशाल भारत के संपादक-मण्डल से परिव्राजक जी का यह वैचारिक संग्राम चला था, उस समय जर्मनी में हिटलर यहूदी जाति का विनाश कर रहा था। उसका राष्ट्रीय समाजवाद विश्व को उन जातियों के लिए जिनका सम्बन्ध ज़र्मन रक्त से नहीं था, एक महान् चुनौती था। 'हिटलर' अपने को आर्यजाति का वंशज कहता था। वह कार्लमार्क्स की विचारधारा तथा कम्युनिज्म का घोर विरोधी था। परिव्राजक जी

---

1. विशाल भारत—मई, सन् 1925, पृ० 602
2. वही, पृ० 602

ने हिटलर-युगीन जर्मनी को अपनी आंखों से देखा था। वह हिटलर के कम्युनिज्म-विरोधी विचारों से पूर्णतः प्रभावित थे, जिसके समर्थन में फरवरी, सन् 1934 के अंक में उन्होंने यह लेख लिखा था। जिसकी आलोचना चतुर्वेदी जी ने की थी।

निष्कर्ष

अन्त में सारांश में कहा जा सकता है कि इन निबन्धों में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। हिन्दू सुधारवादी दृष्टिकोण के कारण उनकी मान्यताएं कहीं-कहीं प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवादी विचारधारा का पोषण करती हैं। भाषा और शिल्प की दृष्टि से इन निबन्धों में प्रांजलता और सूत्रबद्धता का अभाव है। काव्यात्मक शैली का आभास भी कुछ निबन्धों में मिलता है। सर्वसाधारण तक अपने विचारों को पहुंचाने के उद्देश्य से लिखे जाने के कारण इनकी भाषा प्रचारकों के स्तर की हो गई है। व्यंग्यात्मकता और चुटीलापन इनकी प्रमुख विशेषता है। गवेषणात्मक निबन्धों में परिव्राजक जी के विराट ज्ञान और तर्क-न्याय पुष्ट शैली का अच्छा परिचय मिलता है। कुल मिलाकर उनका यह प्रयत्न सन्तोषजनक कहा जा सकता है।

तीसरा अध्याय

परिव्राजक जी की लेखन-शैली

विद्वानों ने शैली में व्यक्तिगत प्रभाव तथा कलापक्षीय वैशिष्ट्य का प्रमुख योगदान माना है। भावात्मक अभिव्यक्ति की यथार्थता और प्रेषण विधान की उपयुक्तता शैली के प्रमुख आधार हैं। शैली व्यक्तित्व की छाप है, जिसमें भाषिक अवयवों का संतुलन और अनुशासन होता है।

"शैली के 13 भेदों की चर्चा साहित्य-शास्त्र में हुई है।"[1] हमें केवल उन्हीं शैलियों की समीक्षा करनी है जिनका प्रयोग परिव्राजक जी ने किसी न किसी रूप में किया है। इस दृष्टि से उनकी रचनाओं में कुल मिलाकर तेरह प्रकार की शैलियां मिलती हैं—

1. उद्बोधक शैली, 2. सूक्तिप्रधान शैली, 3. भावात्मक शैली 4. स्वगत शैली, 5. कथात्मक शैली, 6. अलंकृत शैली, 7. विचारात्मक शैली, 8. व्याख्यानात्मक शैली, 9. वर्णनात्मक शैली, 10. विवरणात्मक शैली, 11. व्यंग्यात्मक शैली, 12. दार्शनिक शैली, 13. गवेषणात्मक शैली।

परिव्राजक जी का शिल्प-विधान पर पूर्ण अधिकार था। भाषा-शैली को सजाने और संवारने में जिन-जिन उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है, उनसे वह भली-भांति परिचित थे। यह उनकी 'लेखन-कला' नामक पुस्तक से स्पष्ट हो जाता है। फिर भी वह लेखन-कला की दृष्टि से लापरवाह रहे हैं। विचारों के प्रवाह में जब तेजी से लिखने लगते थे तब भाषा उनके पीछे भागती, दौड़ती तथा उछल-कूद मचाती हुई चल पड़ती थी। दौड़ में कभी भाषा आगे बढ़ जाती थी और कभी भाव। यही कारण है कि उनकी भाषा सर्वथा निर्दोष नहीं है। शैली में भी कहीं-कहीं शैथिल्य आ गया है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कोई चित्रकार चित्र बनाकर रख देता है। फिर वर्षों उसकी सुधि नहीं लेता, उसके सजाने तथा संवारने की ओर ध्यान नहीं देता। प्रज्ञा-चक्षु लेखक के मार्ग में यही सबसे बड़ी कठिनता थी।

परिव्राजक जी की शैली और उनका सशक्त व्यक्तित्व

वाणी और लेखनी की सहायता से मनुष्य बोलकर अथवा लिखकर अपने विचारों को प्रकट करता है। साधारण वार्तालाप, वक्तृता-भाषण तथा कविता-पाठ इन सबमें

---

1. शैली—पं० करुणापति त्रिपाठी, पृ० 29, वाराणसी, 1941 संस्करण।

वाणी का ही चमत्कार प्रधान रहता है। लेखनी द्वारा लिखे गये विचार एक ऐसी दस्तावेज़ की तरह हैं जो कभी पुरानी नहीं पड़ती। इसे जहां चाहे वहां सुना एवं पढ़ा जा सकता है। साहित्य के माध्यम से हमने जो भी प्राप्त किया है वह ऐसा ही दस्तावेज़ है। परिव्राजक जी की लेखनी से हमें जो भी प्राप्त हुआ है, वह आज भी सुरक्षित है। पर वह एक लेखक के अतिरिक्त एक सुवक्ता भी थे। उनकी वाणी से जो निकला वह वायु-मण्डल में विलीन हो गया। पर उनकी लेखनी से जो दस्तावेज़ हमें मिले, वह आज भी विरासत के रूप में हमारे पास हैं।

उद्बोधक शैली

कहीं-कहीं हम उनकी भाषा में ओज की प्रधानता पाते हैं। पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई नेता बड़े भारी जन-समूह को सम्बोधित करता हुआ अपने विचार प्रकट कर रहा हो। उनकी इस प्रकार की शैली में कोई बात संक्षेप में कह दी जाती है। फिर सम्पूर्ण अनुच्छेद में उसकी व्याख्या की जाती है। प्रत्येक वाक्य श्रृंखला की कड़ी के समान एक-दूसरे से जुड़ा रहता है और अन्तिम वाक्य एक प्रश्न-वाचक चिह्न बनकर रह जाता है। दूसरे शब्दों में वह एक ऐसा प्रश्न बन जाता है जिसका उत्तर लेखक स्वयं न देकर पाठक पर ही छोड़ देता है। इसका एक उदाहरण देखिए—

"हमें आदमी चाहिए—ऐसे आदमी जो तोप के मुंह के सामने भी वही कहें जो उनके हृदय में हो, जो मनों सोना मिलने पर भी देश के साथ द्रोह न करें, जिन्हें जब किसी जिम्मेदार जगह खड़ा कर दिया जाए तो हिमालय की तरह अचल हो जाएं, ऐसे विश्वासपात्र नर-नारी जिन पर हमें सोलह आने विश्वास हो और जिनमें कार्य करने की क्षमता हो, दूसरों के अधिकारों का जो मान करें और अपने अधिकारों के लिए प्राण तज सकें, जो निर्भय सिंह की तरह कठिनाइयों में से निकल सकें और कार्य-सिद्धि के लिए जिनमें रक्त की नदी पार करने का साहस हो ऐसे नर श्रेष्ठ जब भारतवर्ष पैदा करेगा तभी इसका उद्धार हो सकेगा, क्योंकि हमें शासन की बागडोर अपने हाथ में लेनी है। जब हमारे पास योग्य आदमी ही नहीं तो हमारा उद्देश्य कैसे सिद्ध हो सकता है ?"[1]

वाक्य का प्रारम्भ हमें 'आदमी चाहिए' से किया गया है। वह आदमी कैसा हो, उसमें क्या गुण होने चाहिए इसे सम्पूर्ण अनुच्छेद में स्पष्ट करने के उपरान्त अन्त में लेखक अपने पाठकों से इन शब्दों—"जब हमारे पास योग्य आदमी ही नहीं तो हमारा उद्देश्य कैसे सिद्ध हो सकता है ?" में यह प्रश्न करता है और स्वयं इसका उत्तर न देकर पाठकों पर इसके उत्तर का भार छोड़ देता है।

सूक्ति प्रधान-शैली

कभी-कभी वह अंग्रेज़ी तथा संस्कृत की सूक्तियों का प्रयोग अनुच्छेद के आरम्भ

---

1. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 210

में करके उसकी व्याख्या स्वयं करने लगते थे अथवा भावाभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाने के लिए बीच-बीच में संस्कृत, अंग्रेज़ी, उर्दू, फारसी आदि की सूक्तियों का प्रयोग भी खुलकर किया करते थे।

इसके कुछ उदाहरण देखिए—

"Every life is a work of art shaped by the man who lives it."[1]

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीवन-कला से ज्ञान के अनुसार अपने शरीर का विकास करता है। जब हम किसी नीरोग और हंस-मुख व्यक्ति से मिलते हैं, उसे देखकर हमारा हृदय गद्गद हो उठता है तो हमें यह मानना पड़ता है कि वह व्यक्ति जीवन को समझता है।

"The rolling stone gathers no moss."[2]

अर्थात् लुढ़कने वाला पत्थर बेपेंदी के लोटे की तरह कोई समर्थ कार्य-सिद्ध नहीं हो सकता। आप में कम से कम इतना साहस तो अवश्य आ जाना चाहिए कि आप अपनी भूल को पहचान लें, आपके उत्थान की संभावना हो सके।

भावात्मक शैली

परिव्राजक जी ने एक भावुक कवि का हृदय पाया था। वास्तव में वह कवि ही थे। परिस्थितियां अनुकूल न होने के कारण कवि रूप में उनकी प्रतिभा का विकास नहीं हो पाया, वह एक गद्य-लेखक मात्र ही रह गए। उनकी भावात्मक शैली में उनका कवि हृदय मुखर हो उठा है। 'मेरी कैलाश-यात्रा' में हिमालय के हिम-मण्डित शिखरों को देखकर जो कल्पनाएं उनके हृदय में उत्पन्न हुई, उनके सजीव-चित्र उस यात्रा में बिखरे पड़े हैं। वास्तव में कैलाश-यात्रा उनकी भावात्मक शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका एक शब्द-चित्र देखिए, कितना सुन्दर बन पड़ा है!

"शाम को मैं दो घंटे नदी के किनारे बैठकर 'दमयन्ती' नदी के पत्थरों के साथ अकेला खेलता रहा। सामने तेज़-धार बह रही थी। उसको देखकर क्या-क्या भाव मेरे हृदय में उठे—

"दमयन्ती! कैसा सच्चा भारतीय नाम है। इस नाम के उच्चारण करने से सती, साध्वी, भारतीय पतिव्रता रमणी 'दमयन्ती' का स्मरण हो आता है। पति-प्रेम से विह्वल उस विदर्भ राजकुमारी की मनमोहिनी मूर्ति सामने खड़ी हो जाती है। पति-विरह से आतुर वह, भारतीय बाला अपने प्यारे नल को जंगल में तलाश करने निकलती है। वह देखो, जंगल के निर्जन-स्थल में कामान्ध-व्याघ्र उसके रूप-लावण्य पर मोहित होकर उसको पकड़ना चाहता है, शुद्ध पतिव्रत-धर्म की तीक्ष्ण खड्ग से सुसज्जित दमयन्ती

---

1. अनन्त की ओर स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 3
2. वही, पृ० 77

अपने प्रभु की ओर निहारती है। आहा ! वह दृश्य—पतिव्रत-धर्म की विजय और कामातुरता का पतन, सत्य की विजय और अधर्म का नाश—यह उपदेशप्रद शिक्षा इस एक 'दमयन्ती' शब्द में भरी है।"[1]

प्रकृति के मनोरम चित्रों को देखकर वे भावुक कवि के समान भाव मग्न हो उठते थे। कनखल में गंगा के किनारे खड़े हुए परिव्राजक जी के हृदय में गुद्‌गुदी होने लगी। उस समय उनके मन में क्या-क्या विचार उठे इसे उन्हीं के मुख से सुनिये—

"मार्च का महीना था। सूर्यदेव उदय हो चुके थे। कनखल के उस पार गंगा के किनारे खड़ा हुआ मैं जीवन के इस महान् प्रश्न पर विचार कर रहा था। सोचते-सोचते स्नान करने के लिए जल में पांव रखा। सुन्दर गोल-गोल पत्थर जल की धारा में पड़े मुस्करा रहे थे। एक दो को उठाकर मैंने देखा। सुन्दर, गोल-गोल गले में शुभ्र यज्ञोपवीत पहने साक्षात् शालिग्राम। आहा ! उन्होंने ऐसी मनोहारिनी मूर्ति कहां से पाई ? क्या जन्म धारण करते समय ही इनका ऐसा सौन्दर्य था ?"[2]

परिव्राजक जी अपने समय के बहुत बड़े घुमक्कड़ थे। उन्होंने देश-विदेश की लम्बी यात्राएं कीं। इन यात्रा-वर्णनों में भी कहीं-कहीं वह भावुक हो उठे हैं। स्वगत कथन के रूप में वह स्वयं से प्रश्न करते हुए स्वयं उसका उत्तर देते हैं। इसी कारण उनके यात्रा-वर्णन पाठकों के लिए सिरदर्द नहीं बन जाते। उन्हें पढ़ते समय ऐसा जान पड़ता है कि वह अपने पाठकों से अकेले में बैठकर स्वयं उनसे बातें कर रहे हों। इसका एक उदाहरण देखिये—

"वाह रे प्रेम ! इन लोगों के साथ मेरा क्या रिश्ता था ? इनका देश यूनान, मेरी जन्मभूमि भारत। इनकी भाषा यूनानी, मेरी भाषा हिन्दी। ये लोग मेरी बात तक नहीं समझ सकते, तिस पर इतना प्रेम। यह क्यों ? ये लोग गरीब हैं। सारे दिन मजदूरी करके सख्त धूप सहकर रुपया कमाते हैं। अपना देश छोड़कर यहां ये केवल रुपया कमाने आये हैं। इन्होंने मुझ में क्या बातें देखीं जो इतना प्रेम प्रकट किया। रेल चली जाती थी और मैं इन्हीं विचारों में मग्न था।"[3]

पंजाब के उन्मुक्त जलवायु में पला हुआ यह संन्यासी बड़ा ही भावुक था। उसमें एक विचित्र प्रकार की मस्ती थी। उस भावुकता या मस्ती का समावेश उसकी विचारात्मक, विवरणात्मक, उपदेशात्मक, व्याख्यानात्मक तथा स्वगत सभी प्रकार की उन शैलियों पर जिनके माध्यम से उसने अपने विचारों तथा भावों को व्यक्त किया है, किसी न किसी रूप में पाया जाता है।

उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य था युगों-युगों के सोये हुए भारतीयों को झकझोड़ कर उठाना। अपने 'जीवित जाति के चिन्ह' शीर्षक निबन्ध में उनकी यह भावात्मक

---

1. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 80-81
2. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृष्ठ 22
3. अमरीका प्रवास की मेरी अद्‌भुत कहानी, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 314

शैली ज्वालामुखी का रूप धारण कर लेती है। इसका उदाहरण देखिये :—

"हिन्दुओं की यही बीमारी है कि वे देश और काल के अनुसार अपने आपको बना नहीं सकते। इसीलिए उनका ह्रास अवश्यंभावी है। परिस्थितियों का प्रचण्ड प्रभाव व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन में महान् परिवर्तन कर देता है। वह नये सिद्धान्त घड़ता है और पुरानी दकियानूसी रूढ़ियों को उखाड़ फेंक देता है। जो पुरानी रूढ़ियों को नहीं छोड़ना चाहते, समय के अनुसार अपने आपको नहीं बनाते, ताज़गी उनसे दूर भाग जाती है और सड़ांध उनमें चारों ओर पैदा हो जाती है। हम हैरान होते हैं कि हिन्दुओं के पास ऊंचे दर्जे की अध्यात्म फिलासोफी, श्रीमद्भगवदगीता का सुन्दर कर्मयोग और उपनिषदों की दिव्य ब्रह्मधारा होते हुए भी फिर उनके जीवन में ऐसी दुर्गन्ध क्यों है। इसका उत्तर स्पष्ट है।"[1]

देशद्रोह उनकी दृष्टि में बहुत बड़ा पाप था। देशद्रोह को देखते ही अथवा उसका नाम सुनते ही उनका खून खौलने लगता था। फिर क्रान्तिकारी लेखनी का तो कहना ही क्या 'अपने पाप की चरम सीमा' शीर्षक लेख में एक देशद्रोही को सम्बोधित करते हुए वह कहते हैं—

"अरे मूर्ख ! सब पाप 'देशद्रोह' के पाप के सामने तुच्छ हैं। अरे पापिष्ठ ! क्या तुझे मालूम है कि ट्रेटर (Traitor) इस शब्द में कैसी घृणा भरी हुई है ? इससे बढ़कर कृतघ्नता हो नहीं सकती। यह कृतघ्नता की चरमसीमा है। देख ! अपनी ओर देख ! शीशे में अपनी शक्ल देख। कोढ़ियों जैसा तेरा चेहरा है। जननी जन्मभूमि की फटकार तेरे माथे पर है। स्मरण रख, तेरे शरीर को कृतघ्नता के कीड़े नोच नोचकर खा जायेंगे। तेरे प्राण तड़प-तड़पकर निकलेंगे। भावी सन्तान तुमको याद कर कोसेगी, देश-द्रोहियों की लिस्ट में तेरा नाम दर्ज होगा। तेरा वंश समूल नष्ट हो जाएगा।"[2]

स्वगत शैली

परिव्राजक जी की इस शैली का परिवर्तित और परिमार्जित रूप उनके 'क्रान्ति' नामक निबन्ध में मिलता है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री 'अन्तस्तल' 'रामकृष्णदास' 'साधना' वियोगी हरि के 'अन्तर्नाद' 'दिनेशनन्दनी डालमिया के 'मौक्तिकमाल' स्वगत-शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। हिन्दी में इस स्वगत शैली की परम्परा का प्रारम्भ आचार्य चतुरसेन शास्त्री के 'अन्तस्तल' से होता है। परिव्राजक जी ने यह वर्णन 'क्रान्ति' में मानवीयकरण के रूप में किया है। 'क्रान्ति' अपना परिचय देते हुए स्वयं कहती है—

"मेरा नाम क्रान्ति है। मैं पुरानी, जर्जर, सड़ी, गली और दकियानूसी बातों को जलाकर भस्म कर देती हूं, और नव-जीवन का संचार करती हूं। मैं अविरत यौवन का मूल कारण हूं और बुढ़ापे का नाश करती हूं। जहां मैं हूं वहीं जिन्दगी है, जहां मैं

1. ज्ञान के उद्यान में पृ० 196
2. वही, पृ० 79

नहीं वहीं मौत है। समाज के अत्याचारों से पीड़ित दुःखी लोगों के लिए मैं आशा का पुंज हूं, मैं उनके अभ्युत्थान का सुखद स्वप्न हूं। बुड्ढे मेरे डर से थर-थर कांपते हैं और जवान मेरा सहर्ष स्वागत करते हैं, जहां मेरी सवारी जाती है वहां का कूड़ा-करकट सब साफ हो जाता है और दैवी प्रकाश की ज्योति जगमगाने लगती है। मैं समाज की जंजीरों को तोड़कर फेंक देती हूं और सताई हुई आत्माओं को सान्त्वना प्रदान करती हूं। मैं दलितों की जंजीरों को तोड़कर उन्हें उनके अधिकार दिलाने वाली हूं, और उन्हें अमृत-सुधा-पान कराती हूं।"[1]

अपनी इस स्वगत शैली के माध्यम से 'क्रान्ति' के मुख से उन्होंने जो भी कहलाया है, उसमें उनकी शैली 'आचार्य चतुरसेन शास्त्री' की 'विद्रोहात्मक शैली से मिलती है। शास्त्री जी के समान ही वह पण्डे, पुजारी, साधु-सन्तों और महन्तों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाकर खड़े हो जाते हैं। उन्हीं के समान आचार्य जी भी भारतीय नवयुवकों को कुरान-पंथियों के विरुद्ध बगावत करने के लिए भड़काते हुए कहते हैं—

"इस बात की परवा न करो कि तुम्हारी इस स्वतन्त्र भावना में तुम्हारे बुजुर्ग लोग बाधा देंगे। मैं कहता हूं कि तुम उनकी आज्ञाएं मानने से इन्कार कर दो जिन्हें तुम अपनी दृष्टि से मूर्खतापूर्ण, अव्यवहारिक और अपनी आशा की आवाज़ से विपरीत समझते हो। प्राचीन विद्वानों का मत है कि गुरुजनों की उन्हीं आज्ञाओं का पालन करो जो नीति और धर्म के अनुकूल हों और तुम्हारी आत्मा की गम्भीर आवाज़ उसका अनुमोदन करे।"[2]

परिव्राजक जी भी 'क्रान्ति' के मुख से यही कहलाते हैं—मानवीकरण के द्वारा लेखक ने क्रान्ति के इस कथन में जो अलंकारिक सौन्दर्य उत्पन्न किया है, उसके कारण परिव्राजक जी तुलना में आचार्य जी से पीछे नहीं रहते।

"याद रखो, मैं गुरुडम की घोर शत्रु हूं। पाखण्डी मौलवी-मुल्लाओं, धूर्त पंडितों और मक्कार पुरोहितों के लिए तो मैं भीषण काल हूं। मैं इलहाम के प्रभुत्व को छिन्न-भिन्न कर बुद्धिवाद का साम्राज्य स्थापित करती हूं। मैं एक के बहुतों पर शासन करने के अधिकार को समूल नष्ट कर दूंगी, मैं निकम्मे पेट्रू और मजहब के ठेकेदारों की हकूमत को मिट्टी में मिला दंगी, मैं पाशविक शक्ति के घमण्ड को चूर-चूर कर सदाचार और सच्चरित्रता का राज्य स्थापित करती हुई प्रकृति को आत्मा का दास बनाती हूं। बड़ी-बड़ी तोंद वाले, घमण्डी और मुफ़्तख़ोर 'बड़े आदमियों' के जुल्मों का मैं अन्त कर दूंगी और मेहनती ईमानदार मजदूरों को बड़ा बनाऊंगी। शास्त्र का नाम लेकर लूटने वाले ब्राह्मणों के प्रभाव को मिटा देना मेरा काम है। प्रत्येक स्त्री और पुरुष को मैं स्वाधीन बनाती हूं। सब कोई अपने लिए स्वयं सोचना सीखें और अपने पावों के बल खड़ा होने की आदत डालें। मैं स्वावलम्बन की शिक्षा देती हूं और प्रत्येक व्यक्ति को अपना

---

1. संगठन का बिगुल—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 39-40
2. धर्म के नाम पर—आचार्य चतुरसेन शास्त्री, पृ० 13

आप स्वामी बनाती हूं, क्योंकि स्वावलम्बन ही स्वाधीनता है।"[1]

उनकी इस स्वगत शैली में ओज गुण की प्रधानता है। बड़ी सशक्त भाषा में वह पुराने रूढ़िवाद के विरुद्ध विद्रोह की भावना जागृत करते हुए देश की युवा पीढ़ी को चुनौती देते हुए क्रान्ति के मुख से कहलाते हैं—

"मेरा नाम सामाजिक क्रान्ति है। मैं सैकड़ों वर्षों के रिवाजों को हटाने आई हूं, मैं जन-साधारण में लकीर के फ़क़ीर रहने की आदत को मिटाने आई हूं, मैं मुट्ठी-भर आदमियों के बहुतों पर शासन करने के अधिकार को हटाने आई हूं, मैं ईश्वर के प्रतिनिधि बनने वाले पण्डों का रुतबा घटाने आई हूं, मैं जन-साधारण में धर्म का सच्चा सरल मार्ग बनाने आई हूं। समाज में सबके साथ न्याय और किसी की खास रियायत न हो, यह मेरी घोषणा है। मैं साम्यवाद और भ्रातृभाव का झण्डा हूं। मैं उस व्यवस्था का नाश कर दूंगी, जिसके अनुसार करोड़ों आदमी मुट्ठीभर आदमियों के दास बने हुए हैं और वे मुट्ठीभर आदमी धन के गुलाम बनकर समाज में व्यभिचार फैलाते हैं। मैं समाज को ऐसी सब बुराइयों से साफ कर देना चाहती हूं जो एकता में बाधक हैं, और सत्य एवं न्याय का राज्य कायम नहीं होने देतीं। मैं विधवाओं के आंसुओं को पोंछने आई हूं और उनको हर्ष-संवाद सुनाने आई हूं। अबलाओं को सताने वाले आततायी अब खबरदार हो जाये, मेरा डंडा बड़ा भयंकर है। मैं अनाथ दुःखियों की रक्षा करूंगी और दुष्टों को कठोर दण्ड दूंगी।"[2]

कथात्मक शैली

जीवन को ऊपर उठाने वाली महापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित कथाओं को लेकर सूत्ररूप में परिव्राजक जी एक अनुच्छेद का आरम्भ करके सम्पूर्ण अनुच्छेद में उससे मिलने वाली शिक्षा को लेकर अपने प्रतिपाद्य विषय को पल्लवित करते थे। उनकी इस शैली का एक उदाहरण देखिये—

"राबर्ट ब्रूस जिस समय युद्ध से हारकर भागा, उसने यह समझ लिया था कि मैं अंग्रेजों का सामना नहीं कर सकता, परन्तु जाला बुनने वाली मकड़ी ने उसको आत्म-विश्वास की शिक्षा दी। उसके विचार बदल गये। उसको दृढ़ विश्वास हो गया था कि मैं अपने प्यारे स्काटलैण्ड को स्वतन्त्र कर सकता हूं। इस विश्वास ने उसको नया आदमी बना दिया और उसने अपने कार्य में सफलता प्राप्त की।"[3]

वर्णन में सरसता उत्पन्न करने के लिए वह लम्बी यात्राओं में आने वाले नदी, पर्वत तथा वनों-उपवनों का सम्बन्ध पौराणिक कथाओं से जोड़कर उनमें रोचकता उत्पन्न कर दिया करते थे। उनकी ऐसी कथात्मक शैली का एक उदाहरण देखिए—

---

1. भारतीय स्वाधीनता सन्देश—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 64-65
2. संगठन का बिगुल—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 43-44
3. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 68

"इन गन्धक के चश्मों में से जो जल उबलकर निकलता है वह पृथ्वी के नीचे-नीचे राक्षसताल से आता है। यात्री-लोग इस स्थान को 'भस्मासुर की ढेरी' कहते हैं। दन्त-कथा है कि किसी भस्मासुर नामी राक्षस ने श्री शिवजी महाराज को प्रसन्न करने के लिए उग्र तपस्या की थी। भोले देवता उसके प्रेमपाश में बंध गए और उससे वर मांगने के लिए कहा। भस्मासुर बोला---भगवान्! मुझे ऐसी शक्ति दीजिए कि जिसके सिर पर मैं हाथ रखूं वह उसी क्षण भस्म हो जाए।" महादेव जी ने कहा 'एवमस्तु'। जब भस्मासुर के हाथ में भस्म करने की शक्ति आ गई तो उसने दुष्टतावश उसका प्रयोग शिवजी पर ही करना चाहा। महादेव जी भागकर पृथ्वी के नीचे छिप गये। भस्मासुर ने देवी पार्वती जी को घेरा और उनसे अपना प्रेम प्रगट किया। पार्वती जी ने कहा—'बहुत अच्छा! तुम पहले बिजवी का ताण्डव नृत्य करके दिखलाओ, बिना उस नृत्य को जाने कोई भी भगवान् की वस्तु ग्रहण नहीं कर सकता।

भस्मासुर उन्मत्त हो नाचने लगा, और उसने ताण्डव नृत्य करते-करते अपने हाथों से अपने ही सिर को भूल से छू दिया, बस उसकी दुष्टता का वही अन्त हुआ। इसी कारण इस स्थान को भस्मासुर की ढेरी कहते हैं, और यात्री-लोग यहां की सफेद मिट्टी अपने साथ ले जाते हैं और उसको पवित्र मान अपने शरीर पर लगाते हैं।"[1]

अलंकृत शैली

भाषा को सजाने और संवारने की ओर लेखक का ध्यान होना स्वाभाविक ही है। उसे सजाने और संवारने में साहित्यकार जिन उपकरणों का उपयोग करता है, वह अलंकार कहलाते हैं। भारतीय साहित्याचार्यों ने अलंकारों का विस्तृत विवेचन अपने ग्रन्थों में किया है। हम उनकी ओर न जाकर यहां परिव्राजकजी की अलंकृत शैली के कुछ उदाहरण देना आवश्यक समझते हैं। मानव-अधिकार का एक उदाहरण देखिये—

"सामने नन्दादेवी के दर्शन हुए। वर्फ से ढकी हुई चोटियां सूर्य की रश्मियों के साथ क्रीड़ा कर रही थीं। क्या ही अनुपम छटा थी। भारतवर्ष का यही श्वेतांग द्वारपाल है। नन्दादेवी इसी की पुत्री है। अपने पिता की गोद में आकाश से बातें करती हुई किस अभिमान से देवी चारों ओर निहार रही है, परन्तु बोलती नहीं।"[2]

"ऊंटाघुरा की चोटी पर पहुंच गये। अपूर्व नैसर्गिक छटा। श्वेतभवन के पुनीत दर्शन! 'भगवान् भास्कर के चरणों से लिपटी हुई श्वेतांगना वाला पति के पाओं की रज को अपने आंसुओं से धो रही है। वे उसे प्रेम से आलिंगन कर अपना अपराध क्षमा करवा रहे हैं, और नीले, पीले, बैंजनी, सुनहले रेशमी वस्त्रों को अपनी प्यारी के अंगों पर डाल उसके सौन्दर्य को बढ़ा रहे हैं। पति का अविरल प्रेम देखकर पुलकित अंगों से वह उनके

---

1. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 89-90
2. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 245

पावों को चूमती है और हाथ जोड़ यह प्रार्थना करती है।"[1]

विचारात्मक शैली

अपनी विचारात्मक शैली में परिव्राजक जी एक क्रान्ति-स्रष्टा नवयुग के सन्देशवाहक के रूप में हमारे सन्मुख आते हैं। पुरानी रूढ़ियों और गले सड़े विचारों के प्रति किसी क्रान्तिकारी लेखक के जो विद्रोहात्मक विचार हो सकते हैं, वही विचार परिव्राजक जी अपनी शैली के माध्यम से हमारे सन्मुख रखते हैं। अपनी शैली में वह 'मम्मट' के 'कान्ता समितयो उपदेशयुजे' का समर्थन करते हुए नहीं दिखाई देते प्रत्युत् वह एक ऐसे गुरु के रूप में आते हैं जो अपने शिष्यों को बात-बात पर डांटता और धमकाता है। इसका उदाहरण देखिए—

"लाखों वर्ष बीत जाने पर भी यह नहीं जानते कि चन्द्रलोक की बनावट कैसी है और सूर्य में कौन-सी शक्ति काम कर रही है। इन पदार्थों को देवता समझकर हम अब तक इनकी पूजा करते रहे और कभी भी जान पर खेलकर अनन्त ज्ञान की खोज करने का उद्योग नहीं किया। हमारे पूर्वज जिन ग्रन्थों को लिख गए हैं, दर्शनों को रच गए हैं और जिन स्मृतियों को बना गए हैं, आज सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी हम उन्हीं को बराबर तोते की तरह रटते चले जा रहे हैं। हमें कोई अधिकार नहीं कि हम उसके विरुद्ध अपनी सम्मति भी दे सकें। नई स्मृति और नया दर्शन लिखना तो दूर रहा, यदि कोई विद्वान् बड़ी हिम्मत करके अपने स्वतन्त्र निरीक्षण और अध्ययन द्वारा नया दर्शन अथवा स्मृति लिख डाले, तो हम उसकी निन्दा कर उसके ग्रन्थ को रद्दी की टोकरी में फेंक देते हैं। अन्धविश्वास ने हमें आज कैसा पंगु बना रखा है। जाति का मस्तिष्क सिवाय— 'पिष्टपेषण' के दूसरे काम का रह ही नहीं गया।"[2]

परिव्राजक जी की विचारात्मक शैली में सहृदय की सरस धारा भी प्रवाहित होती जान पड़ती है। उनमें गुरु-पद की कठोरता की अपेक्षा मम्मट के "कान्तासमितयो उपदेशयुजे" का माधुर्य अधिक मिलता है। अपने "कला सम्बन्धी कुछ स्वतंत्र विचार" शीर्षक निबन्ध में वह पर्याप्त सहृदय हो गए हैं। उदारणार्थ देखिए—

"असल में कला का प्रारम्भिक स्वरूप है किसी काम को सफाई से कर लेना। उर्दू में इसे हुनर कहते हैं। यह कला शब्द का व्यापक व्यवहार है। आप किसी कहानी को ऐसी सफाई से कहते हैं कि सुनने वाला उसे बिलकुल सत्य समझकर मन्त्र-मुग्ध होकर आप की बात मान लेता है और उसके दिल में यह जम जाता है कि यह कहानी सच्ची है। 'डेनियल डीफो' के 'राबिन्सन क्रूसो' को पढ़ने वाले लाखों पाठक उसे अक्षरशः सत्य समझते हैं। वह लिखी ही ऐसे ढंग से गई है कि पढ़ने वाला सत्य माने बिना नहीं रह

---

1. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 55
2. अनन्त की ओर—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक,

सकता। यह एक कला है।"[1]

उनकी इस प्रकार की शैली में कहीं-कहीं भावात्मकता का रंग भी चढ़ा हुआ है। इसका एक उदाहरण देखिए—

"वह संसार कैसा मनोहर कैसा दर्शनीय और कैसा सुन्दर होगा जिसमें देवता स्वरूप मनुष्यों की वस्ती होगी और जहां लेशमात्र भी बुराई देखने में न आएगी। ऐसी दुनिया रहने के काबिल होगी। ऐसे जगत् में भी रहना चाहता हूं, ऐसा रामराज्य जहां सब प्राणियों को हम आत्मवत् देखेंगे और सब मनुष्यों के प्रति हमारे में प्रेम भावनाएं रहेंगी, जहां मनुष्य मनुष्य को भाई समझेगा, जहां स्त्री-जाति का हृदय से आदर होगा, ऐसा ही संसार रहने के काबिल हो सकेगा।"[2]

परिव्राजक जी की विचरात्मक शैली की एक विशेषता यह भी है कि वह अपने पाठक से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। जिसके कारण पाठक और उनके बीच में किसी प्रकार की दूरी नहीं रह जाती। वह एक सुवक्ता भी थे, जिसके कारण वह अपने पाठक को यह अनुभव नहीं होने देते थे, कि हम कागज पर लिखे हुए लेखक के विचारों को पढ़ रहे हैं। प्रत्युत उन्हें पढ़ते समय ऐसा अभ्यास होता है, जैसे लेखक अपनी विचार वक्तृता द्वारा जिज्ञासुओं के सामने रख रहा हो। इस प्रकार की शैली का एक उदाहरण देखिए—

"मेरा किसी सम्प्रदाय के साथ सम्बन्ध नहीं है और न मैं किसी विशेष धर्माचार्य का अनुयायी हूं, मेरे देशवासी मुझे अभी नहीं जानते। सन् 1922 में जब मैंने बुद्ध गया का मन्दिर बौद्धों को देने का आन्दोलन उठाया था, तो लोग मुझे बौद्ध कहने लग गए और जब मैं आर्यसमाज के जलसों पर जाता हूं तो मेरे देशवासी मुझे आर्यसमाजी मानने लग जाते हैं। जब मैं बिन्दकी (जिला फतेहपुर) सनातनधर्म सभा के जलसे पर गया था तो लोग मुझे सनातनधर्मी कहने लगे थे। अपनी आत्मकथा में मैंने महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती, आर्यसमाज तथा संयुक्त राज्य अमेरिका और जर्मनी की बड़ी तारीफ की है— इसी से किसी समालोचक ने मुझे कुछ और किसी ने कुछ मान लिया। मेरा एक स्वभाव लोगों को भली प्रकार जान लेना चाहिए। मेरे में कृतज्ञता की मात्रा बहुत है और discriminatory power अथात् नीर-क्षीर न्याय-शक्ति का बड़ा विकास हुआ है। संतुलन का अभ्यास मेरा विशेष गुण है। मैं एक ही व्याख्यान में महापुरुष के गुणों की प्रशंसा और उनके दोषों की मीमांसा करने लग जाता हूं—मेरा यही स्वभाव मेरे देश-वासी हृदयंगम नहीं कर सके। साधारण मनुष्य आंखें मूदकर और वुद्धि को ताक पर रख कर दूसरे के पीछे चलते हैं, इसीलिए उसे मेरे जैसे पुरुष को समझने में बड़ी कठिनाई नहीं होती है।"[3]

---

1. स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अभिनन्दन-ग्रंथ, भाषा विभाग, पटियाला, पृ॰ 64
2. अनंत की ओर—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ॰ 104
3. विचार स्वातंत्र्य के प्रांगण में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ॰ 189-90

व्याख्यानात्मक शैली

वह साहित्यकार की अपेक्षा सुवक्ता अधिक थे। उनका नाम सुनते ही जनता हज़ारों की संख्या में दौड़ी चली आती थी। दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई तथा लाहौर जैसे बड़े बड़े शहरों में उनके भाषणों के लिए विशेष व्यवस्था की जाती थी। प्रज्ञा-चक्षु होने के कारण वह अपने लेख स्वयं न लिखकर बोलकर लिखवाते थे। इन कारणों से उनकी शैली में एक विचित्र प्रकार का प्रवाह स्वतः आ जाता था। वह प्रवाह जो सुवक्ताओं के भाषणों में पाया जाता है। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी, श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र, की शैलियों में भी हम यही विशेपता पाते हैं। अपनी इस शैली में परिव्राजक जी अनुच्छेद का आरम्भ जन-समुदाय को सम्वोधित करते हुए कहते हैं। उदाहरण देखिए—

"मेरे प्यारे भाइयो ! मैंने अपने धीमे स्वर को आपके कानों तक पहुंचाने का यत्न किया है। क्या आप सुनेंगे ? क्या आप अपने एक वन्धु के नम्र निवेदन पर ध्यान देंगे ? बड़ी कठिनाइयों से, बड़े दुःख सहकर, वहुत-सी वाधाओं का सामना करके मैं आप तक पहुंचा हूं। आपका दुःख मुझसे देखा नहीं जाता। यदि इस मेरे नम्र निवेदन में कोई शब्द आपको बुरा लगा हो तो मुझे क्षमा कीजिए।"[1]

इसी शैली का एक दूसरा उदाहरण देखिए—

"ए मनुष्य समाज ! ज़रा अपनी ओर देख। अपने पुत्र-पुत्रियों की वाक् स्वतन्त्रता की रक्षा कर। उनका स्वाभाविक जीवन बना। आंखें खोलकर उनकी गिरी हुई अवस्था अवलोकन कर। वे मक्कार हो गए हैं।"[2]

वर्णनात्मक शैली

अपने यात्रा वर्णनों में इन्होंने इस शैली का उपयोग किया है। "मेरी कैलाश यात्रा; उनकी वर्णनात्मक शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रकृति के नयराभिराम चित्रों को देखकर उनके हृदय में जो आनन्द की अनुभूति हुई उसकी अभिव्यक्ति उन्होंने इसी शैली में की है। इसका एक उदाहरण देखिए—

"जिस कैलाश ज़ी की महिमा पुराणों ने गाई है, जिसकी प्रशंसा में तिब्बती ग्रंथ भरे पड़े हैं, उस श्री कैलाश के दर्शन कर आज मैंने अपने आपको धन्य माना। यद्यपि इस पवित्र दर्शन के लिए बड़े-बड़े कष्ट सहने पड़े, गन्दे तिब्वतियों के साथ रहना पड़ा, लामाओं की घुड़कियां सुनीं, तो भी क्या, इस आनन्द के सम्मुख वे सव दुःख हवा हो जाते हैं। सिंधु नदी के किनारे जा रहे थे पर आंखें कैलाश जी पर थीं। दूसरा मन्दिर आ गया। उसको डुरफू कहते हैं। यहां सिन्धु पारकर गौरीकुण्ड की ओर चले। कैलाश जो यहां बिलकुल

1. मनुष्य के अधिकार—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 119
2. वही, पृ० 78

सामने, बिल्कुल पास है, उसकी चढ़ाई बड़ी कठिन है। धीरे-धीरे चढ़ा। रास्ते में वर्षा होने लगी, फिर साफ हो गया। ऊंचे, ऊंचे चढ़ते हैं। कैलाश जी के ठीक पीछे, उत्तर की ओर गौरीकुण्ड है। यह बारह महीने जमा रहता है। चार बजे के करीब यहां पहुंचे। कुण्ड क्या है, खासी झील है। आजकल जौलाई में इस पर बर्फ जमी थी। गौरीकुण्ड के किनारे बैठकर सत्तू खाए और बर्फानी जल पिया।"[1]

उनकी जर्मन-यात्रा में इस प्रकार के वर्णन बिखरे पड़े हैं। जर्मन देशवासियों की नदी 'राइन', जिसे वह गंगा के समान पवित्र मानते हैं—का सजीव वर्णन देखिए—

पहाड़ी चट्टानों की तंग घाटी में प्रवेश कर राइन नदी एक लज्जावती रमणी की तरह बड़े संकोच से आगे बढ़ती है। यह मार्ग इतना संकीर्ण है कि इसके किनारे पर कई स्थानों में रेल और सड़क के लिए बड़ी मुश्किल से जगह मिली है। नदी की सारी जीवन-यात्रा का यह सबसे अधिक सुखद् और रम्य भाग है। यहां प्राचीन गढ़ियों में खण्डहर, विचित्र पर्वत शृंग, खिलखिलाती अंगूरों की बेलें और अद्भुत कन्दराएं इतनी हैं कि जिनके कारण 'राइन नदी' प्रकृति के पुजारियों और नैसर्गिक सौंदर्य के उपासकों की अत्यन्त प्यारी हो गई।"[2]

उनकी पुस्तक 'ज्ञान के उद्यान में' के 'बाग की बहार' शीर्षक प्रकरण में यात्रा सम्बन्धी ज्ञानवर्द्धक निबन्धों जैसे 'लुनेता में हवाखोरी', नई दुनिया में योरोप में प्रथम पर्यटन, अल्मोड़ा के शिखर पर, गढ़वाल के गिरिश्रृंगों पर जो उनके यात्रा सम्बन्धी निबन्ध मिलते हैं, गनमें उनकी वर्णन शैली पर भावात्मकता का भी गहरा रंग चढ़ा हुआ है। इसका एक उदाहरण देखिए—

"आखिर वह आह्वान आया। समुद्रदेव ने अपने शीतल पवन के झकोरों द्वारा मनीला के नर-नारियों, वृद्ध-वनिताओं, निर्धन-धनवानों को सप्रेम बुलाया और नगर निवासी सहर्ष समुद्रदेव के आसन की ओर चल खड़े हुए। वह एक सुन्दर दृश्य था। 'पासिग' नदी के पुल पर से होकर समुद्र तट की ओर जाने वाली सड़क के किनारे खड़ा होकर मैं उस दृश्य को देखने लगा।"[3]

उन्होंने अपनी भावात्मक शैली में मानवीकरण का भी बड़ा सुन्दर और स्वाभाविक प्रयोग किया है। प्रकृति के आंखों देखे चित्रों के वर्णन में उन्होंने भावात्मकता का रंग देकर ऐसा संवारा है कि उनकी शोभा देखते ही बनती है। आंखों के सन्मुख वर्ण्य-विषय का चित्र प्रस्तुत कर देने की उनमें एक विचित्र क्षमता है।

"जंगल के बीच से प्रकृति की शोभा देखता हुआ मैं चुपचाप जा रहा था। सब संसार शान्त था। हां, प्रकृति अपनी वाणी से इस शान्ति को भंग करती थी। ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता गया, शब्द की महिमा बढ़ती गई। पक्षियों ने अपना राग आरम्भ किया, वन

---

1. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 95-96
2. मेरी जर्मन यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 55
3. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 217

विलारों का चीत्कार भी पहाड़ियों में सुनाई देने लगा।"[1]

विवरणात्मक शैली

वस्तुओं का नाम निर्देश करते हुए उनका एक ब्यौरा देकर विषय का प्रतिपादन करने की यह शैली विवरणात्मक शैली कहलाती है। अपने यात्रा वर्णनों में परिव्राजक जी ने इस शैली का अधिक प्रयोग किया है। इसका एक उदाहरण देखिए—

"शिकागो वहुत वड़ा शहर है। संसार के बड़े शहरों में इसका तीसरा नम्बर है। यहां एक 'फील्ड म्यूजियम' अर्थात् फील्ड साहिव द्वारा बनवाया हुआ अजायबघर है। य; मिशेगन झील के किनारे, शिकागो विश्वविद्यालय से थोड़ी ही दूर स्थित है। रविवार को सवेरे नौ बजे से शाम के पांच बजे तक, सबको यहां मुफ्त सैर की आज्ञा है।"[1]

इसी का एक और उदाहरण देखिए—

"यहां पर जो क्लव है उसका नाम 'रेनल्ड क्लब' है। यह 'क्लव' विश्वविद्यालय के छात्रों के उठने-बैठने, मिलने और वार्तालाप आदि के लिए है। यहां दो-तीन बड़े कमरों में 'पियानो बाजे रखे हैं, जहां छात्र लोग फुरसत के वक्त हंसते-खेलते और गाते बजाते हैं।"[2]

व्यंगात्मक शैली

एक क्रान्तिकारी समाज सुधारक के रूप में परिव्राजक जी ने साहित्य संसार में प्रवेश किया था। पुरानी रूढ़ियों का समर्थन करने वाले पाखण्डी समाज पर उन्होंने बड़े चुटीले व्यंग्य किए हैं। जिन्हें उनकी व्यंग्यात्मक शैली का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है—

"बनारस में एक बार कुछ नवयुवक मुझसे मिलने आए। एक नौजवान से मैंने पूछा—कहो भाई, क्या काम करते हो?

नवयुवक—कुछ नहीं करता।

मैंने आश्चर्य से पूछा—तो फिर खाते कहां से हो?

लड़का— ससुर के घर में रहता हूं।

मुझे वड़ा शोक हुआ। ससुर के घर में रहकर पेट भरना, इसमें तनिक भी लज्जा उस नवयुवक को मालूम न हुई। वह मनुष्य जो निकम्मा बैठा रहता है और अपने हिस्से का पैदा नहीं करता, उसको खाने का क्या अधिकार है? उससे तो चींटियां अच्छी हैं, जो

1. अमरीका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 47
2. वही, पृ० 33

उद्योग करके पेट तो भरती हैं।"[1]

दार्शनिक शैली

वह एक चिन्तनशील विद्वान् थे। प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों का भी उन्होंने अनुशीलन किया था। विचार गाम्भीर्य तथा अध्ययन की छाप उनकी इस शैली पर पाई जाती है। इसमें वह एक शान्त अध्येता के रूप में हमारे सन्मुख आते हैं। 'कला सम्बन्धी कुछ स्वतन्त्र विचार' शीर्षक लेख में वह कहते हैं।—

"इतना कथन करने के वाद अव मैं कला की भिन्न-भिन्न विकसित अवस्थाओं को ब्यौरेवार पाठकों के सामने रखता हूं। पहली अवस्था कला की व्यावहारिक है। मानव-समाज की प्रारम्भावस्था से ही कला का जन्म हुआ, तव समाज भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त था। अपने-अपने वर्ग के चिह्न लोगों ने निश्चित किए और उन्हें अपने तीरों, नावों और घरों पर बनाया। किसी ने मृग का रूप अपनाया तो किसी ने गिद्ध का, एक ने सिंह की शक्ल अपने डोंगे पर खींची तो दूसरे वर्ग ने हाथी को अपना प्यारा निशान माना। इस प्रकार पत्थर-युग से लेकर खनिज पदार्थों के विकसित युग तक मनुष्य धीरे-धीरे कला में उन्नति करता गया। ज्यों-ज्यों उनके सौन्दर्य का ज्ञान बढ़ा त्यों-त्यों भिन्न-भिन्न पेशेवर कलाकार अपना समुदाय बनाते गए। यह कला ही उनका धन्धा हो गया।"[2]

उनका दार्शनिक चिन्तन अतीत और वर्तमान का अद्भुत समन्वय है। देवी, देवताओं, नवी और पैगम्बरों की आड़ में दुकान चलाने वाले पण्डित, पादरी और मौलवियों को वह स्वतन्त्र चिन्तन का शत्रु मानते थे। इसी को उन्होंने अपनी चिन्तन प्रधान दार्शनिक शैली के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"असल में बात यह है कि देवता शब्द का विकसित अर्थ हमने अभी तक नहीं समझा और न हमारे आचार्यों ने अपने स्वार्थ के कारण इसकी शुद्ध व्याख्या ही हमें वतलाई, न हमने आदर्श पुरुषों को सच्चा आर्य समझा और न पैगम्बरों के स्वरूप को पहिचाना, न देवी-देवताओं के दरजे को निश्चित किया और न ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान ही हमें हुआ। तभी तो आज हम ईश्वर के विषय में सिवाय कोरे शब्दों के और कुछ नहीं जान सके। धर्माचार्यों और मजहबी पेशवाओं के अनुयायियों ने दुकानदारी का ऐसा जाल फैलाया कि जिसकी वजह से अध्यात्मवाद का दरवाजा बंद हो गया और अनन्त की खोज विलकुल रुक गई। जहां एक ओर विज्ञानवाद छलांगें मारता हुआ आगे बढ़ रहा है, वहां दूसरी ओर ईश्वरवाद की बधिया बैठ रही है—इसमें सिवाय मक्कारी के दूसरी बात रह नहीं गई। बड़े-बड़े विशाल मन्दिर, संगमरमर से बनी हुई, मस्जिदें और बड़े-बड़े ऊंचे गिरजे भी ईश्वरवाद का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सके, उलटा उन्होंने इसमें रोड़े

1. मनुष्य के अधिकार,—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 34
2. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृष्ठ 314

अटका दिए।"[1]

गवेषणात्मक शैली

प्राचीन संस्कृति, इतिहास तथा साहित्य पर उन्होंने अपनी कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां भी हमें दी हैं, जो उनकी इसी गवेषणात्मक पद्धति में समाविष्ट की जाएंगी। इस शैली का एक उदाहरण देखिए—

"मनुष्य को छोड़कर साधारण पशुओं में कुत्ते को देखिए तो पता लगेगा कि उसके पुराने पूर्वज भेड़िए का काम करते थे और गीदड़ भी उन्हो के वंशज हैं। पर कुत्ते ने अपने स्वभाव में बहुत उन्नति की है। इसके पूर्वज तेजी, तुन्दी, खब्वारी और धोखेबाजी के लिए कितने प्रसिद्ध थे और अब भी हैं, पर इन सब दुर्गुणों को कुत्ते ने किस प्रकार दूर कर दिया है। किस प्रकार मनुष्य के संग से उसने अपनी अवस्था को सुधारा है। पृथ्वी पर शायद ही कोई दूसरा पशु इतना विश्वासपात्र, इतना प्यारा, इतना घरेलू होगा। इसी तरह शेरी मौसी बिल्ली को देखिए। इसकी कथा तो आपने बहुत सुनी होगी। इसके परिवार के लोग दूर-दूर पाए जाते हैं। उनके कितने ही दर्जे हैं, उनके स्वभावों की परीक्षा कीजिए तो पता लगेगा कि जैसे मंगोलियन जाति के लोग भिन्न-भिन्न देशों में रहने और भिन्न-भिन्न जलवायु का संसर्ग होने के कारण आज अनेक अवान्तर भेदों में विभक्त हैं। परन्तु सबकी उत्पत्ति एक ही वंश से है, उसी प्रकार बिल्ली के परिवार की भी दशा हुई है। कारण यह है कि बिल्ली मनुष्यों के पास रहने लगी है, इसलिए इसने अपने पूर्वजों की बहुत-सी बातें छोड़ दी हैं और धीरे-धीरे अपनी उन्नति कर रही है।"[2]

शब्द-चयन

परिव्राजक जी का शब्द-चयन बहुत विस्तृत और समृद्ध ज्ञान का परिचायक है। उन्होंने व्यावहारिक भाषा का प्रयोग करने के लिए यथास्थान अपने साहित्य में अंग्रेज़ी, उर्दू, अरबी, फारसी तथा पंजाबी के शब्दों का प्रयोग किया है। परिव्राजक जी की इन शब्दों को प्रयुक्त करने की विधि अनेक स्थलों पर अर्थ के समुचित ग्रहण में बाधक रही है। इसका मुख्य कारण है कि कहीं-कहीं तो परिव्राजक जी ने कोष्ठक में अर्थ देकर विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है और कहीं बिना अर्थ दिए अप्रचलित शब्दों का प्रयोग कर दिया है।

(क) अंग्रेजी भाषा के शब्द : अंग्रेजी भाषा के शब्दों का प्रयोग परिव्राजक जी ने प्रचुर मात्रा में और दो प्रकार से किया है। एक तो बोलचाल की भाषा में प्रचलित अंग्रेजी शब्दों के अल्प प्रचलित हिन्दी अनुवादों का प्रयोग कर कोष्ठक में उनके अंग्रेजी पर्याय दे

1. संजीवनी बूटी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 234-35
2. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 326

दिए हैं। दूसरे, देवनागरी लिपि में अंग्रेजी शब्दों का पहले प्रयोग करके तत्पश्चात् कोष्ठक में हिन्दी अनुवाद दे दिया है।

1. प्रथम प्रकार की शब्दावली—जाति निर्देश (generalization)[1] चित्रोपम (picturesquc)[2] लालित्य (elegace)[3] अंगमर्दन (massage)[4] गर्भ (embryo)[5] पूर्णता (throughness)[6] समवेदना (feeling)[7] यौक्तिकक्रम (logicalsequ:nce)[8] इत्यादि शब्द आते हैं।

2. दूसरी प्रकार की शब्दावली—कामा (पाद विराम)[9] डैश (आदेशक)[10], इन्ट्यूशन (अन्तरात्मा),[11], हाइफन (योजक चिह्न), ब्रेकिट (वन्धनीय या कोष्ठक) इत्यादि शब्द आते हैं।

परिव्राजक जी ने कहीं कहीं अंग्रेजी की सूक्तियों का भी प्रयोग किया है—यथा "This is God's world and we are all his children."[12] इसके अतिरिक्त परिव्राजक जी ने कहीं-कहीं पर स्वतन्त्र रूप में अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग किया है। यथा—

कांटेक्ट्स, ब्रिटिश, असेम्बली, एसोशियेट, सेल्समैनी, साईन्स, इंटेशन, इकोनिमिस्ट, जीनियस आदि।

(ख) अरबी, फारसी एवं उर्दू के शब्द—बरख़ुरदार[8], कहर[9], महकमा[10], ज़रिए, तरजुम[11], मुस्तैद[12], गफ़लत[13], दुरुस्त[14], हकूमत,[15], उजरत [16] आदि।

इनके अतिरिक्त कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ सहित उर्दू प्रयोग हुआ है यथा—

---

1. लेखन कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 137, 138, 139
2. संजीवनी बूटी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 127
3. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 323
4. अमेरीका प्रवास की मेरी अद्भुत क़हानी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 337।
5. लेखन कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 60, 78, 90, 137
6. विचार स्वातन्त्र्य के प्रांगण में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 141,
7. मनुष्य के अधिकार—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 57
8. वही—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 21
9. भारतीय स्वाधीनता सन्देश—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 220
10. वही—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 240, 251
11. पाकिस्तान एक मृगतृष्णा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 26
12. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 69
13. संजीवनी बूटी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 191
14. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 285
15. वही—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 295
16. संजीवनी बूटी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 86

हायल (बाधक), हिलाल (दूज का चन्द्रमा, जब्र जनाह (बलात्कार) इत्यादि।

(ग) पंजाबी भाषा के शब्द—हुण (अभी)[1], लांवा (चक्कर)[2], मखौल (हंसी)[3], लहू (खून)[4], कुड़ियों (लकड़ियां)[5], पेके (अपने माता-पिता का घर',)[6] इत्यादि।

अतः परिव्राजक जी के साहित्य में प्रयुक्त विभिन्न भाषाओं के सामान्य एवं विशिष्ट शब्दों को लक्ष्य कर कहा जा सकता है कि वे सभी शब्द उनके गहन अध्ययन एवं व्यवहार ज्ञान को प्रमाणित करने में समर्थ है। परिव्राजक जी ने शब्दों के रूप में भाषा को नवीनता प्रदान कर उसे सामान्य स्तर की जन-जीवन के अनुकूल व्यावहारिक और रोचक बनाने का प्रयास किया है। उनका यह प्रयास सराहनीय है। लेखक ने शब्द की उपयोगिता और भाव के स्पष्टीकरण के लिए विभिन्न शब्दों को प्रयुक्त करने की इस विधि में स्वच्छन्दता बरतने से कहीं कहीं अर्थ-बोध में बाधा उत्पन्न कर समुचित प्रभावोत्पन्नता को क्षति पहुंचाई है।

(घ) परिव्राजक जी की भाषा में व्याकरणिक अशुद्धियां भी देखने को मिलती हैं। यह अशुद्धियां अधिकतर उनके द्वारा अमेरिका से भेजे गए लेखों में देखने को मिलती हैं।

कुछ उदाहरण देखिए[7]

मूल		संशोधित
स्वरगत लेखन त्रुटि	—विचारे[8]	वेचारे
व्यंजनागत लेखन त्रुटि	—जूंही[9]	ज्यों ही
	प्रवछन[10]	प्रबन्ध
संज्ञा सम्बन्धी	—फासला पर[11]	फासले पर

1. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 99
2. वही—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 89
3. देवचतुर्दशी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 113
4. वही—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 96
5. पाकिस्तान एक मृगतृष्णा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 35
6. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 38
7. ये सभी उदाहरण सत्यदेव परिव्राजक जी के हस्तलिखित लेखों से उद्धृत किए गए हैं। ये हस्तलिखित लेख आज भी काशी नगरी प्रचारिणी सभा के कला-भवन में रक्षित हैं। ये 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आए थे।
8. अमेरिका में विद्यार्थी जीवन — सरस्वती 1908, पृ० 3
9. वही — ,, ,, ,, 2
10. अमेरिका भ्रमण — सरस्वती 1911, पृ० 4
11. अमेरिकन स्त्रियां — सरस्वती 1908, पृ० 4

मूल		संशोधित
सर्वनाम सम्बन्धी	—कुछ एक ने[1]	कई एक ने
विशेष्य विशेषण सम्बन्धी—		
	उनके अभियान का चकनाचूर हो गया[2]	उनका अभियान चकनाचूर हो गया।
क्रिया सम्बन्धी—	जिस दिन आकाश शुद्ध हो चोटियां दीख पड़ती है।[3]	जिस दिन आकाश साफ रहता है चोटियां दीख पड़ती हैं।
अव्यय सम्बन्धी	—आपको कष्ट ही होगा।[4]	आपको व्यर्थ कष्ट होगा।
लिंग सम्बन्धी	—धूल नहीं उड़ता।[5]	धूल नहीं उड़ती।
वचन सम्बन्धी	— कुछ शब्द सुनाई दिया।[6]	कुछ शब्द सुनाई दिए।
सन्धि सम्बन्धी	—बरम्नामदे में।[7]	बरामदे में।
कारक सम्बन्धी	—आधी संख्या हमारे देश की मूर्खा स्त्रियों की है।[8]	आधी संख्या हमारे देश में मूर्खा स्त्रियों की है।

इस प्रकार त्रुटियों को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि परिव्राजक की भाषा एवं लेखन शैली शिथिल और अशक्त है। इस प्रकार के प्रयोग उनके साहित्य में प्रायः नगण्य हैं। हैं भी तो आरम्भिक कृतियों में, बाद की कृतियों में क्रमशः ऐसे प्रयोग का अभाव होता गया है।

परिव्राजक जी की शैली में कुछ खटकने वाली बातें—उन्होंने कहीं-कहीं ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है जिसके कारण उनकी भाषा में अश्लीलता आ गई है। यद्यपि कुछ यथार्थवादी या प्रगतिवादी इसे दोष न कहकर वास्तविकता का नाम देकर इसकी वकालत करेंगे। पर साहित्य के प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में यह दोष ही कहा जायेगा। वह इसे 'अश्लीलत्व दोष' का नाम दिये बिना न मानेंगे। देखिए—

"उसका साथी जो दूसरी तरफ से कूद कर आया, तो उसकी बांह मरोड़कर चूतड़ों पर इस जोर से लात मारी कि वह मुंह के बल गिर पड़ा[9]।"

यहां 'चूतड़ों' शब्द चिन्त्य प्रयोग है।

---

1. अमेरिका भ्रमण — सरस्वती—1909, पृ० 10
2. वही — सरस्वती—1911, पृ० 9
3. वही — ,, ,, ,, 11
4. अमेरिका की स्त्रियां — सरस्वती—1908, पृ० 10
5. अमेरिका भ्रमण — सरस्वती—1911, पृ० 12
6. अमेरिका के खेतों पर मेरे कुछ दिन — सरस्वती—1906, पृ० 13
7. अमेरिका भ्रमण — सरस्वती—1911, पृ० 11
8. शिकागो का रविवार — सरस्वती—1907, पृ० 25
9. देवचतुर्दशी, पृ० 147

कहीं-कहीं वाक्यों में न्यून पदत्त्व दोष भी आ गया है। जो भावार्थ के समझने में गड़बड़ी तो उत्पन्न नहीं करता पर कानों को खलता ज़रूर है—"जब वे स्त्री और पुरुष खा चुके तो मेरे सोने का प्रश्न उपस्थित हुआ।"[1] सर्वसाधारण की भाषा सुसंस्कृत लोगों की भाषा में एक अन्तर होता है। सर्वसाधारण की बोल-चाल में न्यून पदत्व दोष कोई बड़ा दोष नहीं है, पर दोष तो दोष ही है। "खा चुके के साथ" क्या खा चुके ? यह प्रश्न होना स्वाभाविक ही है।

उनकी भाषा में कहीं-कहीं प्रान्तीयता की छाप भी मिलती है। पंजाबी भी होती है। इस प्रकार की भूलें वे सभी लोग कर सकते हैं जो हिन्दी के अन्तर्गत आने वाली अवधी, ब्रज, भोजपुरी, नेपाली तथा मैथिल आदि बोलियों के माध्यम से अपने विचार प्रकट करते हैं या जिनकी मातृभाषा खड़ी बोली न होकर यह बोलियां हैं।

परिव्राजक जी की भाषा-शैली पर बाबू श्यामसुन्दर दास की व्यास-शैली का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। बाबूजी के समान परिव्राजक जी किसी बात को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समान सूत्र रूप में न कहकर विस्तार से कहना अधिक पसन्द करते थे। अतः उनकी शैली व्यास-शैली ही कही जायेगी। बाबू जी के समान एक बात को बार-बार कहने का दोष भी उनमें पाया जाता है। इस प्रकार उनकी शैली में पुनरुक्ति-दोष भी प्रचुर मात्रा में मिलता है। प्रज्ञाचक्षु होने के कारण वह अपनी रचना बोलकर लिखवाते थे। फिर वह उसे स्वयं नहीं पढ़ पाते थे, इसके लिये भी उन्हें दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता था। इसीलिए वह अपनी भाषा को सजाने तथा संवारने में सक्षम नहीं हो सके।

शिल्प-विधान की दृष्टि से उसमें कुछ कमियां अवश्य आ गई हैं। पर ऐसा सर्वत्र नहीं हुआ। 'लेखन कला' तथा काव्य शास्त्र के ज्ञाता होने के कारण परिव्राजक जी अपनी रचनाओं को लिपि-बद्ध कराते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखते थे। कमी केवल यही रही कि उसे बाद में समीक्षात्मक दृष्टि से नहीं देखा।

हीन पदत्त्व दोष तो आप देख ही चुके हैं। अब अधिक पद्त्त्व-दोष का एक उदाहरण देखिए—"आजकल के रेल, तार, विद्युत और आकाश विमानों के जमाने में कोई भी देश विदेशियों के हमलों से सुरक्षित नहीं हो सकता।"[2] यहां केवल विमान शब्द से ही काम चल सकता था क्योंकि विमान तो आकाश में उड़ा ही करते हैं। फिर 'आकाश विमान' लिखना कहां का प्रयोग है ?

इस प्रकार अधिक पद्त्व दोष का एक और उदाहरण देखिए —"उसका कोई प्राइवेट झगड़ा महात्मा गांधी जी से नहीं था और न गांधी जी ने उसकी कोई जायदाद छीनी थी—और न ही नाथूराम गोडसे हिन्दी और हिन्दुस्तानी के झगड़े में कोई बड़ी

---

1. अमरीका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 441
2. भारतीय स्वाधीनता सन्देश—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 1

दिलचस्पी रखता था।"[1] और न ही "नाथूराम गोडसे इस वाक्य में 'ही' का प्रयोग व्यर्थ और निरर्थक जान पड़ता है।

कुछ शब्द ऐसे भी आ गये हैं जिनमें ग्राम्यदोष स्पष्ट परिलक्षित होता है जैसे — 'चद्दर।' यह शब्द अधिकतर ग्रामीण जनता की बोलचाल में ही प्रयोग होता है, सुसंस्कृत लोगों की बातचीत में नहीं आता। लिखने में तो इसका प्रयोग कहीं देखने में नहीं आता। अतः इस शब्द के प्रयोग में ग्राम्यदोष स्पष्ट दिखाई देता है। यथा—सूर्यवंशियों ने सूर्य-चित्रित चद्दर' भेंट की।[2]

निष्कर्ष

परिव्राजक जी के साहित्य में भाषा एवं लेखन शैली के विविध रूप उपलब्ध हैं। उन्होंने अपने साहित्य में खड़ी बोली का प्रयोग करने के साथ अन्य भाषाओं और बोलियों के संभव रूपों का यथास्थान प्रयोग किया है। उद्बोधक शैली की ओजता से लेकर विचार प्रधान गम्भीर शैली तक के समस्त रूप उनके साहित्य में विद्यमान हैं। उनकी अलंकार-सज्जा, विशेषकर उपमाओं के नवीन प्रयोग अनायास ही, पाठक का ध्यान आकर्षित कर लेते हैं। यथार्थ विद्यमान जगत् से अपने उपमानों का ग्रहण लेखक की भाषा के प्रति कलात्मक रुचि और यथार्थवादी मनोवृत्ति की ओर संकेत करता है। परिव्राजक जी की यह अलंकृत शब्दावली देखकर यह तो नहीं कहा जा सकता है कि परिव्राजक जी ने भाषा को सजाने-संवारने का प्रयास नहीं किया है। परिव्राजक जी ने भाषा को सहज एवं सरस बनाने के साथ-साथ यथार्थ और व्यावहारिक रूप देने की ओर अधिक ध्यान दिया है। इसीलिये, उनकी अलंकृत शब्दावली वस्तु-जगत् से ग्रहण की हुई लगती है, उसमें उन्होंने कपोल-कल्पना या वायवी उड़ान नहीं की है। उसमें चमत्कार नहीं है। केवल यथार्थ रूप में भावों की प्रेषणीयता है। प्रगतिवादी लेखक होने के नाते विचार-प्रधान बौद्धिक शैली को लेखक ने अनेक स्थलों पर ग्रहण किया है। व्यंग्यों का भी उन्होंने खुलकर प्रयोग किया है। व्यंग्य के तीखे, कड़वे, पैने, मीठे सभी आयुधों को लेखक ने यथास्थान अपनी व्यंग्यात्मक शैली में ग्रहणकर उनका सदुपयोग किया है। कहीं-कहीं अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू तथा फारसी की सूक्तियों का प्रयोग अनुच्छेद के आरम्भ में करके भावाभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाया है। परिव्राजक जी ने मानवीकरण के द्वारा 'क्रान्ति' का जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसके लिये तदनुरूप शब्दावली का चुनाव उनके विस्तृत और गहन अध्ययन का द्योतक है।

1. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 515
2. अमेरिका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 489

चौथा अध्याय

लेखन-कला

विषय प्रवेश

रचना-कौशल अनायास ही प्राप्त नहीं हो जाता, उसके लिए वर्षों सतत् परिश्रम की आवश्यकता है। यह सही है कि प्रतिभा ईश्वर की देन है। ईश्वर के इस वरदान के बिना कोई भी व्यक्ति साहित्यकार के गौरवमय पद को प्राप्त नहीं कर सकता। बीज के रूप में प्रतिभा का होना आवश्यक है, परन्तु साथ-ही-साथ अभ्यासी और सिद्धहस्त लेखकों से अपनी कृतियों में संशोधन करा लेना भी बुरा नहीं समझा जाता। हिन्दी में तो इस समय नहीं, परन्तु उर्दू में यह परम्परा अभी तक चली आ रही है, किसी सिद्धहस्त लेखक के द्वारा संशोधन कराना 'इसलाह लेना' कहलाता है। जिस व्यक्ति से 'इसलाह' ली जाती है वह उस्ताद कहलाता है। हमारे यहां सिद्धहस्त साहित्यकारों से संशोधन कराने की परम्परा पहले से चली आ रही है। साहित्यकार अभ्यास तो करता ही था साथ-ही-साथ अनुभवी साहित्यकारों से संशोधन भी करा लेता था। इस प्रकार अनुभवी साहित्यकारों का मार्ग-दर्शन उसके अभ्यास में सोने में सुगन्ध उत्पन्न कर देता था। तद्विषयक शिक्षा तथा अभ्यास इन तीनों का होना आवश्यक ठहराया गया है। आचार्य भिखारीदास के शब्दों में—

> "सक्ति कवित्त बनाइवे की जिहि जन्मनछत्र में दीनी विधातै,
> काव्य की रीति सिख्यो सुकवीन सों देखी सुनी बहुलोक की बातैं।
> दास जू जामें एकत्र ये, तीन्यौ बनै कविता मन रोचक तातैं।
> एक दिना न चलै रथ जैसे धुरेधर सूत कि चक्र निपातैं।"[1]

साहित्यकारों की स्थिति मधु संचय करने वाली मधु-मक्षिका के समान होती है। जिस प्रकार मधु-मक्षिका अनेक फूलों से मधु ग्रहण करती है, उसी प्रकार साहित्यकार भी समाज रूपी उद्यान से एक मधुमक्षिका के समान विचारों को ग्रहण करता है। जन-सम्पर्क के द्वारा प्राप्त किया गया वह ज्ञान वह दूसरों को देता है, सभी इस समाज रूपी श्रृंखला की कड़ी हैं। सभी जन-सम्पर्क में आकर एक दूसरे से कुछ-न-कुछ ग्रहण करते हैं, पर सभी साहित्यकार नहीं बन सकते। साहित्यकार में सबसे बड़ी विशेषता है

---

1. भिखारीदास-काव्य निर्णय—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 5

अभिव्यक्ति। समाज मे जितना विस्तृत परिचय होगा, उतना ही विस्तृत उसका ज्ञान होगा। देश-विदेश का भ्रमण करके तथा स्वाध्याय के द्वारा परिव्राजक जी ने जो ज्ञानार्जन किया था, वह कम नहीं था। उस ज्ञान को दूसरों के सन्मुख रखने का गुण, जो अभिव्यक्ति कहलाता है, वह उन्हें ईश्वरीय वरदान के रूप में जन्म से ही प्राप्त था। इस गुण का विकास उन्होंने अभ्यास तथा इस विषय के ज्ञाता गुरुजनों के संशोधनों के द्वारा प्राप्त किया था। परिव्राजक जी की 'लेखन-कला' पुस्तक के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वह प्रत्येक साहित्यकार के लिये किसी अनुभवी गुरु का मार्ग-दर्शन आवश्यक समझते थे। उनकी लेखन-कला इस क्षेत्र में एक गुरु का ही काम करती है।

शैली से हमारा अभिप्राय विचार प्रकाशन की ऐसी रीति से है जिस पर लेखक के व्यक्तित्त्व की स्पष्ट छाप लगी रहती है। जब कोई व्यक्ति दीवार के पीछे से बोलता है तो हम उसकी आवाज को सुनते ही यह बता सकते हैं कि दीवार के पीछे कौन व्यक्ति बोल रहा है। यदि कभी हमने उसे बोलते हुए सुना है तो हम बता सकेंगे कि आवाज अमुक व्यक्ति की है। इसी प्रकार किसी सिद्धहस्त लेखक की रचना को पढ़कर यह सहज ही बताया जा सकता है कि ये पंक्तियां आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की लेखनी से निकली हैं या श्री श्यामसुन्दर दास की। शैली पर लेखक के अपने व्यक्तित्व की छाप लगी होती है। जिस प्रकार प्रत्येक कण्ठ से निकला हुआ स्वर अलग पहचाना जाता है, उसी प्रकार लेखक की अपनी शैली भी उसके व्यक्तित्व को प्रकाश में ले जाती है।

शैली उसके चरित्र की भी परिचायक होती है। उसके द्वारा उसके जीवन के सम्बन्ध में बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें बताई जा सकती हैं।

लखनऊ 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' में परिव्राजक जी ने 'लेखन-कला' पर एक लिखित व्याख्यान दिया था, जिसे कुछ घटा-बढ़ाकर 'शिक्षा का आदर्श' नामक पुस्तक के प्रथम संस्करण में सम्मिलित कर दिया गया था। जब शिक्षा का आदर्श नामक पुस्तक का प्रथम संस्करण समाप्त हो गया तब 'लेखन-कला' को नवाभ्यासी लेखकों के लिए उपयोगी समझकर पृथक् प्रकाशित करवाया गया। यह 132 पृष्ठों की पुस्तक साहित्योदय कार्यालय, प्रयाग में मार्गशीर्ष संवत् 1973 में प्रकाशित हुई थी। पुस्तक छोटी होते हुए भी उस समय की नई पीढ़ी के लेखकों के लिए अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुई। परन्तु अब उसका कोई संस्करण बाजार में नहीं मिलता। उपयोगिता की दृष्टि से उसका दोबारा प्रकाशित कराया जाना आवश्यक है। इस पुस्तक पर रायबहादुर पंडित शुकदेव बिहारी मिश्र (मिश्र बन्धुओं में से एक) की यह सम्मति उल्लेखनीय है।

"आपकी पुस्तक 'शिक्षा का आदर्श' तथा 'लेखन-कला' मुझे दौरे पर प्राप्त हुई। दो दिन के अन्दर आद्योपान्त पढ़ा तो पुस्तक बड़ी उपयोगी समझ पड़ी। वास्तव में पुरानी लकीर के फकीरों के नेत्र खोलने के लिए आजकल भारत को ऐसी ही पुस्तकों की आवश्यकता है। बंगला में तो ऐसे उच्च एवं उदात्त विचारपूर्ण बहुत से ग्रन्थ हैं, किन्तु हिन्दी में उनका एकदम अभाव-सा है। आप ऐसे ग्रन्थ लिखकर हमारी भाषा का

बड़ा भारी उपकार कर रहे हैं।"[1]

भाषा कैसी होनी चाहिए ?

भाषा एक माध्यम है। इसके द्वारा हम समाज में अपने विचार बोलकर अथवा लिखकर प्रकट करते हैं। अस्तु, लेखन-कला के अभ्यासियों के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि भाषा क्या है और किस प्रकार उसके माध्यम से अपने विचार प्रकट करने चाहिए। परिव्राजक जी ने भाषा की परिभाषा करते हुए अपना जो मत इस सम्बन्ध में प्रकट किया है, वह दृष्टव्य है।

"सबसे प्रथम 'भाषा' शब्द का अर्थ जान लेना ज़रूरी है, क्योंकि प्राय: लोग जहां थोड़ी वाक्य रचना सीख जाते हैं, अपनी गणना लेखकों में करने लगते हैं। वे नहीं जानते कि भाषा केवल साधनमात्र है। परस्पर एक दूसरे के सन्मुख अपने विचार प्रकट करने का जो साधन है, वह भाषा है। चाहे उसका उपयोग वाणी द्वारा किया जाए, चाहे लेखनी द्वारा। 'भाषा साधन है' उद्देश्य नहीं। जैसे धन साधन है धर्म करने का, परन्तु धन उद्देश्य नहीं। किसी के पास बहुत-सा धन है पर वह धर्म नहीं करता, उसके पास धन का होना निरर्थक है। वह धन से मनोरंजन करता है, नए-नए नाच देखता है, लोगों को नाच-तमाशे दिखाता है, इससे वह धार्मिक नहीं हो सकता। उसका धन उसके तथा समाज के लिए फजूल है, वह हानिकारक है। इसी प्रकार भाषा का ज्ञान मनुष्य को लेखक नहीं बना देता। वह भले ही उससे चन्द्रकान्ता जैसी रद्दी तथा राम कहानी जैसी भ्रमोत्पादक पुस्तकें रच ले, वह उसके द्वारा दूसरों को बड़ी-बड़ी फबतियां ही क्यों न सुना सके, परन्तु जब तक भाषा अपने उद्देश्य को पूरा नहीं करती उसका ज्ञान कभी भी व्यक्ति को लेखक नहीं बना सकता।"[2]

परिव्राजक जी 'भाषा' को एक ऐसा माध्यम मानते हैं जो मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्बन्ध जोड़ता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार चिर-संचित धन जीवन की विविध आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायक होता है। उसका उपयोग करने वाला उसे व्यसनों में भी व्यय कर सकता है और लोक-कल्याण में भी, यह सब उसकी इच्छा पर निर्भर है। इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए परिव्राजक जी कहते हैं—

"जैसे धन का एक उपयोग जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करना है, वैसे ही उसका मुख्य उद्देश्य परोपकार है अर्थात् अपने अन्य बन्धुओं की सेवा करना है। इसी प्रकार भाषा का एक उपयोग आपस की बोल-चाल, एक-दूसरे को बात समझा लेना है पर इसका मुख्य उद्देश्य उच्च भावों को अपने भाइयों के सामने रखना अर्थात् उनको उन्नत पथ पर ले जाने के लिए नया सन्देश, नया उत्साह, नयी सामग्री, नया आदर्श पेश

---

1. देखिए—शिक्षा का आदर्श पुस्तक के विज्ञापन में।
2. लेखन-कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 2-3

करना है। यों तो कहा जाता है, There is nothing new under the sun. अर्थात् सूर्य मण्डल में कोई बात नई नहीं है, पर यह केवल कथन मात्र है। विद्या के विकास से प्रकृति के नए-नए रूप प्रकट होते रहते हैं। नित्य लाखों बच्चे पैदा होते हैं पर एक से एक नहीं मिलता, यों कहने को उनमें कोई नई बात नहीं। तात्पर्य यह है कि 'भाषा' का उद्देश्य समाज-सुधार, उसको उन्नति के पथ पर ले जाना है। यदि कोई भाषा का पंडित इस उद्देश्य का पालन नहीं करता तो वह कदापि भी लेखक कहलाने का अधिकारी नहीं।"[1]

चार प्रकार के लेखक—परिव्राजक जी ने अपने समकालीन हिन्दी लेखकों को चार भागों में विभक्त किया था। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

"हिन्दी संसार में इस समय चार प्रकार के लेखक दिखाई देते हैं—एक तो वे जो सचमुच साहित्य की परिभाषा में लेखक हैं, जिनके तन को देश-सेवा की धुन लगी हुई है, जो अपने देश-बन्धुओं की हीनावस्था पर अश्रुपात करते हैं, जो देशोत्थान के पवित्र कार्य के हित परिश्रम कर पुस्तकें रचते हैं। दूसरे वे महाशय हैं जो धन कमाने के लिए लिखते हैं। हालांकि हिन्दी पुस्तकों से संसार में अभी अंग्रेजी की भांति आमदनी नहीं है, पर तो भी क्या, भागते भूत की लंगोटी ही सही। कुछ मिलना चाहिए। चालीस, पचास, सौ जो कुछ—एक छः फार्म की पुस्तक मिले, इन्हें तो रुपये से काम है। रुपये दे दो, पुस्तकें लिखवा लो। ये लोग पुस्तकें लिखने की मशीनें हैं। अपने दिमाग से न लिखेंगे तो संग्रह ही कर देंगे और पुस्तक पर बड़े अभिमान से छापेंगे—'संग्रहकर्ता', क्योंकि उनको तो रुपये से मतलब है।"[2]

इसी श्रेणी के लेखकों का वर्गीकरण करते हुए परिव्राजक जी आगे चलकर कहते हैं—

"इसी श्रेणी में और ऐसे ही लेखकों के छुटभैया धनलोलुप और भी निकले। उन्होंने मित्रता अथवा साहित्य-सेवा के बहाने दूसरों की लिखी पुस्तकें अपने नाम से छपवा ली और लिखने वाले को एक पैसा भी पुरस्कार का न देकर थोथा निष्काम-कर्म का उपदेश सुना उसकी मेहनत आप डकार गए। यदि इससे भी पेट न भरा तो एक छोटा-मोटा छापाखाना खोल 'साहित्य-सेवा' के विज्ञापन बांट—'हम लेखकों को पुरस्कार देते हैं'—ऐसा जाल फैला नए-पुराने लेखकों को फंसाना आरम्भ किया। अब क्या होने लगा ? दूसरों की लिखी हुई पुस्तकें इनके यहां आती हैं। वे महाशय उसे अपने यहां रखकर उसकी नकल करवा लेते हैं और दो-चार सप्ताह बाद लेखक को उसका हस्तलेख (Manuscript) "दुःख है हमें आपकी पुस्तक पसन्द नहीं आई" लिखकर लौटा देते हैं। चार-पांच महीने बाद उसी पुस्तक में इधर-उधर काट-छांटकर, नया नाम देकर,

1. लेखन कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 3
2. वही, पृ० 4

अपने नाम से छपवा लेते हैं।"[1]

तीसरे प्रकार के लेखक वे हैं जो दूसरों को बदनाम करने अथवा हंसी-मजाक के लिए लेख लिखते हैं। उनके हृदय द्वेष से कलुषित हैं। वे बी० ए० हैं, एम० ए० हैं, सब प्रकार से योग्य हैं, लिख सकते हैं, पर उनके मन की प्रवृत्ति दूसरों की निन्दा, दूसरों को नीचा दिखाने की ओर लगी रहती है। वे भाषा के पंडित हैं, शब्द-विन्यास खूब जानते हैं, बुद्धि भी कुशाग्र है पर उनकी योग्यता, उनकी बुद्धि साहित्य-क्षेत्र में मल्ल-युद्ध करने में व्यय होती है। वे अपने पैने बाणों से दूसरों को घायल कर अति प्रसन्न होते हैं और अपने आपको साहित्य का सूर्य समझते हैं।"

चौथे प्रकार के लेखकों के सम्बन्ध में वह कहते हैं—

"चौथे प्रकार के लेखक वे हैं जो केवल नाम के भूखे हैं। किसी पुस्तक पर उनका नाम छपना चाहिए। बस यही उनकी कामना है। इसके लिए वे धन खर्च करते हैं, बड़े-बड़े विद्वानों से पुस्तकें लिखवाकर अपने नाम से छपवाते हैं। प्राय: राजा-महाराजा लोग ऐसा करते हैं। यह भी अनुचित है। पुस्तक लिखने वाले के नाम से छपनी चाहिए— उसकी विद्वत्ता, प्रतिभा, दैवी शक्ति है, इनका विक्रय नहीं हो सकता।"[2]

लेखक का दायित्व

परिव्राजक जी पर आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती की स्पष्टवादिता एवं निर्भीकता का प्रभाव सर्वत्र दिखाई देता है। वह एक आदर्शवादी साहित्यकार थे। वह जिस पीढ़ी के लेखक थे, उसके लेखक देश, जाति और समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य समझते थे। वे यथार्थ के नाम पर वासना को भड़काने वाला ऐसा नग्न वर्णन नहीं करते थे। बाप, बेटी, पिता, पुत्र, गुरु, शिष्य तथा भाई-बहन जिसकी चर्चा एक-दूसरे के सामने खुलकर न कर सकें। उनका उद्देश्य केवल सत्यं-शिवं और सुन्दरम् का समन्वय होता था। यही उस युग का आदर्शवाद था, जिसे उस युग के साहित्यकारों ने विरासत के रूप में हमें दिया है।

लेखक और साहित्यकार के दायित्व को सन्मुख रखते हुए 'लेखन-कला' के विद्वान् लेखक ने अपनी पीढ़ी के उगते हुए अंकुरों को जो शिक्षा दी है उसका आज भी उतना ही महत्त्व है और भविष्य में भी रहेगा। लेखक के यह शब्द साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करने वाली नई प्रतिभाओं के लिए मशाल का काम करते हुए जान पड़ते हैं। उनकी मान्यता थी कि साहित्यकार की अपनी सीमाएं होती हैं जिनका उसे कभी अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। उसे लेखनी उठाने से पूर्व अपने दायित्व को भी ध्यान में रखना चाहिए। स्वामी जी के इस सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार थे :—

"अब हम सबसे पहले साहित्य का गला घोंटने वाले उन 'लेखकों' के दोष दिखाते

1. लेखन कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 4-5
2. वही, पृ० 6

हैं, जो केवल पैसा बटोरने के लिए कागज़ काले करते हैं। ऐसे लोगों में सबसे पहला नम्बर उन धूर्तों का है, जो गन्दे और अश्लील ग्रंथ लिखकर अपने पाठकों का चरित्र बिगाड़ते हैं। इनके लिखे हुए उपन्यासों से सैंकड़ों-हज़ारों नवयुवकों के जीवन-भ्रष्ट हो गए, पर क्या मजाल इन देश-शत्रुओं की लेखनी थम जाए। इनकी जाने बला! इनको न देश से काम है, न जाति से, इनका ईश्वर तो पैसा है। पैसा दे दो, जो चाहे लिखवा लो। गन्दी से गन्दी अंगरेजी पुस्तक का अनुवाद करते न चूकेंगे, यदि उससे कुछ प्राप्ति है। जानते हैं कि रेनल्ड्स के उपन्यासों से भारतीय युवकों के चरित्र बिगड़ेंगे पर इनको क्या! वे बिकते तो हैं। इनको बिक्री से मतलब है, उनका हिन्दी अनुवाद कराएंगे, बड़े-बड़े विज्ञापन छपवा कर बटवाएंगे और हिन्दी साहित्य सम्मेलनों पर स्वयं जाकर उन अश्लील पुस्तकों के विज्ञापन बांटेंगे। भला इस निर्लज्जता की भी कोई सीमा है? इसका कारण यह है कि हिन्दी संसार में कोई 'पब्लिक ओपीनियन' नहीं है। यहां अधिक पत्रों के संपादक खुशामदपसन्द और कायर हैं। रद्दी से रद्दी पुस्तक निकल जाए वह भी इनके विचार में 'संग्रह करने योग्य' है। कोई ऐसा नहीं है जो गन्दी और अश्लील पुस्तकों के लेखकों के विरुद्ध ज़ोरदार आवाज़ उठावे और हिन्दी-साहित्य पर पड़े हुए कीचड़ को धो डाले।"[1]

लेखनी उठाने से पहले

वह नये लेखकों के प्रकाश-स्तम्भ थे। उन्होंने नवीन लेखकों का मार्ग-दर्शन करने के लिए अपने जीवन के महत्वपूर्ण अनुभव भी इस पुस्तक में बताए हैं। यह अनुभव नई पीढ़ियों के लिए एक शिक्षक और गुरु का काम करते हैं। लेखक बनने की इच्छा रखने वालों से उनका कहना है—

"लेखक बनने के लिए जीवन को तपस्या में ढालना पड़ता है। खुली आंखों से जगत् का निरीक्षण करना होता है। अपने विवेक से घटनाओं को तोलना पड़ता है। संसार भ्रमण कर प्रकृति और पुरुष का सीधा ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। अपने अनुभव, जन्य-ज्ञान से ही मनुष्य सच्चा लेखक बनता है और उसके कहे हुए शब्द आकाश में गूंजने लगते हैं। जो लेखक मनसा, वाचा, कर्मणा, से अपने कथनों को एक सीध में लाकर लेख लिखते हैं वे अपने शब्दों में दिव्य प्रकाश कर देते हैं जो कि जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं को सान्त्वना देते हैं और इस प्रकार शान्ति फैलाते हुए पीछे आने वाले यात्रियों के प्रकाश-स्तम्भ बन जाते हैं।"[2]

"अहो! लेखन-कला का मार्ग बड़ा कठिन है। इसमें बड़ी जिम्मेदारी भरी हुई है। यह फूलों का बिछौना नहीं, बल्कि कांटों का मार्ग है। जो लोग मौलिकता से भरे विचार अपने पाठकों को देना चाहते हैं उन्हें मेरी नीचे लिखी कविता कण्ठाग्र कर लेनी

---

1. लेखन कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 7
2. स्वामी सत्य देव अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 28

चाहिए।

रात की घड़ियां निरन्तर जागकर,
गगन के तारे नहीं जिसने गिने,
दुःख से संतप्त हो जिसने कभी,
कौर दो खाए नहीं आंसू सने—
अगर ऊषा में नहीं जिसका कभी,
वस्त्र आहों से लगा हो भीगने—
वह हृदय है शून्य रचना-प्रेम से,
चीज़ मौलिक क्या कभी उससे बने ?
मार्ग जीवन का छिपा है दुःख में,
विश्व रचना यही साहित्य है,
है हमारे पतन का इतिहास सुख,
दुःख से उत्थान होगा सत्य है ॥"[1]

वह एक अच्छे घुमक्कड़ थे तथा उन्हें स्वाध्याय का भी शौक था। यही दो उनके बड़े व्यसन थे। प्रज्ञाचक्षु होने के कारण स्वयं पढ़ने में असमर्थ रहते थे, दूसरे इसके लिए वह अच्छा खासा वेतन देकर पढ़ने वाले को भी अपने पास रखते थे। लेखक बनने की इच्छा रखने वाले नवयुवकों को अच्छा लेखक बनने के लिए सुझाव देते हुए कहा करते थे—

सफल लेखक कैसे बनें ?

अच्छा लेखक होने के लिए दो बातों की बड़ी भारी आवश्यकता है—भ्रमण और स्वाध्याय। बहुत से मनुष्य ऐसे हैं जिन्होंने स्कूलों में शिक्षा नहीं पाई पर उनका अनुभव इतना बढ़ा-चढ़ा हुआ है कि वे बड़े-बड़े विद्वानों से टक्कर मारते हैं। ऐसे मनुष्य थोड़े से भाषा-ज्ञान के द्वारा अच्छे लेखक हो सकते हैं। इसलिए लेख सम्बन्धी सामग्री इकट्ठी करने के लिए भ्रमण की बड़ी ज़रूरत है। प्रत्येक उन्नत भाषा साहित्य की भ्रमण सम्बन्धी पुस्तकों में खास आकर्षण होता है, उनके पाठक अधिक होते हैं। नये-नये शहर तथा देश घूमने से ज्ञान का दायरा बढ़ता है, तुलना करने की शक्ति उत्पन्न होती है, भांति-भांति के दृश्य नई नई शिक्षा देते हैं, भिन्न स्वभाव के मनुष्यों के मिलने से मनुष्य स्वभाव का परिचय मिलता है, सत्पुरुषों के साथ मुलाकात करने से अपने गुण-दोषों का ज्ञान होता है। उन्नत देशों में घूमने से अपने देश की हीनता के कारण समझ में आते हैं और देश-हित कार्य करने में नई-नई बातें सूझती हैं। लेखक को भ्रमण से बड़ी भारी सहायता मिलती है।"[2]

---

1. लेखन कला—स्वामी सत्यदव परिव्राजक पृ० 29
2. लेखन-कला पृ० 12

वे उन लेखकों में से नहीं थे, जो लिखने के लिए लिखते हैं या जो मन में आया लिख डालते हैं।

लेखक राष्ट्र निर्माता होता है

वह लेखक को राष्ट्र-निर्माता मानते थे। लेखक को कर्त्तव्य तथा दायित्व की ओर भी ध्यान देना चाहिए। साहित्यकार का देश और समाज के प्रति कुछ कर्त्तव्य होता है। उसे अपने दायित्व का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिए, यह उनका आदर्श वाक्य था। इसी को सन्मुख रखकर वह नई पीढ़ी के लेखकों से कहते हैं—

"स्मरण रखो, निरभिमानी और स्वार्थ-त्यागी लेखक जिस जिस देश में उत्पन्न हुए हैं, उन्होंने उस देश की भाषा को अजर और अमर बना दिया है। वाल्मीकि, वेद-व्यास, कणाद, कपिल, गौतम, पतंजलि आदि महर्षियों ने स्वार्थ-त्याग कर लेखनी उठाई थी और जो कुछ लिखा वह अजर और अमर हो गया। आर्य-जाति, आर्य-सभ्यता लोप हो गई, विदेशियों ने आर्य-संतान को सैकड़ों वर्षों तक पांवों तले रौंद डाला, उनका इतिहास जला दिया, उनका मनुष्यत्त्व नष्ट करने में कोई कसर उठा न रखी पर जिन कवियों ने संस्कृत-साहित्य के ऐसे स्तूप रचे, जिनकी जड़ें पाताल तक पहुंचा दीं। आज भी उन स्तूपों पर लिखे हुए उपदेश सभ्य संसार में हमारा मुख उज्ज्वल करते हैं और हमारे प्राचीन गौरव की रक्षा कर रहे हैं।[1]

अपने कथन को अधिक स्पष्ट करने के लिए परिव्राजक जी गोस्वामी तुलसीदास का उदाहरण देते हुए कहते हैं—

"उस काल में जब कि संस्कृत का प्रचार करना कठिन था, हिन्दू-धर्म के सिद्धांतों को सर्व-साधारण तक पहुंचाने की ज़रूरत थी। गोस्वामी जी ने अपनी रसीली-भाषा में ऐसे ग्रन्थ की रचना की जिसने भारत के सर्व-साधारण में धर्म-भाव भरने के लिए संजीवनी बूटी का काम किया। भारतवर्ष अशिक्षित है। उसके करोड़ों बच्चे प्रारम्भिक शिक्षा से भी वंचित हैं, पर भारत का शायद ही कोई अभागा ग्राम होगा जहां तुलसीदास जी का सन्देश किसी न किसी रूप में न पहुंचा हो। अहा! सच्चा लेखक क्या कुछ नहीं कर सकता? करोड़ों आत्माओं को देने वाले ग्रन्थ धन के लोभ से नहीं लिखे जाते उनके लेखकों ने अपना ग्रन्थरत्न धन के लिए नहीं लिखा था।"[2]

स्वस्थ चिन्तन और विचारों की हर युग में आवश्यकता रही है। इस आवश्यकता को साहित्यकारों ने ही पूरा किया है। इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए परिव्राजक जी कर्त्तव्य-विमुख तथा दायित्व-शून्य लेखकों पर कुठाराघात करते हुए खुले शब्दों में कहते हैं—

"सोचने की बात है कि उस मनुष्य को लेखनी उठाने का क्या अधिकार है जिसके पास श्रेष्ठ विचार नहीं है। एक व्यक्ति का दिमाग खराब (diseased brain) है हम

1. लेखन कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 14
2. वही, पृ० 15

वह समझ सकते है, उनके साथ हमारी सहानुभूति है। किन्तु वह आदमी महानीच है जो अपनी बीमारी द्वारा धन पैदा करता है, जो अपनी बीमारी के कीड़ों को पुस्तक रूपी साधन बना अपने अन्य भाइयों तक पहुंचाता है। भाषा, शुद्ध साहित्य तथा पवित्र भाव प्रचार करने के लिए है, भाषा मानसिक व्याधियों का इलाज करने के लिए है, इसीलिए गन्दी और अश्लील पुस्तकों के रचने वाले अपनी भाषा के शत्रु हैं। वे कदापि लेखक नहीं कहला सकते। वे केवल अपने बुरे ख्यालात का ताना वाना बुन सकते हैं।"[1]

लेखक का चरित्रवान होना आवश्यक है

यदि शैली लेखक के व्यक्तित्व की परिचायक है, तो उसकी कृति उसके जीवन को सन्मुख लाकर रख देती है। उसकी कृति में उसका जीवन मुखरित हो उठता है। इसलिए लेखक का चरित्रवान् होना आवश्यक है। परिव्राजक जी इस सिद्धान्त के समर्थक थे। इसीलिए वे लेखक में चरित्र-वल का होना आवश्यक ठहराते हैं। आज हिन्दी-लेखक अपने दायित्व को भूलकर किस प्रकार पथ-भ्रष्ट हो गए हैं, इसे सम्मुख रखते हुए परिव्राजक जी कहते हैं—

"हिन्दी साहित्य-संसार की दशा वड़ी विचित्र है। यहां भांग छानने वाले, नाच देखने वाले, सत्य की अवहेलना करने वाले हिन्दू-समाज के उपन्यास लिखते हैं। आदर्श हिन्दू-समाज कैसे उच्च भावों के द्योतक शब्द है, उन उच्च भावों का चित्र खींचने के लिए कैसे पवित्र हृदय की आवश्यकता है। प्रभु के दैवी स्रोत से सम्बन्ध हुए बिना, क्या आदर्श हिन्दू-समाज के अलौकिक गुणों—ब्रह्मचर्य, सतीत्व, धर्म, सत्यव्रत, कर्म-निष्ठा, श्रद्धा-भक्ति आदि के दिव्य दर्शन कोई लेखक अपनी लेखनी द्वारा हमें करा सकता है? कदापि नहीं। दुकानों पर बैठकर झूठ-मूठ सौदा तोलने वाले, अदालत में जाकर झूठे मुकदमे लड़ने वाले, नौकरी की जंजीरों में जकड़े हुए खुशामदी अपनी लेखनी द्वारा किसी जाति के पथ-प्रदर्शक नहीं वन सकते। हिन्दी का यह दुर्भाग्य है कि इसका साहित्य ऐसे ही लोग रच रहे हैं। पर यहां दशा शीघ्र सुधरेगी, ज्यों-ज्यों लोगों में शिक्षा होने से परख करने की शक्ति आती जाएगी त्यों-त्यों अच्छे लेखकों का आविर्भाव होता जाएगा।[2]

"उसी लेखक की भाषा में वल आ सकता है जिसके चरित्र में वल हो। यदि आप अपने लेख में शुद्धता भरना चाहते हैं तो इसके लिए शुद्ध विचार की आवश्यकता है। जिसका अपना जीवन पवित्र नहीं है, उसके लेख में पवित्रता कहां से आ जाएगी। जो लोगों को दिखाने के लिए, धोखा देने के लिए अस्वाभाविक तौर पर अपनी प्रवृत्ति के विरुद्ध वनकर चलते हैं, वे स्वयं धोखा खाते हैं। जिस कला-कौशल में प्रवीण होकर हम संसार में कुछ करना चाहते हैं उसका हमारे व्यवहारिक जीवन, हमारी नित्य की दिनचर्या के साथ वड़ा भारी सम्वन्ध है। किसी विद्वान् ने सच कहा है—

---

1. लेखन कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक पृ० 8
2. वही, पृ० 22

"Style is the man himself."[1]

"लेखनी-शैली लेखक का अपना स्वरूप है। नवयुवक हिन्दी लेखकों को यह उक्ति अपने हृदय पर लिख लेनी चाहिए।"

प्रत्यक्ष ज्ञान की आवश्यकता

शैली का लेखक के अपने जीवन से क्या सम्बन्ध है, किस प्रकार उसका व्यक्तित्त्व उसकी लेखनी के द्वारा उसकी रचनाओं में उभर कर आता है, इस पर अपने विचार प्रकट करते हुए वह कहते हैं—

"लेखक एक चित्रकार है, जो अपनी सुन्दर, ललित वाक्य-रचना से नैसर्गिक, मानसिक और आत्मिक छापों की छटा को दिखलाता है। रंग-बिरंगे भावों के द्योतक शब्दों को अपने लेखन-कौशल द्वारा प्रयोग में लाकर वह भय, करुणा, वीरता, प्रेम, अभिमान आदि मानुषी लीलाओं का चित्र खींचता है। परन्तु कोई भी चित्रकार अपने मन में गन्दे, अश्लील आदर्शों को रखकर सती-साध्वी सीता का चित्र नहीं खींच सकता। वह मनुष्य जो स्वयं कायर है, महाराणा प्रताप की हल्दीघाटी के युद्ध का चित्र कैसे खींच सकता है ? नौकरी करते-करते खुशामद से जिनकी कमरें झुक गयी हैं वे महाराष्ट्र केसरी छत्रपति शिवाजी का जीवन-चरित्र लिखकर भारतोत्थान का सन्देश कैसे दे सकते हैं ? पुलिस के डर के मारे जिनका पेशाव निकलता और झूठी खुशामद में जो पद्य-रचना करते हैं, वे भारत के राष्ट्र-कवि कैसे बन सकते हैं ? स्मरण रखो, लेखक बनने के लिए यह परमावश्यक है कि जिस भाव का चित्र आप अपनी पुस्तक में भरना चाहते हैं, उसका आदर्श आपके हृदय-पट पर सिंचित होना चाहिए।

"बिना ठीक फोटो सामने आये हुए चित्रकार चित्र नहीं बना सकता। जब लेखक अपने आदर्श से भर न जाये, उसका लेखनी उठाना निरर्थक है। बड़े-बड़े लेखकों ने अपना अधिक जीवन तैयारी में खर्च कर तब पुस्तकें लिखी थीं। वे अपने विषय में लीन होकर, उसके सारे साधनों से सम्पन्न होकर तब लेखनी उठाते थे। भला वह कठोर हृदय मनुष्य, जिसने कभी भी अपने देश के दुःखी भाइयों के लिए अश्रुपात नहीं किया, किस प्रकार भारत के दुर्भिक्ष का चित्र अपनी पुस्तक में खींच सकेगा ? कदापि नहीं। जिसने करुणा-रस का आस्वादन नहीं किया, जो दया के स्रोत से सम्बन्ध नहीं रखता, भला वह कैसे दूसरों के कष्ट को समझ सकता है ?"[2]

उन्होंने लेखक के दायित्व को स्पष्ट करते हुए उसे तीन श्रेणियों में विभक्त किया है इस सम्बन्ध में उनका कहना है—

"लेखक तीन प्रकार के दृष्टिगोचर होंगे। एक तो ऐसे लेखक हैं जो बिना सोचे-समझे लिखते हैं। इनको लिखने की बीमारी है। ये धन के लोभ से लिखें, या ईर्षा-द्वेष-वश, या झूठे नाम की इच्छा से—इनकी लेखनी मशीन है—ये बिना विचारे लिखकर

1. लेखन कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 26-27
2. वही, पृ० 20-21

फेंक देते हैं। इन्हें सबसे निकृष्ट दर्जे का लेखक समझना चाहिए।

"दूसरे लेखक वे हैं जो लिखते हुए सोचते हैं --साथ-साथ लिखते जाते हैं और सोचते जाते हैं। उनको अपने पर झूठा विश्वास होता है। वे समझते हैं कि जब हम लिखने बैठेंगे तो हमारे दिमाग से विचार-समुद्र उमड़ पड़ेगा। वे अपने 'शीर्षक' के लिए कुछ भी सामग्री इकट्ठी नहीं करते, उसके लिए पहले से कुछ भी तैयारी नहीं करते। ऐसे लेखक मध्यम दर्जे के लेखक हैं।

तीसरे और सबसे श्रेष्ठ लेखक वे हैं जो अपने विषय को लिखने से पहले अच्छी प्रकार विचार कर लेते हैं, जो "Look before you leap."(कूदने से पहले 'खूब देख-भाल लो)वाली उक्ति पर चलते हैं। ऐसे लेखक बहुत कम हैं। ऐसे ही लेखकों से साहित्य का गौरव है।"[1]

अच्छे लेखकों में ऐसे क्या गुण होते हैं जिनके कारण लोकप्रियता प्राप्त कर लेते हैं। इस पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि शैली का स्वरूप क्या है इस पर प्रकाश डालते हुए श्री रामचन्द्र वर्मा अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अच्छी हिन्दी' में इस प्रकार लिखते हैं --

"शैली शब्द का साधारण अर्थ है— ढंग। हर काम करने का एक ढग होता है। खाने-पीने, उठने-बैठने, लिखने-पढ़ने, बोलने-चालने आदि सभी बातों का एक ढंग होता है जो काम ठीक ढंग से नहीं किया जाता, वह जल्दी ठीक या पूरा नहीं उतरता। हर एक काम अच्छे ढंग से करने से करने वाले का सुघड़पन प्रकट होता है, और अच्छे ढंग से न करने से 'फूहड़पन' व्यक्त होता है। यह 'फूहड़पन' वास्तव में 'बेढंगेपन' का ही दूसरा नाम है। बोलने और लिखने का भी ढंग होता है। जो बात ठीक ढंग से नहीं कही या लिखी जाती, वह प्राय: अपना अभीष्ट ठीक तरह से सिद्ध नहीं कर सकती। इसीलिए बोलने और लिखने के भी ठीक ढंग सीखने की आवश्यकता होती है।"[2]

अच्छे लेखकों में क्या गुण होने चाहिए उनमें बनावटी लेखकों से क्या भिन्नता होती है, उस पर प्रकाश डालते हुए परिव्राजक जी कहते हैं—

"सबसे पहला गुण इन लेखकों के लेखों में यह होता है कि इनके शब्दों का प्रभाव पड़ता है। जैसे आतशी शीशे को सूर्य के सामने करने से उसका फोकस हो जाने से किरण समूह में जलाने की शक्ति हो जाती है, ऐसे ही विचारशील और वृत्तियों का विरोध करने वाला लेखक अपनी मानसिक शक्तियों को एकाग्र कर जब लेखनी उठाता है तो उसके शब्दों में जलाने की शक्ति आ जाती है। जो कोई उसके लेख को पढ़ता है उस पर उन शब्दों का विचित्र प्रभाव पड़ता है। यह बात बनावटी लेखक में कदापि नहीं आ सकती।"[3]

---

1. लेखन कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 19
2. अच्छी हिन्दी—रामचन्द्र वर्मा, पृ० 290
3. लेखन-कला, पृ० 19

"दूसरे सच्चा लेखक जिस समय अपने उद्देश्य को निश्चित कर अपने सन्देश की महत्ता को समझकर लिखना आरम्भ करता है तो उसके लेख में 'जीवन' आ जाता है। उसके शुद्ध अन्तःकरण से निकले हुए शब्द उसके पाठक में जीवन प्रदान करते हैं। वह अपने विचारों से अपनी संजीवनी शक्ति से एक-एक शब्द में जीवन फूंक देता है।"[1]

"तीसरे यदि लेख में 'आनन्द' भरना हो, यदि शब्दों में 'सरूर' लाने की शक्ति डालनी हो तो वह बिना अपने आपको 'सरूर' में डाले नहीं आ सकती। सच्चा लेखक जिस विषय को उठाता है उसके रंग में रंगा हुआ होता है। यह रंग युक्ति-संगत लेख 'में जो कायल करने की शक्ति होती है, उससे भिन्न है। धन कमाने की इच्छा से कागज़ काले करने वाले तथा ईर्षा द्वेष से कलमें तोड़ने वाले लेखकों में यह गुण कदापि नहीं आ सकता।"[2]

"जैसा स्रोत से वहने वाला जल ताजा होता है और उसको पीने वाला शारीरिक पुष्टि लाभ करता है ऐसे ही दैवी अमृतसागर से सम्बन्ध रखने वाले लेखक प्रवर के हृदय स्रोत से निकले हुए शब्द अपनी ताजगी (freshness) से पाठकों के अन्दर आत्मिक-बल भर देते हैं। उस आत्मिक बल से बलिष्ठ मनुष्य, कठिन से कठिन कार्य के करने में भी नहीं हिचकता। क्या यह बात नक्काल, बनावटी लेखकों में आ सकती है? कदापि नहीं! कदापि नहीं!"[3]

लेखन-कला क्या है ?

लेखन कला क्या है ? क्या वह शब्दों की बाजीगरीमात्र है, अथवा सर्वसाधारण को उलझाने के लिए शब्दों का चमचमाता जाल बिछाने का एक साधन है। इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए परिव्राजक जी कहते हैं—

"बहुत से लोग लेखन-कला को शब्द-जाल की माया तथा मन के हवाई घोड़े दौड़ाने वाली कल्पना-शक्ति समझते हैं। उनकी सम्मति में यह ऐसी कला है जो इने-गिने लोग ही जान सकते हैं। उन्होंने इन कला-सम्पन्न व्यक्तियों का पृथक् वर्ण स्थिर कर लिया है। वे इसको लौकिक व्यवहार का साधन नहीं समझते, बल्कि वे इसे मन मोदक खिलाने वाली, रंग-बिरंगे शब्दों से भाषा को अलंकृत करने वाली मनमोहिनी अप्सरा मानते हैं। उनकी यह भारी भूल है। लेखन-कला का हमारे व्यवहारिक-जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह साहित्याचार्यों का न्यारा पन्थ कायम नहीं करती, बल्कि मनुष्य को मनुष्य के साथ मिलाने, उनमें भ्रातृभाव पैदा करने, उनको ईश्वर रचित पदार्थों का आनन्द रस-पान कराने का मुख्य साधन है।"[4]

---

1. लेखन-कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक पृ० 19
2. वही, पृ० 20
3. वही, पृ० 21
4. वही, पृ० 25-26

रचना-सामग्री

निबन्ध-रचना की सामग्री के सम्बन्ध में वह नये लेखकों का मार्गदर्शन करते हुए कहते हैं—

"निबन्ध के लिए सामग्री जुटाने के दो मुख्य साधन हैं। मनुष्य का अपना अनुभव और दूसरों का अनुभवजन्य ज्ञान। अपने अनुभव से मनुष्य भ्रमण सम्बन्धी पुस्तकें, विज्ञान सम्बन्धी मौलिक वर्णनात्मक लेख महापुरुषों की जीवन-घटना अथवा अपनी निज की जीवनचर्या लिख सकता है और यदि उसकी कल्पना-शक्ति ईश्वरदत्त हुई तो वह अपनी मानसिक उड़ान से सामग्री जुटा उत्कृष्ट कविता या गद्य लिख सकता है। ऐसे लोग हैं जिन्होंने अधिक भ्रमण नहीं किया, परन्तु उन्होंने दैवी दृष्टि से देखकर जो कुछ लिख दिया, वह अजर और अमर हो गया। ऐसी आत्माएं विरली होती हैं। दूसरा साधन इतिहास या विद्वानों के लिखे हुए बृहत् ग्रन्थ हैं। महाभारत और रामायण दो हमारे पूज्य ग्रन्थ हैं। सैकड़ों लेखकों को उनके पाठ से प्रेरणा मिली और भविष्य में मिलेगी। इसी प्रकार टाड साहब के राजस्थान के इतिहास में से भिन्न-भिन्न घटनाओं को लेकर लेखकगण अपने जौहर दिखाते हैं।"[1]

निबन्ध रचना की सामग्री बटोरने के लिए लेखक को कहीं इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। वह चारों ओर बिखरी पड़ी है। देखने वाले के पास अन्तर्दृष्टि का होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में नये लेखकों को सम्बोधित करते हुए वह कहते हैं—

"सामग्री जुटाने का सबसे प्रथम ढंग, जो व्यक्ति को सच्चा लेखक बनाता है, यह है कि 'अपनी आंखें खोलकर चलो !' इससे स्वयं निरीक्षण करने की शक्ति आती है और दैवी गुणों के विकास का साधन प्राप्त होता है। हां, यह आवश्यक है कि देखने की भी बुद्धि होनी चाहिए। बहुत से लोग देखते हुए नहीं देखते, और सुनते हुए नहीं सुनते। फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक मुपांजा कहते हैं—निरीक्षण करने की उत्कृष्ट शक्ति यही है कि जिस दृश्य का आप वर्णन करने लगे हों, उसे ध्यानपूर्वक देखने से आप कोई ऐसी विशेष बात ढूंढ़ निकालें जो किसी दूसरे ने न कही हो। अपने विषय के सामने बैठ जाओ और एक कुशल चित्रकार की भांति उसका सच्चा चित्र खींचो।"[2]

सामग्री का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए, यह जानना भी लेखक के लिए आवश्यक है। इसके सम्बन्ध में नये लेखकों को सम्बोधित करते हुए परिव्राजक जी का आदर्श वाक्य था—

"सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय।"

इसीलिए वह नई पीढ़ियों के लेखकों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

"सामग्री इकट्ठी करने के बाद दो बातों का ध्यान रखना होगा। एक तो यह

1. लेखन कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक पृ० 34
2. वही, पृ० 33

कि कौन-सी सामग्री काम आने योग्य है और दूसरे यह कि कौन-सी घर रखने के लिए है। विषय के शीर्षक को सदा आंखों के सम्मुख रखना चाहिए। कोई ऐसी सामग्री काम में न लाई जाय जिसका उक्त विषय से सीधा अथवा स्पष्ट सम्बन्ध न हो। धींगा-धींगा, खींचातानी से, असंगत बातों से लेख को लाद देना लेखक में विचार-शक्ति की निर्बलता सिद्ध करता है। विषय की सीमा को ध्यान में रखकर जो कुछ कहा जाय, वह सब बराबर विषय का पुष्टिकारक हो। यदि आपका विषय, भारतवर्ष का इतिहास है तो उसमें 'वेद, भागवत, कुरान और अंजील का मुकाबिला तथा ईश्वरीय ज्ञान के झगड़ों का पचड़ा लाना पाठकों का समय नष्ट करना है। निबन्ध लेखों में व्यवच्छेदक-शक्ति का होना परमावश्यक है।"[1]

लेखन-सामग्री के एकत्रित हो जाने पर उसके उपयोग का प्रश्न उठता है। किस प्रकार उस प्राप्त की हुई सामग्री को लेकर निबन्ध रचना की जानी चाहिए। इसके सम्बन्ध में परिव्राजक जी कहते हैं—

"जब सामग्री इकट्ठी हो जाय तो उसका बड़ी चतुरता से संगठन करना चाहिए। सबसे पहले 'संघ' इस शब्द के अर्थ समझ लीजिए। अवयवों का समुदाय जब किसी विशेष उद्देश्य के निमित्त संगठित किया जाय तो उसको 'संघ' कहते हैं। प्रत्येक संघ के कई अवयव होते हैं, परन्तु यह (संघ) अवयवों का समूह नहीं है। प्रत्येक अवयव का एक दूसरे के साथ आवश्यक सम्बन्ध है। केवल निकटस्थ सम्बन्ध ही नहीं है, वे एक दूसरे पर ऐसे निर्भर हैं कि उनका भिन्न अस्तित्व रह ही नहीं सकता। इस सहजीवी और आवश्यक सम्बन्ध के कारण संघ में एकता आती है, उसको हम एक जुदा वस्तु कहते हैं। यदि आप शरीर के अंग—हाथ को काट डालें तो वह अंग पृथक् होने से नाकारा हो जाता है। जैसे शरीर एक संघ है और इसमें भिन्न-भिन्न अवयव अपना जुदा-जुदा उद्देश्य रखते हुए भी शरीर के मुख्य धर्म के हेतु बनते हैं, परन्तु शरीर से पृथक् होते ही उनका अस्तित्व मिट जाता है, इसी प्रकार लेख रूपी शरीर के प्रत्येक अंग एक दूसरे के साथ इस प्रकार संगठित होने चाहिए कि एक दूसरे के बिना, वे जी ही न सकें। यही लेख सामग्री संगठन कहलाता है।"[2]

निबन्ध का स्वरूप

निबन्ध का कलेवर कितना बड़ा या छोटा होना चाहिए इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी कलेवर की दृष्टि से उन्हें निबन्ध और प्रबन्ध इन दो रूपों में विभक्त करना पड़ता है। निबन्ध का कलेवर सीमित होता है और प्रबन्ध का कलेवर विस्तृत होता है, जिसकी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। लेखन-कला के विद्वान् लेखक ने छोटे निबन्धों के कलेवर के सीमांकन के सम्बन्ध में जो अपने विचार रखे

---

1. लेखन-कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 35-36
2. वही, पृ० 38

हैं वह नए लेखकों के लिए अधिक उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में वह कहते हैं :—

"जो विषय वैज्ञानिक और शिक्षा-प्रद है, और जिन्हें सर्वांग-पूर्ण लिखना है, उनके स्पष्टीकरण में तो भले ही उस सम्बन्ध की सभी बातें कह दीजिए, परन्तु जो विषय दूसरों के मनोरंजनार्थ लिखे जाते हैं, जैसा कि प्रायः साहित्य में होता है, उनमें अधिकांश बातें तो केवल इशारे से सुझाई जाती हैं और बहुत-सी बातें बिलकुल छोड़ दी जाती हैं ताकि पाठक ऊब न जाये। क्योंकि – "The art of boring people is to tell everything।"

लेखक की दशा ठीक उस सेनापति की तरह है जिसके पास काफी फौज युद्ध करने के लिए है और जो अवसर के अनुकूल थोड़े बलिदान से अपना युद्ध-कौशल दिखलाता है। उसको अपने ऊपर दृढ़ विश्वास होता है। इसी प्रकार लेखक और पाठक दोनों तभी विश्वास से परिपूर्ण रहेंगे, यदि वे जानेंगे कि अभी बहुत-सी संचित सामग्री धरी है, खजाना खाली नहीं हो गया। उत्कृष्ट निबन्ध-रचना का यही रहस्य है। अपने आप को सामग्री से भर लो, जहां तक आपकी पहुंच है, वहां से जो कुछ आपको अपने विषय पर प्रकाश डालने के लिए मिलता है, उसे ले आओ, खूब सामग्री जुटाओ। जितनी सामग्री आपके पास है, उतनी सुगमता आपको अपने विषय के प्रतिपादन करने में रहेगी, आप ने श्रोता उतनी ही अधिक श्रद्धा से आपकी बात सुनेंगे। आप स्वेच्छानुकूल शब्द चुन सकेंगे, स्वतन्त्रता से उदाहरणों का चुनाव होगा, अच्छी से अच्छी दलीलें सूझेंगी, मोतियों की भांति प्रत्येक तत्व,घटना को माला में पिरो सकेंगे। सच्चा लेखक बनने का यही श्रेष्ठ मार्ग है।"[2]

लेखन-शैली

शैली लेखन कला का महत्त्वपूर्ण अंग है। वही लेखक के व्यक्तित्व की परिचायिका होती है। लेखनी उठाने से पूर्व विद्वान् लेखकों तथा साहित्यकारों की रचना-कौशल के गम्भीर अध्ययन तथा लेखक के निरन्तर अभ्यास से लेखन-कला में जो गुण उत्पन्न होते हैं, उन्हें 'शैली' का नाम दिया जा सकता हैं। शैली में किन गुणों का समावेश करने से वह दूसरों पर प्रभाव डालने में समर्थ होती है, इस सम्बन्ध में परिव्राजक जी लिखते हैं—

"लेखन शैली का पहला प्रधान गुण, स्पष्टता (clearness) जटिल से जटिल विषय को सुगम और सरल करने वाला बुद्धि चमत्कार है, दूसरा प्रधान गुण, प्रभावोत्पादक शक्ति-ओज (force) है, जिसका हृदय के साथ सम्बन्ध है, तीसरा प्रधान गुण, लालित्य (elegance) रुचि को प्रसन्न अथवा सन्तुष्ट करने वाला लालित्य-कला विशिष्ट गुण (esthetic quality) है। लेखन शैली के यही तीन गुण व्यक्ति को उच्चकोटि का

---

1. लेखन कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, 36-37
2. वही, 38

लेखक बनाते हैं।"[1]

जिन गुणों के कारण लेखक अपनी शैली से दूसरों को प्रभावित करते हैं उन पर प्रकाश डालने के उपरान्त लेखक उन दोषों पर भी प्रकाश डालता है जिनके कारण वह दूसरों को प्रभावित कर सकने में असमर्थ रहता है। इस सम्बन्ध में वह कहता है—

"लेखनकला की परिभाषा में स्पष्टता नष्ट करने वाले तीन मुख्य दोष है—संदिग्धार्थता (ambiguity) अनिश्चय (vagueness) और अव्यक्तता (obscurity) संदिग्धार्थक वह शब्द कहलाता है जो दो या दो से अधिक भावों में से किसी एक में व्यवहृत हो—जिसका ठीक भाव मालूम करना कठिन हो जाय। संदिग्धार्थक वाक्य वह है जिसके दो या दो से अधिक अर्थ निकलें, अनिश्चित (vague) कथन वह कहलाता है जिसके ठीक-ठीक अर्थों को, काफी स्पष्टता के अभाववश पाठक न समझें, नितान्त अस्पष्ट वाक्य को अव्यक्त (obscure) कहते हैं। जिनके लेखों में ऐसे दोष कभी-कभी आ जायं वे इनको आसानी से दूर कर सकते हैं। संदिग्धता एवं अनिश्चितता को दूर भगाने का उपाय यह है कि ऐसे निश्चयार्थक शब्दों का प्रयोग किया जाय जो दूसरे अर्थों का बिलकुल रास्ता ही बन्द कर दें, प्रायः कथन की अनावश्यक जटिलता अव्यक्तता का कारण है। परन्तु जिस प्रलोभनावश नवयुवक लेखक प्रायः अपने लेख को अस्पष्ट कर देते हैं वह उनकी आलस्य पूर्ण सोचने की आदत है। वे परिश्रम कर अपनी बुद्धि से काम लेना ही नहीं चाहते, इसलिए उनका लेख अनिश्चत भावों को प्रकट करता है।

अतएव लेखन शैली और विचार-शक्ति में प्रौढ़ता लाने के लिए स्पष्ट लिखिए, निश्चित भावों को प्रकट कीजिए, विशेष संज्ञा-बोधक शब्दों को प्रयोग में लाइए—इन मुख्य नियमों का अभ्यास लाजिमी है।"[2]

निष्कर्ष

लेखन-कला का प्रकाशन सन् 1916 में हुआ था, जिसे आज 61 वर्ष हो चुके हैं। तब में और आज में आकाश-पाताल का अन्तर है। आज इस विषय पर प्रचुर सामग्री उपलब्ध है, परन्तु जिस समय इस पुस्तक की रचना की गईथी उस समय वह अपने विषय की अकेली पुस्तक थी। परिव्राजक जी के सम्मुख अंग्रेजी में लिखे गए लेखन-कला संबंधी ग्रन्थ थे, जिनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—

The Art of Writing Andre Maurois, Ist Edition, March 1915

On Writing & Writers, Walter Raleigh, Ist Edition, November 1916

हिन्दी में उस समय इस ढंग की एक पुस्तक सुलभ नहीं थी। आज भी अंग्रेजी में इस विषय पर अच्छे ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, पर हिन्दी में इधर उदासीनता ही है। इस

---

1. लेखन कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 123-24
2. वही, पृ० 126

पुस्तक की रचना में लेखक का कहना है—

"मैंने (व्याख्यान को छोड़कर) इसे अमरीका की प्रसिद्ध 'यूनिवर्सिटी आव शिकागो' के विद्वान् अध्यापकों के सहारे पर लिखा है। जब मैं उस यूनिवर्सिटी में पढ़ा करता था तभी से मेरी इच्छा 'लेखनकला' के विषय पर एक पुस्तक हिन्दी में लिखने की थी। आज मैं अपनी उस अभिलाषा के फलस्वरूप अपने प्रेमियों के सम्मुख रखता हूं।"[1]

61 वर्षों का समय कुछ कम नहीं होता। इस दीर्घ-काल में जब हिन्दी राष्ट्रभाषा के स्वर्ण सिंहासन पर सुशोभित हो चुकी है। तब से अब तक इस विषय पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रसिद्ध भाषातत्त्वज्ञ पं० किशोरीदास वाजपेयी की 'लेखन-कला' श्री रामचन्द्र वर्मा की 'अच्छी हिन्दी' इस क्षेत्र में पर्याप्त ख्याति पा चुकी हैं। फिर भी अपने विषय की पहली पुस्तक होने के कारण परिव्राजक जी की यह लघु पुस्तिका अपना ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य रखती है। आज भी समय की मांग है कि इस पुस्तिका का संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण प्रकाशित किया जाय। यह कोई कठिन कार्य नहीं है, क्योंकि परिव्राजक जी की सभी पुस्तकों का प्रकाशनाधिकार काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने अपने हाथों में ले लिया है, वह इस कार्य को सुगमता से कर सकती है।

1. लेखन कला—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, (प्रस्तावना से)

पांचवां अध्याय

परिव्राजक जी का यात्रा-साहित्य

यात्रा शब्द का अर्थ और उसका महत्त्व

यात्रा शब्द संस्कृत की 'या' धातु से बना है, जिसके अनेक अर्थ मिलते हैं। संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में इसका अर्थ 'सफर', एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया दिया गया है।

हिन्दी विश्व-कोश में 'श्री नगेन्द्रनाथ वसु' यात्रा शब्द का अर्थ इस प्रकार करते हैं :—

"(सं० स्त्री) या हुयामाश्रुभसिम्पस्त्रन्। उण् 4।167 इति क्रन् टाप्। विजय की इच्छा से कहीं जाना, चढ़ाई पर्याय व्रज्या, अभिनिर्याण, प्रस्थान, गमन, गम, प्रस्थिति। दर्शनार्थ देवस्थानों को जाना, तीर्थाटन। एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की क्रिया आदि।"[1]

इसी प्रकार योरोप के सुप्रसिद्ध-विद्वान् तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष 'डा० ए० ए० मैक्डोनल'[2] भी इस शब्द का यही अर्थ करते हैं।

यह संसार गतिशील है। मनुष्य-जाति का विकास इसी गतिशीलता के कारण हुआ है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में 'चरैवेति-चरैवेति' के मन्त्र के द्वारा मनुष्य की आध्यात्मिक और आधिभौतिक उन्नति करने का उपदेश दिया गया है।"[3]

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने घुमक्कड़ी को संसार का सबसे बड़ा धर्म कहा है।"[4] उनका कहना है—मेरी समझ में दुनिया की सर्व श्रेष्ठ वस्तु घुमक्कड़ी है। घुमक्कड़ से बढ़कर व्यक्ति और समाज के लिए कोई हितकारी नहीं हो सकता।

यात्रा-साहित्य

आदिम मनुष्य के लिए यात्रा जीवन की आवश्यता थी। परन्तु कालान्तर में उसके सौन्दर्य-बोध के विकास के साथ चतुर्दिक फैले हुए जगत् का आकर्षण भी उसके लिए बढ़ता

---

1. हिन्दी विश्वकोश (18वां भाग), श्री नगेन्द्रनाथ वसु, पृ० 630
2. ए प्रैक्टिकल संस्कृत डिक्शनरी, डा० ए० ए० मैक्डोनल, पृ० 244
3. ऐतरेय ब्राह्मण, 7।14
4. घुमक्कड़ शास्त्र—राहुल सांकृत्यायन, पृ० 8

गया। देशों की विविधता, ऋतु-परिवर्तन, प्राकृतिक-सुषमा और उसके विविध रूपों में उसे अपनी ओर आकृष्ट किया।"

सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से उल्लास की भावना से प्रेरित होकर यात्रा करने वाले यायावर एक प्रकार से साहित्यिक मनोवृत्ति के माने जा सकते हैं और उनकी मुक्त-अभिव्यक्ति को यात्रा-साहित्य कहा जाता है।"[1]

साहित्यिक पर्यटक को अद्भुत आकर्षण अपनी ओर खींचता है, वह वशीभूत हुआ-सा उसकी ओर बढ़ा जाता है। संसार के लोग जहां देखते हुए भी आँखें बन्द करके चलते हैं, प्रकृति की पुकार को सुनकर भी अनाकर्षण कर देते हैं वहां साहित्यिक यायावर मुक्त-मनोवृत्ति के साथ घूमता है, उसकी यात्रा का अर्थ स्वतः पूर्ण होता है। कवि और कलाकार की आत्मा यायावर होती है और संसार के बड़े-बड़े यायावर अपनी मनोवृत्ति में साहित्यिक होते हैं। यदि यह कहा जाए कि यायावरी प्रवृत्ति यायावर को साहित्यिक बना देती है तो असमीचीन न होगा।

डॉ० रघुवंश यात्रा-साहित्य के विषय में लिखते हैं—"यात्रा का बहुत बड़ा आकर्षक प्रकृति की पुकार में है। यायावर वही है जो चलता जाय, कहीं रुके नहीं, कोई बन्धन उसे नहीं और जो दर्शनीय है, ग्रहणीय है, स्मरणीय है अथवा संवेदनीय है, उसका संग्रह करता चले—या यों कहें कि जो मुक्त-भाव से, अनुभूतियां सजोता हुआ, देश-काल में फैले अनन्त जीवन में सासें लेता हुआ यात्रा नहीं करता, वह यात्रा का साहित्य नहीं दे सकता, विवरण प्रस्तुत करता है।"[2]

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के शब्दों में—"साहित्यिक यात्रा वर्णनों में लेखक की प्रकृतिगत विशेषताएं प्रतिबिम्बित मिलती हैं। उसकी फक्कड़ता, घुमक्कड़ता, मस्ती और उल्लास उसके यात्रा-सम्बन्धी विवरणों में प्राण-प्रतिष्ठा कर देते हैं। बाह्य जगत् की प्रतिक्रिया से लेखक के हृदय में जो भावनाएं जगती हैं, वह उनकी अपनी सम्पूर्ण चेतना के साथ व्यक्त कर देता है जिससे शुष्क विवरण मधुर और भाव-विभोर करने वाले हो जाते हैं।"[3]

अभिप्राय यह है कि यायावरी और लेखनी का घनिष्ठ सम्बन्ध है और यायावर की सौन्दर्य-भावना और मुक्त-मनोवृत्ति उसके यात्रा-विवरण को यात्रा-साहित्य का रूप प्रदान करती है, अन्यथा यात्रा करने मात्र से कोई साहित्यिक यायावर की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता और न यात्रा का विवरण प्रस्तुत कर देना मात्र यात्रा-साहित्य है।

परिव्राजक जी के यात्रा-प्रकार—परिव्राजकजी के यात्रा वृत्तान्तों का वर्गीकरण दो दृष्टियों से किया जा सकता है—यात्रा-उद्देश्य की दृष्टि से, यात्रा के साधनों की दृष्टि से।

---

1. हिन्दी साहित्य-कोश, कैसेल, पृ० 608
2. आलोचना (जुलाई 1934)—डॉ० रघुवंश, पृ० 11-12
3. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त (द्वितीय भाग)—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत 'पृ० 510

या ा—उद्देश्य की दृष्टि से

यात्रा उद्देश्य की दृष्टि से परिव्राजक जी के यात्रा-साहित्य को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है (1) धार्मिक यात्राएं, (2) भौगोलिक यात्राएं, (3) सांस्कृतिक-यात्राएं।

1. **धार्मिक-यात्राएं**—धार्मिक स्थानों एवं तीर्थों से सम्बन्धित यात्राएं इस कोटि के अन्तर्गत आती हैं। हिन्दी में इस प्रकार की यात्राओं की प्रचुरता है। परिव्राजक जी की 'मेरी कैलाश यात्रा' धार्मिक स्थानों से सम्बन्धित है। यहां यह कहना असमीचीन न होगा कि परिव्राजक जी की ये धार्मिक स्थानों से सम्बन्धित यात्राएं उनकी धार्मिक-श्रद्धा का प्रतीक नहीं हैं। इन यात्राओं में लेखक ने यात्रियों की अन्ध-श्रद्धा पर व्यंग्य भी किया है। फिर भी ये यात्राएं धार्मिक स्थानों से सम्बन्धित होने के कारण धार्मिक-यात्राएं कही जा सकती हैं। लेखक ने वहां के मंदिरों, मूर्तियों एवं प्राकृतिक दृश्यों का भावात्मक एवं रम्य वर्णन किया है।

2. **भौगोलिक-यात्राएं**—भौगोलिक-यात्राओं से तात्पर्य ऐसी यात्राओं से है जो देश-विदेश अथवा स्थान विशेष के भौगोलिक परिचय के लिए की गई है। इस प्रकार के यात्रा वृत्तान्तों में उस स्थान की प्रकृति, इतिहास, निवासी, कृषि, उद्योग, व्यवसाय, यातायात, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि का परिचय दिया जाता है। इस प्रकार की यात्राओं में परिचयात्मक विवरण मात्र रहता है, उसमें भावात्मकता एवं कलात्मकता गौण होती हैं। ऐसे यात्रा-साहित्य को यात्रोपयोगी साहित्य की संज्ञा दी जा सकती है। अमरीका दिग्दर्शन, अमरीका भ्रमण, अमरीका के निर्धन विद्यार्थी, मेरी जर्मन-यात्रा, परिव्राजक जी की ऐसी यात्रोपयोगी कृतियां हैं।

3. **सांस्कृतिक यात्राएं**—सांस्कृतिक-यात्राएं वे यात्राएं हैं जो किसी देश की संस्कृति एवं प्रगति को समझने के लिए की जाती हैं। 'योरोप की मेरी सुखद् स्मृतियां' परिव्राजक जी की ऐसी ही यात्रा-कृति है। इसमें लेखक ने वहां की प्राचीन एवं आधुनिक प्रगति एवं संस्कृति पर दृष्टि डाली है।

उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि परिव्राजक जी का यात्रा-साहित्य विविध एवं विशद् है। वह केवल विवरणात्मक, सूचनात्मक एवं व्यावसायिक मात्र नहीं, उसमें साहित्यिकता भी विद्यमान है।

यात्रा के साधनों की दृष्टि से

यात्रा-मार्ग एवं यातायात के साधनों की दृष्टि से परिव्राजक जी ने प्रमुखतः तीन प्रकार से यात्राएं की हैं। 1. स्थल-मार्ग की यात्राएं, 2. जल-मार्ग की यात्राएं, 3. आकाश-मार्ग की यात्राएं।

1. **स्थल-मार्ग की यात्राएं**—स्थल-मार्ग की यात्राएं वे हैं जिनका उद्देश्य स्थल-मार्ग से भ्रमण हो। इन यात्राओं में लेखक अधिकांशतः पद-यात्रा द्वारा बीहड़ प्रदेशों में पहुंचा है और यथास्थान प्राप्य रेल और मोटर आदि का भी उपयोग किया है। 'मेरी

कैलाश यात्रा' परिव्राजक जी की स्थल-मार्ग यात्रा-कृति है।

इस यात्रा में लेखक ने स्थान, दृश्य एवं वस्तुओं को समीप से देखा है। और उनका परिचयात्मक, ऐतिहासिक एवं भावात्मक वर्णन किया है।

2. जल-मार्ग की यात्राएं—जल-मार्ग की यात्राएं अधिकतर विदेश जाने के लिए की जाती हैं। परिव्राजक जी की 'अमरीका भ्रमण','अमरीका दिग्दर्शन', 'योरोप की सुखद-स्मृतियां, जल-मार्ग की यात्राएं हैं। लेखक ने इनमें समुद्रयात्रा का वर्णन अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया है।

3. आकाश-मार्ग की यात्राएं—'मेरी जर्मन-यात्रा', परिव्राजक जी की आकाश मार्गीय यात्रा है। लेखक की यह यात्रा वायुयान द्वारा सम्पन्न हुई।

उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि परिव्राजक जी का यात्रा-साहित्य उनके यात्रा-क्षेत्र की विविधता एवं व्यापकता की ओर संकेत करता है। एक ओर परिव्राजक जी ने वैज्ञानिक साधनों के उपयोग द्वारा देश-विदेश की सरल व सुखद् यात्राएं की हैं तो दूसरी ओर अछूते, कठोर एव अन्धकारमय प्रदेशों की रोमांचक एवं साहसपूर्ण यात्राएं भी की हैं। प्रथम प्रकार की यात्राओं की अपेक्षा दूसरी कोटि की यात्राओं में अधिक सुख व आनन्द अनुभव होता था।

इस प्रकार परिव्राजक जी का यात्रा-क्षेत्र अत्यन्त विस्तीर्ण और विरोधात्मक है। एक सच्चे यायावर की तरह परिव्राजक जी निरन्तर निर्बाध चलते रहे कहीं रुके नहीं। उन्होंने देश-विदेश में जो कुछ दर्शनीय, संग्रहणीय तथा स्मरणीय था, उन सबका संग्रह किया।

परिव्राजकजी का यात्रा-साहित्य

परिव्राजक जी आधुनिक युग के प्रमुख पर्यटक लेखक थे। अपने जीवन के लगभग 40 वर्षों में निरन्तर यात्रा करते हुए उन्होंने स्वदेश-विदेश के कई स्थलों का भ्रमण किया। कैलाश, योरोप, अमरीका, जर्मन एवं हिमालय उनकी यात्राओं के आकर्षण-केन्द्र थे। वास्तव में परिव्राजक जी 'चरैवेति चरैवेति' के मूल-मन्त्र में विश्वास रखते थे और पूर्ण आस्था के साथ जीवन पर्यन्त उन्होंने इसका पालन किया। दुर्गम प्रदेशों एवं अलंघ्य उपत्त्यकाओं की यात्राएं परिव्राजक जी के अदम्य साहस एवं आत्मबल की परिचायिक हैं। इतना ही नहीं, परिव्राजक जी को उनकी यात्राओं ने ही लेखक बनाया है— ऐसा कहना असंगत न होगा। उन्होंने अपनी यात्राओं के विविध, विचित्र व रोचक अनुभव अपने यात्रा-ग्रन्थों में दिये हैं। उनकी यात्रा-कृतियां हैं—

मेरी कैलाश-यात्रा, अमरीका-दिग्दर्शन, अमरीका-भ्रमण, अमरीका के निर्धन विद्यार्थी, मेरी जर्मन-यात्रा, योरोप की सुखद् स्मृतियां, यात्री-मित्र।

परिव्राजक जी की चिरकाल से इस प्रकृति सुन्दरी की रंग-स्थली का अवलोकन करने की उत्कट अभिलाषा थी। मेरी कैलाश-यात्रा की भूमिका में अपनी यात्रा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं—

"मेरी बहुत वर्षों से हिमालय लांघने की इच्छा थी, किन्तु अमरीका जाने की धुन ने उसे दबाए रखा। जिन दिनों मैं अमरीका में था उस समय एक प्रसिद्ध योरोपीय वैज्ञानिक की तिब्बत-अन्वेषण सम्बन्धी सचित्र लेखमाला —'दी सेंचरी' नामक मासिक पत्रिका में निकली थी। उस लेख माला में 'श्री कैलाश' तथा 'मानसरोवर' का सचित्र वर्णन पढ़कर मेरी पुरानी इच्छा बलवती हो उठी। मैंने प्रण किया कि भारत जाकर अपने तिब्बत स्थित जगत-प्रसिद्ध तीर्थों की यात्रा करूंगा।"[1]

यात्रा का आरम्भ—अपनी इस अभिलाषा को जिसे वह चिरकाल से हृदय में दबाये हुए थे, पूरा करने के लिए घर से निकल पड़े। इसका उल्लेख उन्होंने उसकी भूमिका में इस प्रकार किया है—"14 जून, 1915 को रात के दो बजे किसी दैवी शक्ति ने मुझे मेरे पुराने संकल्प का स्मरण दिलाकर मुझे तिब्बत जाने की प्रेरणा की। मैंने उसकी आज्ञा को शिरोधार्य किया और 16 जून बुधवार को अपने कठिन व्रतपालनार्थ अल्मोड़ा से तिब्बत की ओर चल पड़ा।"[2]

कैलाश दर्शन—लेखक ने यह यात्रा उस समय की थी जब भारत पर फिरंगियों का शासन था। जो विदेशी थे। इसकी गगन-चुम्मीनी शैल-मालाओं पर लेखक के हृदय में पराधीन भारत को बन्धन-मुक्त कराने की भावना जागृत हो उठती है। उसे लगता है जैसे नगाधिराज के हिममण्डित शिखर देश की नयी पीढ़ियों को स्वतन्त्रता के लिये मर मिटने की चुनौती दे रहे हों।

लेखक के ये शब्द उसके हृदय में छिपी हुई देश-प्रेम की भावना को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

"21850 फीट ऊंचे इस कैलाश की महिमा का वर्णन क्या कोई कर सकता है ? किस गौरव के साथ उन्नत मुख किये, यह चारों ओर देख रहा है। इसकी दृष्टि अपने प्यारे भारत पर पड़ रही है, जहां उसकी प्रतिकृति बनाकर करोड़ों आत्मायें "हर हर महादेव" की ध्वनि कर अपने को धन्य मानती हैं। दूर—चीन, जापान, स्याम, ब्रह्मा, लंका आदि देशों से बौद्ध धर्मावलम्बी इसकी परिक्रमा करने आते हैं। कैलाश का यह विश्वकर्मा रचित मन्दिर उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा है। जब स्वाधीन भारत के बच्चे, चीन, जापान के बच्चों के साथ प्रेमालिंगन करते हुए, इसकी परिक्रमा करेंगे।"[3]

स्वतंत्रता-संग्राम के सजग सेनानी परिव्राजक जी के हृदय में हिमकिरीटनी के इस शुभ्र मुकुट को देखकर जो भावनाएं उत्पन्न हो रही थीं, वे उस विद्रोह की परिचायक हैं, जो एक दिन विश्व-वन्द्य बापू की रणभेरी के बजते ही भारत से अंग्रेजी साम्राज्य का अन्त करने के लिए चिनगारी से शोलों का रूप धारण करने के लिये व्यग्र हो रहा था।

उनके हृदय में जो भावनाएं उन्हें बेचैन कर रही थीं उन्हें उन्हीं के शब्दों में सुनिए—"वाह रे तिब्बत ! तू भी एक विचित्र देश है। संसार में सबसे ऊंचा और सबसे

1. मेरी कैलाश-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक (पुस्तक परिचय)
2. वही, (भूमिका से)
3. वही, पृ० 95

निराला है। क्या ही अच्छा हो यदि तेरे बच्चे भी जाग उठें और संसार की गति के अनुसार अपने जीवन को बना लें। मेरी बड़ी इच्छा तेरे एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूमने की है। मैं मानसरोवर के किनारे महीनों रहना चाहता हूं किन्तु तेरी वर्तमान स्थिति में ऐसा करना असंभव-सा है। जब तक चीन और भारतवर्ष सोते हैं तू भी तब तक खर्राटे ही लेता रहेगा, चीन और भारत के भविष्य पर तेरा भी भविष्य निर्भर है। तू धातुओं से परिपूर्ण तो है, पर वे तेरे लिए कुछ लाभदायक नहीं हैं। तेरे बच्चे मुश्किल से पेट पालते हैं। तेरे यहां जब तक शिक्षा जोर-शोर से न फैलेगी तब तक तेरी संतान की दशा भी सुधर नहीं सकती।"[1]

परिव्राजक जी ने जब ये पंक्तियां लिखी थीं, उस समय तिब्बत पर अंग्रेजों की सेनाओं की टुकड़ियां चीनी आक्रमणों से हिमालय के उस भू-भाग की रक्षा कर रही थीं। स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही हमारे देश के कर्णधार चीनी नेताओं की चीनी जैसी मीठी-मीठी बातों में आ गये और इन्होंने अपनी सेनाएं वहां से हटा लीं। जिसके फलस्वरूप आज तिब्बत उसी प्रकार हमारे सिर का दर्द बना हुआ है जब कि परिव्राजक जी तिब्बत की उस शस्य-श्यामला भूमि को देखकर यह मधुर कल्पना कर रहे थे—

"क्या भारत-पुत्र अपने प्यारे शिष्य तिब्बत को भूल जाएंगे? कभी नहीं। तिब्बत पर हमारा अधिकार है, हमें तिब्बत को धर्म सिखलाना है। हमें अपने पूज्य तीर्थों—श्री कैलाश और मानसरोवर पर अपने धार्मिक झण्डे गाड़ने चाहिए। आवश्यकता है कि यहां हमारे मठ बनें और हमारे धर्मोपदेशक अपने पुराने काम को नये उत्साह के साथ आरम्भ करें। क्या भगवान् बुद्ध का परिश्रम वृथा ही जाएगा? कभी नहीं।"[2]

कैलाश प्राकृतिक दृश्यों का एक अत्यन्त सुन्दर और मनमोहक एलबम है। आपने वहां क्या देखा? वहां के दृश्य कैसे थे? इसका ज्ञान आप तभी दूसरों को करा सकते हैं, जब आप एक अच्छे फोटोग्राफर हों, या कोई अच्छा फोटोग्राफर आपके साथ हो। लेखक न तो स्वयं फोटोग्राफर था और न कोई फोटोग्राफर उसके साथ था। इसीलिए वह अपनी इस यात्रा के मनमोहक चित्रों को अपनी इस पुस्तक में नहीं दे सका।

"पाठक महोदय! साधन रहित, फोटोग्राफर के बिना योरोपीय महाभारत के समय में मैंने कैलाश की यात्रा की है। जो कुछ वर्णन, जो कुछ यात्रा का ब्यौरा, मैंने दिया है वह आधुनिक 'सचित्र-युग' की परिभाषा के अनुसार तो है वहां, मगर मुझे पूरा विश्वास है कि मेरी यह पुस्तक बहुत से सज्जनों को कैलाश-दर्शन के लिए प्रेरित करेगी। मुझे आशा है कि कोई योग्य हिन्दी हितैषी महाशय साधन-सम्पन्न होकर, तिब्बत जाएंगे और वहां का सचित्र वर्णन हिन्दी संसार को भेंट करेंगे।"[1]

---

1. मेरी कैलाश-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 111-112
2. वही, पृ० 112
3. वही, पृ० 137

लेखक का भावुक हृदय कैलाश की रमणीय शोभा को देखकर काव्यमय हो उठता है, जिसके कारण उसकी भाषा में एक विचित्र प्रकार का प्रवाह स्वयं आ जाता है। उसमें गद्य काव्य जैसा निखार उत्पन्न हो जाता है। वर्णन में एक प्रकार की सजीवता आ जाती है, जो वहां के दृश्यों को चित्रपटों के चलचित्रों के समान हमारी आंखों के सम्मुख ले आती है।

लेखक की लेखनी की तूलिका से अंकित एक चित्र देखिए—

"वर्षा हो रही थी। छतरियां तानकर चल पड़े। तेजम के पास जो नदी रामगंगा में मिलती है उसको 'जाकुला' कहते हैं। इसका कठिन पुल पार कर, इसके किनारे-किनारे, ऊपर पहाड़ पर चढ़े। मखमल जैसी हरियाली से लदे हुए दो पहाड़ों के बीच पर 'जाकुला' नदी बहती है। घाटी का रास्ता तंग है इसलिए पहाड़ी दृश्यों का स्वरूप बड़ा धन्य है। स्थान-स्थान पर, ऊंची-चौड़ी पहाड़ी भूमि पर भुटियों की झोपड़ियां बनी हैं। बादल घाटी में बड़ी मौज से क्रीड़ा कर रहे थे, जिधर का मौका पाते उधर ही उलट पड़ते थे। सामने जल-प्रपात दिखाई दिया। श्वेत सूत के तागे की तरह जल की धारा पहाड़ पर से वक्र गति से नीचे आ रही थी। क्या ही नैसर्गिक दृश्य था।"[1]

परिव्राजक जी के उपर्युक्त वर्णन को पढ़कर महापंडित राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी लद्दाख यात्रा' का यह शब्द-चित्र अनायास ही आंखों के सामने आ जाता है।

"चारों तरफ घेरे हुए पहाड़—जिनके पीछे की ओर हिमाच्छादित शिखर वाले पर्वत हैं—बीच में जगह-जगह लम्बे-लम्बे जलाशय, सर्प की भांति कुटिल गति की जेहलम, दूर तक, शहर के बाहर भी, सेब, बादाम आदि के बागों में बने हुए छोटे-छोटे सुन्दर बंगले, हरी घासों से ढके लम्बे-लम्बे क्रीड़ा-क्षेत्र, सुन्दर चिनार वृक्षों की मधुर शीतल छाया के अन्दर हरी घास के मखमली फर्शों वाली सुभूमियां देखने में बड़ी सुन्दर मालूम होती हैं।"[2]

प्राकृतिक दृश्यों के प्रति मानव-हृदय में जो स्वाभाविक अनुराग है उसकी अभिव्यक्ति भी उनके वर्णनों में अलंकारिक शैली में हुई है, परन्तु अलंकारिक होने पर भी वह कृत्रिमता से बहुत दूर है। इसका एक उदाहरण देखिए—

"जल की तरंगें मेरे पत्थर के इर्द-गिर्द होकर जा रही थीं। रामगंगा यहां पहाड़ के बिलकुल नीचे होकर बहती है और पाट ज़रा छोटा है। बड़े-बड़े ढोंके पत्थर उसकी धार के बीच में पड़े हैं, मानो उसको जाने से रोकते हैं। वे कहते हैं—"मत जाओ प्यारी, मत जाओ!" वह क्या अठखेलियां करती है, उनके साथ आलिंगन करके नाच रही है—उनके गले में अपनी दोनों भुजाएं डाल किस प्रेम से विदा चाहती हैं। जिस प्रसन्नता से वह जा रही है, ऐसा मालूम होता है कि उसको अपने निर्दिष्ट स्थान का हाल मालूम है। सुनो सुनो, विदा होते समय क्या कहती है—"मैके जाती हूं, मैके। बहिन सरयू से मिलने

---

1. मेरी कैलाश-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 29-30
2. मेरी लद्दाख यात्रा, राहुल सांकृत्यायन, पृ० 53

जाती हूं."—क्यों न हो, इसीलिए तो ऐसी प्रसन्न है। ससुराल में पर्दे के अन्दर बन्द पड़ी रही—न कहीं जा सकी, न आ सकी—शरीर की लाली सब उड़ गई, चेहरा सफेद पड़ गया। अब मैके जाकर खा-पाकर खूब हृष्ट-पुष्ट हो जाएगी। हां, हां इसीलिए तो इतनी प्रसन्न है। बड़े-बड़े पत्थर तो इसका रास्ता रोक रहे हैं, उसके जाने से अप्रसन्न हैं, मगर वह देखो, पहाड़ी वृक्ष-लताएं किस प्रेम से उसको आशीर्वाद दे रही हैं, कैसे झुक-झुककर अपना सन्देश उसको कह रही हैं।"[1]

परिव्राजक जी के इस वर्णन को पढ़कर इसी से मिलती-जुलती अज्ञेय जी की यह पंक्तियां स्मरण हो आती हैं—

"बड़े-बड़े श्वेत हरित पत्थर, वैसे ही दूध जहर-मुहरे के घोल-सा पानी फेन के आवर्त और वन सरस्वती का अप्रतिहत संगीत। घण्टे भर बाद जब वहां से चलने को उठे, तब मैं बार-बार लौटकर देखता रहा। स्वर के साथ-साथ प्रपात का चित्र मेरे अंतस में बस गया था और मानों मुड़-मुड़कर एक बन्धु को आश्वासन दे रहा था कि फिर आऊंगा, वह फिर आना नहीं हुआ है, न जाने कभी होगा कि नहीं, किन्तु वह प्रतिश्रुति झूठ नहीं है, क्योंकि वह मनोभाव झूठ नहीं है। 'फिर आना' वास्तव में कभी होता ही नहीं, क्योंकि काल की दिशा में लौटना कभी नहीं होता। प्रत्येक आना नया होता है, घटना की आवृत्ति होती है, अनुभूति की नहीं···अनुभूति की आवृत्ति पुनरानुभूति केवल स्मरण में है।"[1]

कैलाश पर्वत की शोभा का वर्णन करते-करते हमारा वह सैलानी संन्यासी कभी-कभी कवित्त्व की अन्तिम सीमा पर पहुंच जाता है। तब उसकी भाषा में एक अपूर्व निखार आ जाता है। उसकी वर्णन शैली में मानवीकरण का सौन्दर्य स्वयं आ जाता है। ऐसे समय में वह अपने भावों को स्वगत कथन द्वारा व्यक्त करने लगता है।

पुराणों में हिमालय

हिमालय भारतीय संस्कृति का मेरुखण्ड है। ऋग्वेद के 'हिम सूक्त' में भी उसका वर्णन मिलता है। कवि कुलगुरु कालिदास ने अपने कुमारसंभव का प्रारम्भ करते हुए हिमकिरीटनी के इस शुभ्र मुकुट को अपनी श्रद्धांजलि इन शब्दों में अर्पित की थी—

"अस्त्युत्त रस्यांऽदिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः।"[2]

कामायनी के कथानक के अनुसार मानव-जाति के आदिम पुरुष भगवान् 'मनु' ने अपनी जीवन-यात्रा इसी के शुभ्रांचल में समाप्त की थी। प्रसाद जी ने अपनी इस अमर कृति में 'रहस्य सर्ग' में इसका जो वर्णन किया है, वह इसी के अनुरूप है—

"उर्ध्व देश उस नील तमस में
स्तब्ध हो रही अचल हिमानी,

---

1. मेरी लद्दाख-यात्रा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० 24
2. अरे यायावर रहेगा याद—अज्ञेय, पृ० 101
3. कुमारसम्भवम्—कालिदास, (प्रथम सर्ग, प्रथम छन्द)

पथ थककर है लीन, चतुर्दिक
देख रहा वह गिरि अभिमानी।"[1]

पुराणों में भारत-जननी के इस शुभ्र-मुकुट का वर्णन कहीं-कहीं मानवीकरण के रूप में किया गया है और कहीं-कहीं प्रचलित दन्त-कथाओं के रूप में। इस यात्रा में हिमालय की नदियों, निर्झरों, वनों तथा कन्दराओं को देखकर इनसे सम्बन्धित कथाओं का स्मरण हो आता है जिनका बीच-बीच में उल्लेख करके लेखक ने अपने वर्णन में रोचकता उत्पन्न कर दी है—

"सामने दमयन्ती नदी चमक रही थी। उसके किनारे पहुंच मैं अपने साथियों की वाट जोहने लगा।

\+ \+ \+

"दमयन्ती ! कैसा सच्चा भारतीय नाम है। इस नाम के उच्चारण करने से सती, साध्वी, भारतीय पतिव्रता रमणी 'दमयन्ती' का स्मरण हो आता है।"[2]

हिमालय का दर्शन करते ही भारतीय संस्कृति साकार होकर आंखों के सन्मुख आ जाती है। पुराणों में शिव के जिस रूप का वर्णन किया गया है उसके प्रत्यक्ष दर्शन हिमालय में ही किए जा सकते हैं। कैलाश का वर्णन करते हुए लेखक भाव-विभोर होकर इसीलिए कह उठता है—

"क्या ही अलौकिक दृश्य था। यह अनुपम छटा ! श्री कैलाश जी का पर्वत सचमुच ईश्वरीय विभूति का अनोखा चमत्कार है। मैंने मन्दिर शिवालय बहुत देखे हैं पर ऐसा प्राकृतिक शिवालय इस भू-मण्डल पर कहीं नहीं है। जिस कुशल शिल्पी ने प्रथम शिवालय की रचना विधि का नक्शा तैयार किया होगा, उसके हृदय पर तिब्बत स्थित इस नैसर्गिक शिवालय की प्रतिकृति अवश्य रही होगी। इसके बिना वह कदापि शिवालय बना नहीं सकता था। प्रकृति ने हिम द्वारा वही काट, वही छांट, वही घेरा, वही चिनाई, वही सजावट इस कैलाश पर्वत के निर्माण में खर्च की है। भारत में नकली शिवालय देखा करते थे, आज यहां शिव जी का असली स्थान देख लिया।"[3]

कैलाश की चढ़ाई का वर्णन करते हुए वह कहता है—

"ऐसी विकट चढ़ाई पूज्य हिमालय के श्वेतभवन की क्यों है ? यह भारत माता का रक्षक है। इसने अपने दुर्ग को ऐसा दृढ़ किया हुआ है कि कोई भारत का शत्रु भारत में प्रवेश न कर सके, और यदि छलपूर्वक प्रवेश कर जाए तो जीता बाहर न जा सके। वाह रे द्वारपाल, तुम धन्य हो।"[4]

कहीं-कहीं उनके इस प्रकार के वर्णनों में अलंकारिक सौन्दर्य के साथ-साथ

---

1. कामायनी—जयशंकर प्रसाद, पृ० 257
2. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 80-81
3. वही, पृ० 94-95
4. वही, पृ० 55

चित्रोपमता भी आ गई है। ऐसे समय में उनकी भाषा गद्य काव्य का रूप धारण कर लेती है।

"भगवान् भास्कर के चरणों में लिपटी हुई श्वेतांगना बाला पति के पावों की रज को अपने आंसुओं से धो रही है। वे उसे प्रेम से आलिंगन कर अपना अपराध क्षमा करवा रहे हैं, और नीले, पीले, बैंजनी, सुनहले रेशमी-वस्त्रों को अपनी प्यारी के अंगों पर डाल उसके सौन्दर्य को बढ़ा रहे हैं। पति का अखिल प्रेम देखकर पुलकित अंगों से वह उनके पावों को चूमती है और हाथ जोड़ यह प्रार्थना करती है—इस बार यह दासी आपके पदों का ध्यान करती हुई साथ जाएगी, जंगल-मैदान में आपकी सेवा कर आनन्द सुख लाभ करेगी।"[1]

श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का यात्रा-वर्णन कहीं-कहीं इसी प्रकार काव्यमय हो गया है। सिद्धान्तालंकार जी की गणना देश के प्रतिष्ठित दार्शनिकों में की जाती है। उनकी दार्शनिकता पर भावुकता के रंग ने एक अपूर्व निखार उत्पन्न कर दिया है। दार्शनिकता और काव्यमयता का ऐसा सुन्दर समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है—

"देखिए—प्रशान्त सागर पर जहाज ऐसा तैरता है जैसे तालाब में बतख़। बिना पंख फड़फड़ाए सरोवर में जिस प्रकार बतख़ आगे चली जाती है, ठीक उसी प्रकार हमारा जहाज समुद्र की छाती पर मानों उड़ता-सा चला जा रहा था। समुद्र को इस प्रकार हारा हुआ देखकर मेरे पास बैठा हुआ एक यात्री चिल्ला उठा—देखो, मनुष्य की शक्ति। जहाज क्या जा रहा है मानो मनुष्य प्रकृति को पछाड़ रहा है। मैंने कहा—नहीं, प्रकृति चुप बैठी हुई मनुष्य को अपनी लाड़ला पुत्र समझकर उसे इस प्रकार चले जाने की इजाजत दे रही है।"[2]

ऐसे प्राकृतिक वर्णनों के प्रसंगों में राहुल जी की लेखनी भी काव्यमय हो उठी है। उनका 'कोलम्बो के सागर' का अलंकृत शैली में एक शब्द चित्र देखिए—

"कुछ कदम आगे बढ़ने पर नहर पार कर आप एक हरे-भरे मैदान में पहुंचेंगे। यदि सायंकाल का समय हो, सूर्य हो या न हो, पर उसका विष बुझ चुका हो तो विशाल नीले समुद्र की लहरों पर से जाने वाली हवा एक बार आपको तीनों ताप भुलवा देगी, शारीरिक ताप की तो बात ही क्या? यदि कहीं कराल काल के चक्र सुदर्शन से आर्त्त-सहस्रांशु को सागर के अनन्तगर्भ में लीन होने का अवसर आ गया हो तब तो कहने ही क्या? नीचे आपके पैरों से आकाश के छोर तक, सारा समुद्र लाल हो जाता है। उसकी अनन्त छींटें आकाश को भी लाल कर देती हैं।[3]

उपर्युक्त वर्णनों में विभिन्न स्थानों के शब्द-चित्र होते हुए भी साम्य है? हो भी क्यों न, मानव हृदय रक्त मांस का पिण्ड होते हुए भी अभिन्न नहीं है। वह आनन्द-विभोर

1. मेरी कैलाश-यत्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 55
2. वरमा की यात्रा—प्रो० सत्यव्रत विद्यालंकार, माधुरी विशेषांक, अगस्त-सितम्बर 1928
5. राहुल-यात्रावली—राहुल सांकृत्यायन, पृ० 124

होकर सब कुछ क्षणों के लिए अपने आपको भूल जाता है तब वह अद्वैत के अत्यन्त समीप पहुंच जाता है। इसी को उपनिषदों ने ब्राह्मी स्थिति कहा है।

लेखक की अन्तिम अभिलाषा

यह लेखक की पद-यात्रा थी। वाहनों पर की गई यात्रा में वह आनन्द कहां जो पद-यात्रा में मिलता है। पद-यात्रा का आनन्द लेते हुए लेखक अपनी मस्ती में चला जा रहा था। उस यात्रा की अनुभूति कैसी थी, इसके सम्बन्ध में वह कहता है—

"आनन्द में मस्त जा रहा था। जहां प्यास लगती झरनों का ठण्डा स्वच्छ जल पी लेता। पर्वतेश्वर हिमालय के सुरम्य दृश्यों को देख मन मुदित हो रहा था। देवदारु उन्नत मुख किए समधुर स्वर सर-सर नाद कर मेरे चित्त को आह्लादित करते थे। जंगलों की अनोखी छटा का मज़ा लेता हुआ आगे बढ़ा। सड़क कहीं-कहीं घने वृक्षों से आच्छादित है, पादपों की शाखाएं एक दूसरे के गले में बांहें डाल प्रेम-पाश में बंधी है। कहीं-कहीं पत्तों पर से वर्षा के बिन्दु टप-टप गिर रहे थे।[1]

× × ×

धोए-धाए, वृक्ष, हरियाली से लदी हुई पहाड़ियां, स्थान-स्थान पर जल की कल-कल ध्वनि, पशु-पक्षी सब प्रसन्न, वर्षा का अन्त सचमुच मनुष्य को खुशी के मारे नशा-सा चढ़ जाता है। भला मैदान के रहने वाले इस सुख को क्या जानें। लू में मरने वाले, धूल फांकने की बदबू में बसने वाले इस मजे को अनुभव नहीं कर सकते। यह मज़ा सचमुच सबसे निराला है।"[2]

हिमालय की इस सुखद यात्रा में हमारे इस सैलानी संन्यासी के हृदय में नए समाज का निर्माण करने की जो भावना उत्पन्न हो रही थी, उसकी चर्चा करते हुए वह कहता है—

"सड़क पर जाता हुआ यही सोच रहा था—"ईश्वर ने अपने प्यारे भारतीयों को क्या ही सुन्दर सुहावना देश दिया है। उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम चारों ओर रमणीक के पर्वत मालाएं हैं क्या हम उनसे ल भ उठाते हैं ? बिलकुल नहीं। गरमियों में झुण्ड के झुण्ड यात्रियों को इधर आना चाहिए, इधर की नैसर्गिक छटा का सुख भोगना चाहिए इन पर्वतों पर अच्छी-अच्छी पाठशालाओं की आवश्यकता है, यहां बड़े-बड़े कालिज खुलने उचित हैं। अमरीका और योरोप में प्राकृतिक शोभा विशिष्ट पर्वत स्थलियों में कैसे-कैसे विश्वविद्यालय खुले हुए हैं, वहां के विद्यार्थी कैसे बलिष्ठ होते हैं ? क्या हमारे यहां वैसे स्थानों की कमी है ? नहीं, फिर क्यों हमारे लीडर उनका सदुपयोग नहीं करते ? हां ! इस प्रश्न का उत्तर लिखते हुए छाती फटने लगती है। जिन सुरम्य स्थानों पर कालेज, विश्वविद्यालय, गुरुकुल, ऋषिकुल आदि बनने चाहिए वहां भैंसे और बकरे कटते

---

1. मेरी कैलाश-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 121-22
2. वही, पृ० 134

हैं।[1] "इस प्रकार अपनी यात्रा की कहानी समाप्त करते हुए वह अपने प्रेमी-पाठकों के सन्मुख अपनी अन्तिम अभिलाषा प्रकट करते हुए कहते हैं।

'कैलाश दर्शन तथा मानसरोवर-स्नान कर मैंने अपने जीवन की एक बड़ी इच्छा को पूर्ण किया है। जो कुछ मुझे वहां आनन्द मिला है, मैंने हिन्दी संसार को उसका भागी बनाने का यत्न किया है। यह पुस्तक केवल मेरे हृदय के उद्‌गार हैं। मैंने किसी योरोपीय वैज्ञानिक की तरह, अल्मोड़ा के किसी राज-कर्मचारी की तरह वीस-बीस मनुष्य का बोझा लादकर तिब्बत की यात्रा नहीं की थी, मैं केवल एक कठिन व्रतपालनार्थ वहां गया था। आजकल जबकि भारत के सब दरवाजे बन्द हैं और बिना पासपोर्ट के कोई बाहिर जा नहीं सकता, मेरे जैसे पुरुष का साधन-सम्पन्न होकर तिब्बत जाना ही नहीं सकता था। अतएव सहृदय पाठक ! यदि इस छोटी-सी पुस्तक से कुछ भी आनन्द आपने अनुभव किया है, यदि भारत द्वारपाल हिमालय के दर्शकों की उत्कण्ठा आपके मन में जागृत हो उठी है, यदि कमाऊं की भू श्री की लावण्यता देखने की लालसा आप में उत्पन्न हो गई है तो मैं समझूंगा कि मेरा उद्योग सफल हो गया।[2]

वर्णन-शैली

इस यात्रा वर्णनन की सबसे बड़ी विशेषता है इसका डायरी पद्धति में लिखा जाना। लेखक ने यह यात्रा बुद्धवार, 1(जून, 1915 को आरम्भ की थी। 16 अगस्त, सोमवार को उसकी यह यात्रा समाप्त हुई। इस प्रकार 15 जून, 1915 से लेकर 16 अगस्त, 1915 तक इस यात्रा के समय में लेखक ने कहां विश्राम किया किस दिन और किस तारीख को वह कहां ठहरा ? किन लोगों से मिला? इस सबका क्रमबद्ध वर्णन इसमें तिथि-क्रम से किया गया है।"

यद्यपि यह सम्पूर्ण यात्रा-वर्णन भावात्मक शैली में किया गया है पर कहीं-कहीं जहां यात्रा सम्बन्धी उपकरणों का उल्लेख करना पड़ा है, इसकी शैली विवरणात्मक हो गई है।

16 जून को जब लेखक यात्रा के लिए चलने लगता है उस समय क्या-क्या सामग्री उसके साथ थी, उसका विवरण ब्यौरेवार इस प्रकार देता है—

"बुद्धवार, 16 जून को सवेरे चार बजे उठा। आकाश मेघों से आच्छादित था। शौचादि से निवृत्त होकर सामान बांधा। दो स्वेटर, एक सिरकान ढकने का ऊनी टोप, दो गंजी, मृगचर्म, दो ऊनी हलकी चद्दरें, एक बिछाने का कम्बल, गीता की पुस्तक, डायरी, दो पहनने की रेशमी चद्दरें, तीन कौपीन, चार रूमाल, एक तौलिया, चन्दन की माला, 17 रुपये, दो रुपये की दो अन्नी-चवन्नी—इतना सामान तथा हाथ में कमंडल, छाता

1. मेरी कैलाश-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 134-35
2. वही, पृ० 137-38

और लट्ठ लेकर मैं तैयार हो गया।"[1]

डायरी-शैली में किए गए यात्रा-वर्णनों का विवरणात्मक हो जाना स्वाभाविक होता है। पर सफल लेखक सर्वत्र ऐसा नहीं होने देते। ऐसा होने पर वह वर्ण्य विषय से दूर चले जाते हैं। गनीमत है कि परिव्राजक जी इस प्रकार के विवरणों में सर्वत्र नहीं उलझे। वर्ण्य विषय की ओर भी उनका ध्यान रहा।

यात्रा-वर्णन अत्यन्त प्रवाहपूर्ण भाषा में किया गया है। अनावश्यक बातों को इस वर्णन में स्थान नहीं दिया गया। पढ़ते समय उपन्यास जैसा आनन्द आने लगता है। इसका कारण है लेखक का यात्रा-वर्णन को रोचक बनाने के लिए बीच-बीच में व्यंग्य विरोध की फुलझड़ियां छोड़ते रहना। पौराणिक कथानकों का बीच-बीच में उल्लेख करके लेखक ने अपने यात्रा-वर्णन को सरस बना दिया है।

इस प्रकार भाषा-शैली की दृष्टि से लेखक को पर्याप्त सफल।ा मिली है। उसके इस यात्रा-वर्णन को पढ़कर मन ऊबता नहीं। यात्रा-वर्णन कौतूहल और जिज्ञासा को बढ़ाने वाला होने के कारण पाठक के मन को अपने में रमा लेते हैं। आगे क्या होगा ? अब क्या होने वाला है ? यह जिज्ञासा तभी तक बनी रहती है जब तक पाठक इसे पढ़कर समाप्त नहीं कर दे। इन्हीं विशेषताओं के कारण यह पुस्तक अपने समय की बहुचर्चित, बहु-प्रशंसित रचना समझी जाती थी। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं ने इसकी शतकण्ठों से प्रशंसा की थी। मद्रास के सुप्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक 'हिन्दू' ने लिखा था—

"यह छोटी पुस्तक लेखक की कठिन, किन्तु पवित्र कैलाश-यात्रा की दैनन्दिनी है। स्वामी सत्यदेव एक सजीव लेखनी के अधिकारी हैं और कभी-कभी वह अपने स्पष्ट चित्रणों द्वारा पाठक को उठाकर भव्य हिमालय के सौन्दर्य की गोद में बिठा देते हैं। वह अपनी यात्रा की बहुत-सी छोटी-छोटी किन्तु रुचिकर घटनाओं तथा साहसिक कृत्यों का उल्लेख भी करते हैं और हमको हिमालय की ् ग्धता तथा उसकी कठिनाई का भी बोध कराते हैं।"[2]

'अमरीका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी'

यात्रा का उद्देश्य

ज्ञान की प्यास ने परिव्राजक जी को भी अमेरिका के गुरुकुलों में शिक्षा की भिक्षा लेने

1. मेरी कैलाश-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 9
2. The small book is a diary of the author's arduous pilgrimage to the Holy Kailash. Swami Satya Deva wields a facile pen and sometimes he transports the reader and plants him right in the centre of the grand mountain scenery on the Himalayas by the vividness of his descriptions. He narrates many an interesting anecdote and adventure of his journey, which give one a clear idea of the thrills as well as the difficulties of mountaineering on the Himalayas." —Hindu—Madras

के लिए बेचैन कर दिया।

परिव्राजक जी अपनी इस अद्भुत यात्रा की कहानी का आरम्भ करते हुए कहते हैं—

"मेरी आयु इस समय भरी जवानी की थी। भारतवर्ष की राजनीतिक गुलामी ने मुझे बेचैन कर दिया था और मैं चाहता था अपने देश को स्वतन्त्र कराना। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा इटली के निवासी, स्वाधीनता के पुजारी जगद्विख्यात मेजिनी की जीवनी ने मुझ पर जादू-सा काम किया था। मैं चाहता था स्वतन्त्रता की खोज करना।[1]

यात्रा का आरम्भ

यह वह समय था जब स्वामी विवेकानन्द तथा रामतीर्थ अमेरिका को भारतीय संस्कृति के दिव्यालोक से आलोकित कर चुके थे। उनके भाषणों की चर्चा समाचार-पत्रों में चलती रहती थी। काशी में परिव्राजक जी स्वामी रामतीर्थ जी से साक्षात्कार भी कर चुके थे। उनसे वार्तालाप करने पर उन पर जो प्रभाव पड़ा उनसे उन्हें नई दुनिया की सैर करने के लिए प्रेरणा दी। इस यात्रा का सूत्रपात कैसे हुआ इसके सम्बन्ध में परिव्राजक जी कहते हैं :

"आखिर मैंने विदेश जाने का निश्चय कर ही डाला और पहली जनवरी सन् 1905 की तिथि भी उसके लिए नियत कर दी। मगर मेरे पास थे केवल पन्द्रह रुपये। यही थी मेरी सारी पूंजी, जिसके सहारे मैं प्रशान्त महासागर पार करने की योजना बना रहा था।

पुरानी दुनिया का संस्कृत पढ़ने वाला विद्यार्थी अपनी 26वें वर्ष की आयु में बिना किसी साधन के नई दुनिया की ओर जाने के लिए काशी से चल पड़ा और जब रेलगाड़ी पहली जनवरी सन् 1905 को डफरिन ब्रिज पर से श्री गंगा जी को पार कर रही थी तो खिड़की में बैठे हुए मैंने काशी नगरी का प्रभाती दृश्य देखा और उस समय मेरे मुंह से अनायास ही नीचे लिखे शब्द निकले:—

खुश रहो अहले वतन अब हम सफर करते हैं।
दरो दीवार पे हसरत से नजर करते हैं।।"[2]

'स्वावलम्बी विद्यार्थी'

कभी-कभी जीवन में ऐसे प्रेरक प्रसंग भी आ जाते हैं जो होते तो हैं एक साधारण घटनामात्र पर पाठ ऐसा पढ़ा जाते हैं जो कभी विस्तृत नहीं होता। 15 रुपये की जमा पूंजी से नई दुनिया में नियमित रूप से रहकर शिक्षा प्राप्त करने का स्वप्न देखने वाले इस

---

1. अमरीका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 1
2. वही, पृ० 2

निर्धन भारतीय विद्यार्थी के जीवन की एक छोटी-सी घटना जिसने उसमें नई उत्साह को भरकर सफलता की अन्तिम सीढ़ी तक पहुंचा दिया। इसके विषय में वह लिखता है—

"एक बार सियेटल में मैं डाकखाने से डाक लेने गया। लौटकर रास्ते में एक छः वर्ष के बालक को अखबार बेचते हुए देखा।

'मिस्टर आप अखबार खरीदेंगे ?'

'नहीं, मुझे अखबार नहीं चाहिए।' मैंने धीरे से उत्तर दिया।

"केवल एक आना, ज्यादा नहीं।" बालक ने मीठी आवाज़ से कहा।

'नहीं, मुझे अखबार की ज़रूरत नहीं है।'

'कृपा करके अवश्य खरीदिए, एक आना बड़ी रकम नहीं है।'

उस बालक के आग्रह करने पर मैंने जेब से एक आना निकाल उससे अखबार खरीद लिया और पूछा—

"क्या तुम्हारे माता-पिता गरीब हैं ?" लड़का बड़ा विस्मित हुआ। वह मेरी तरफ देखकर बोला—"आपने ऐसा क्यों पूछा ?"

मैं—"क्योंकि तुम अखबार बेच रहे हो।"

बालक—"क्या अखबार बेचने वाले गरीब होते हैं ?"

मैं (खिसिया कर)—"नहीं, मेरा मतलब यह है कि तुम्हारी इतनी छोटी उम्र और अभी से तुम अखबार बेचने लग गए हो।"

बड़ी हैरानी से उस लड़के ने मेरी ओर देखा और फिर बड़े जोश से बोला—

"देखिए मिस्टर! मेरे माता-पिता गरीब नहीं हैं, लेकिन मैं अपने बाप के सहारे नहीं रहना चाहता। ये जो कपड़े मैं पहिने हुए हूं, ये मेरी अपनी मेहनत से खरीदे हुए हैं और जो खर्च मुझे चाहिए, वह मैं अपने उद्योग से कमाता हूं। मेरे पचास डालर बैंक में जमा हैं। उस बालक के इन शब्दों ने मेरे ऊपर बड़ा असर डाला। मैंने सोचा कि अमरीका का छः वर्ष का बालक अपना जीवन स्वतन्त्रता से व्यतीत करता है, उसको किसी की परवाह नहीं।"[1]

इस छोटी-सी घटना ने परिव्राजक जी की जीवन-यात्रा में प्रकाश-स्तम्भ का काम किया। वह सफलता की सीढ़ियों तक पहुंचकर मार्ग की जटिलताओं के कारण बीच ही में लौटकर नहीं आए। उन्होंने वहां शिक्षा कैसे प्राप्त की ? उसके लिए उन्हें किन-किन कठिनाइओं का सामना करना पड़ा ? इसकी एक लम्बी कहानी है। फिर भी उसका अपना महत्त्व इसलिए है कि उसे पढ़कर यह सहज में जाना जा सकता है कि यदि कोई मनुष्य अपने निश्चय पर अडिग रहकर सारी शक्ति अपने कार्य में लगा दे तो वह कभी असफल नहीं होता।

विदेशों में विद्यार्थी माता-पिता पर किसी प्रकार का बोझ डाले बिना अपने पैरों पर खड़े होकर किस प्रकार शिक्षा प्राप्त करते हैं। परिव्राजक जी का अपना विद्यार्थी

---

1. अमरीका के स्वावलम्बी विद्यार्थी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 5-6

जीवन ही इसका उत्तम उदाहरण है जिसके विषय में वह कहते हैं – "जब मैं अमेरिका में पढ़ता था, राक्षसी भूख ने मुझे सताना आरम्भ किया तो मैंने विश्वविद्यालय के नौकरी दिलाने वाले विभाग की शरण ली और वहां के अध्यक्ष के पास पहुंचा। उसका नाम था मिस्टर बर्लिन और वह था जर्मन यहूदी। आज भी 32 वर्षों के बाद उसके चेहरे के हाव-भाव मेरे हृदय पर खिंचे हैं। मुझे देखकर वह बोला—'कहिए, क्या चाहिए ?"

मैंने विनयपूर्वक कहा—'मुझे काम की ज़रूरत है।'

वह मुस्कराकर बोला—'एक होटल में बरतन मांजने वाले की ज़रूरत है। संध्या के समय आपको वहां जाना होगा और दिनभर अपने विद्याध्ययन में संलग्न रहिए। क्या आपको मंजूर है ?' मैं सिर खुजलाने लगा। मांस खाने वाले गोरों के जूठे बरतन मांजना ऐसा घृणित कार्य मुझसे न हो सकेगा। यह सोचकर मैंने इन्कार कर दिया। मेरे इन्कार से मिस्टर बर्लिन ने मुंह फेर लिया और मैं खिन्न होकर अपने कमरे में लौटा।···बड़ी जद्दोजहद के बाद मैंने अपने आपको समझाया-बुझाया और होटल के बर्तन साफ करने के लिए तैयार हो गया। उच्चवर्णाभिमानी हिन्दू की थी यह अग्नि-परीक्षा। दुबारा जब मैं मिस्टर बर्लिन के पास पहुंचा तो उसने बड़ी सहानुभूति प्रदर्शित कर मुझसे कहा—

"देखो, मिस्टर देवा, मैं जानता हूं कि यह काम तुम्हारे लिए बड़ा मुश्किल है, क्योंकि तुम मांस नहीं खाते। लेकिन अगर तुमने मुश्किलात को हल करना सीख लिया तो तुम आज़ाद हो जाओगे और संयुक्त राज्य अमरीका में विद्याध्ययन करना तुम्हारे लिए बड़ा आसान हो जाएगा।"[1]

'अमरीका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी' के 24 अध्यायों में लेखक ने अपने विद्यार्थी जीवन का ही वर्णन किया है। जिसका बहुत-सा भाग उसकी राम कहानी 'स्वतन्त्रता की खोज में 'आ गया है। इस पुस्तक के पच्चीसवें अध्याय से लेखक अपनी पद-यात्रा का वर्णन करता है जो 34वें अध्याय तक चलता है। वर्णन-शैली अधिक रोचक न होते हुए भी लेखक यह पद-यात्रा तत्कालीन अमेरिका के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारियां करा ही देती है। इस दृष्टि से लेखक की यह पुस्तक पुरानी होने पर भी अपना महत्त्व उसी प्रकार बनाए हुए है।

लेखक ने नई दुनिया की इस धन कुबेर की नगरी के महानगर न्यूयार्क का बड़ा ही सुन्दर और नयनाभिराम वर्णन किया है। ऐसा सुन्दर वर्णन कि आंखों के सामने इस वैभव नगरी का चित्र चल-चित्रों के समान घूमने लगता है। एक चित्र देखिए—

"न्यूयार्क नगरी का अपना एक अद्भुत चमत्कार है, जो दुनिया के और किसी नगर में नहीं पाया जाता। वह है आकाशचुम्बी भवनों की कतारें। संसार के किसी नगर में ऐसे ऊंचे घर आज तक नहीं बने। जब से मनुष्य समाज का जन्म हुआ है तब से आज तक मनुष्य ने कभी भी इस प्रकार की कारीगरी के ऊंचे भवन निर्माण नहीं किए। चालीस-

---

1. अमरीका के स्वावलम्बी विद्यार्थी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 42-43

पचास और पचपन मंजिले मकान केवल अमरीकन लोगों ने ही बनाकर दिखलाए हैं और गृह-निर्माण कला का अद्भुत चातुर्य अमरीकन जाति के मस्तिष्क में ही है। ये घर मामूली लकड़ी के नहीं, बल्कि सुदृढ़ सीमेण्ट के बने हुए हैं। बोझिल वैज्ञानिक साधनों से सुसज्जित ये भवन आधुनिक सुखों के केन्द्र हैं, जहां प्रत्येक निवासी को अपने ही कमरे में सब वस्तु अनायास ही मिल जाती हैं। न्यूयार्क की ब्राड वे गली के किसी कोने पर खड़े होकर जब दर्शक अपना सिर उठाकर इधर-उधर दृष्टि डालता है तो अलिफ-लैला के भीमकाय दैत्यों की तरह खड़े हुए बड़े-बड़े मकान अपने सामने पाता है। एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इस प्रकार भीमकाय मकानों की कतार दर्शक के हृदय को आश्चर्य से भर देती है। यदि रात का समय हो तो फिर कहना ही क्या ! आकाशचुम्बी इन भवनों की हज़ारों खिड़कियों में से बिजली की रोशनी अपना विचित्र सौन्दर्य दिखलाती है।"[1]

अमरीका जन-जीवन का विचित्र प्राणी होबो– इस नई दुनिया से हिप्पियों की जो बहुत बड़ी संख्या आकर दुनिया के विभिन्न भागों में आकर फैलती चली जा रही है इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। यह जाति-कुल-वंश के बन्धनों से रहित लोग आखिर कौन हैं ? यह एक प्रश्न है जो विश्व के चिन्तनशील मस्तिष्कों के लिए समस्या बना हुआ है।

परिव्राजक जी ने अमेरिका के इसी तरह जाति-कुल और वंश के बन्धनों से रहित कुछ लोगों के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

"जब मैंने सियेटल में अमरीका-भ्रमण का इरादा किया था तब अपने एक हितैषी अमेरिकन से पूछा था कि क्या मुझे रास्ते में लुटेरे तो नहीं मिलेंगे ? उसने यह कहा था कि तुम को रास्ते में डाकू तो नहीं मगर होबो मिलेंगे। मगर उनके मुंह न लगना, अपने रास्ते चले जाना, उनसे अधिक मिलना-जुलना नहीं। इसलिए मैंने इस बुड्ढे से बातचीत नहीं की। अपने रास्ते चला गया। पर मुझे यह मालूम नहीं था कि दैव मुझे कई रातें इन्हीं के साथ बिताने के लिए मजबूर करेगा, जिससे मैं मनुष्य-समाज के एक दूसरे परदे का नजारा भी देख लूं।"[2]

'होबो' कौन हैं ? क्या करते हैं ? उनसे क्यों सतर्क रहना चाहिए ? इसके जीते-जागते उदाहरण इन हिप्पियों को कहा जा सकता है।

"भारतवर्ष में भिखमंगों की कमी नहीं, परन्तु इन भिखमंगों और अमरीका के होबो लोगों में बड़ा फर्क है। हमारे भिखमंगे पैसा-पैसा मांगकर जमा करते हैं और उन्हें रुपया जमा करने की बीमारी होती है, पर अमरीका का होबो पैसा जमा नहीं करता। वह खूब मौज-बहार से रहता है। यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमरीका में ऐसे हज़ारों होबो हैं जो कि सड़क पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। वे जाड़े के दिनों में पश्चिम की

---

1. अमरीका-प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 493
2. वही, पृ० 264

ओर आ जाते हैं और गर्मी में पूर्व की रियासतों में घूमते हैं। वे एक स्थान पर अधिक दिन नहीं ठहरते, उनके पैर में शनीचर सवार रहता है। बोलने-चालने में वे सभ्यता का व्यवहार करते हैं और मित्रता होने पर पूरे मित्र बन जाते हैं। साथी के पास खाने को न हो तो अपनी आधी रोटी उसे ज़रूर दे देंगे। वे बड़ी चोरियां नहीं करते। चोरी उनका धन्धा नहीं, लेकिन हां भूख से आतुर होने पर खाने लायक चीज़ ले लेते हैं। यदि उन्हें मज़दूरी मिल जाए तो आवश्यकता पड़ने पर 4-5 रोज़ के लिए उसे भी कर लेते हैं। होबो-संसार में स्त्रियों का अभाव रहता है, इसलिए वे काम-चेष्टा होने पर आपस में उसकी तृप्ति कर लेते हैं। प्रायः पुराने होबो के साथ कोई लड़का रहता है जो स्त्री का काम देता है। जब वह बड़ा हो जाता है तो अपनी भुजाओं के बल से स्वतन्त्र हो जाता है और उसका स्थान कोई दूसरा लड़का ले लेता है। काम-चेष्टा तृप्ति करने का अर्थ यह नहीं कि हर समय अस्वाभाविक सम्बन्ध ही किया जाय, आपस में आलिंगन करने से अथवा एक दूसरे का हस्त-मैथुन करने से भी काम की तृप्ति हो जाती है। होबो लोगों से पूछने पर मुझे पता लगा कि इस प्रकार की आदतें अधिकतर स्त्रियों के अभाव के कारण पड़ जाती हैं। नगर के निकट यदि उन्हें आसानी से स्त्री मिल सके तो वे स्वाभाविक तरीके को अधिक पसन्द करते हैं।"*

हमारा यह सैलानी संन्यासी चलते-चलते अमरीका के राष्ट्रपति के श्वेत भवन (White house) के पास जाकर खड़ा हो गया और उसे दिखाते हुए अपने पाठकों से बोला—

"यही सफेद खम्भों वाला भवन (White house) कहलाता है। अमरीका जाति के प्रेसीडेंट श्रीमान टाफ्ट यहीं विराजते हैं। यह प्रेसीडेंटों के रहने की जगह है। प्रत्येक चार वर्ष उपरान्त अमेरिकन लोग अपने प्रधान का चुनाव करते हैं। यही प्रधान

---

1. अमरीकी-प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ०456-57

* वास्तव में होबो अमरीकी जन-जीवन की एक सही तसवीर को सामने ले आता है। जहां अमरीकी धनिक-वर्ग अभ्रचुम्बी अट्टालिकाओं में वहां विलासी जीवन बिताता है, वहां एक वर्ग ऐसा भी है जिसमें अधिकतर इन अधिक विलासियों की अवैध सन्तानें भी शामिल हैं, फुट-पाथों पर अभावों का जीवन बिताता है। समाज द्वारा घृणा से देखा जाने वाला वही वर्ग विशेष होबो कहलाया जाने लगा होगा। इस विश्वास के साथ सम्पूर्ण संसार में अछूत के रोग के समान फैलते चले जाने वाले ये हिप्पी इन्हीं होबोओं के भाई-बहन जान पड़ते हैं। देश काल और परिस्थितियों के अनुसार समय बदलता चला जाता है, उसके रूप और मान्यताओं में भी अन्तर आता जाता है। होबो के सम्बन्ध में लेखक ने जो कुछ भी लिखा है वह काफी पुराना पड़ चुका है। अब उनके रहन-सहन और दैनिक जीवन में भी परिवर्तन हो गए होंगे और इन परिवर्तनों ने उन्हें क्या से क्या बना दिया होगा ? इसे कोई प्रत्यक्षदर्शी ही बता सकता है।

इनका प्रेसीडेंट, राजा, महाराजा, सभी कुछ है। चार साल बाद फिर चुनाव होता है और सर्वप्रिय पुरुष प्रेसीडेंट बनाया जाता है।

इस 'श्वेत भवन' की नींव अक्तूबर 1792 में पूज्यवर जार्ज वाशिंगटन ने रखी थी। 1799 में यह भवन बनकर तैयार हो गया था। यह इमारत वरजीनिया पत्थर की है। इसकी लम्बाई 170 फीट है और चौड़ाई 86 फीट है।"[1]

इसके उपरान्त अमरीका की स्वतन्त्रता की देवी की प्रतिमा की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हुए कहते हैं—

"अहा! साक्षात् स्वतन्त्रता देवी की मूर्ति! यही देवी सर्वसिद्धिदायिनी है। यही मोक्षदात्री भगवती है। देवी के दाहिने हाथ में तलवार है और बायें हाथ में फूलों की माला। इस मूर्ति को देखने से मन में क्या पवित्र और उच्च भाव उठते हैं। लेखनी में वर्णन करने की शक्ति कहां?

"देवी के सिर पर अमेरिकन झण्डे की चादर है। खैर, यह तो अपनी श्रद्धा है। सूर्यवंशियों ने सूर्य-चित्रित चादर भेंट की, चन्द्रवंशियों ने चन्द्र-चित्रित और जिनके पास भेंट करने को कुछ नहीं है उन्होंने अपनी आहों से देवी के पैर चूमे।

"देवी को नमस्कार करके अन्दर चलते हैं।"[2]

यात्रा का प्रभाव—लेखक का उद्देश्य नई दुनिया में रहकर वहां के किसी प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय के शिक्षार्थी के रूप में नियमित रूप से शिक्षा प्राप्त करना था, उसका वह उद्देश्य पूरा हो चुका था। अब वह अपने प्यारे देश भारत की ओर पदार्पण करने वाला था। इस नई दुनिया से विदा लेते समय लेखक की उस समय जो मानसिक स्थिति हो रही थी, उसका वर्णन उसने अपनी भावभीनी भाषा में इस प्रकार किया है—

"जैसे गुरुकुल का ब्रह्मचारी अपना ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर गुरुकुल से विदा होते हुए अपने प्यारे 'कुल' को बड़ी श्रद्धा और प्रेम से नमस्कार करता है, ठीक यही दशा मेरे अन्तःकरण की अमरीका छोड़ते समय थी। केवल अन्तर यह था कि अभी मेरा मन अमरीकन विश्वविद्यालयों से पूर्णतया तृप्त नहीं हुआ था। मेरी हार्दिक इच्छा थी कि मैं एक बार फिर भारत से लौटकर इस स्वाधीन देश में आऊं और न्यूयार्क की प्रसिद्ध यूनिवर्सिटी कोलम्बिया में चार पांच वर्ष और विद्याध्ययन करूं। अमरीकन विश्वविद्यालयों में सचमुच ज्ञान की धाराएं बहती हैं, जिनमें गोता लगाने का मजा विद्यार्थी कभी नहीं भूल सकता। छः वर्ष की विदेश-यात्रा ने सचमुच मेरी आंखें खोल दीं और मुझे सत्यासत्य के निर्णय करने के योग्य बना दिया। अमरीका के अहसान को मैं नहीं भूल सकता। अमरीका के मेरे पांच वर्ष मेरे जीवन में सदा ऊंचा स्थान पायेंगे और उनकी सुखद स्मृति मुझे सदा नवीन स्फूर्ति देती रहेगी।"[3]

---

1. अमरीका-प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 487-88
2. वही, पृ० 489
3. वही, पृ० 499-500

भावुकता में आकर युवावस्था में लिया गया संन्यास भी दुःखदायी हो जाता है। हठयोग की साधना के समान अनिच्छा से पालन किया जाने वाला ब्रह्मचर्य कितना कष्टप्रद होता है, इसका आभास नई दुनिया से भारत की ओर प्रस्थान करने वाले एक सैलानी संन्यासी के इन शब्दों से मिल जाता है—

"मैं भारतवर्ष से अमरीका में बसने के लिए आया था। मेरी इच्छा थी कि मैं अमरीका जैसे आज़ाद देश में जाकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करूं, क्योंकि मेरे सिद्धान्तानुसार गुलाम-सन्तान उत्पन्न करना घोर पाप है। अमरीका आकर मेरा प्रोग्राम बदल गया और मैंने सोचा कि मेरा कर्त्तव्य अपने दुःखी देश में जाकर उसको स्वतन्त्र कराना है।"[1]

गुलाम सन्तान उत्पन्न करने या न करने का प्रश्न तो उस समय उठता जब संन्यास आश्रम उसे ऐसा करने की आज्ञा देता। अस्तु हम लेखक की इस मनोभावना को उसकी गलती या भूल की प्रतिक्रिया ही कहेंगे जो उसने युवावस्था में संन्यास लेकर की थी। इस प्रकार लेखक की 'अमरीका, प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी' उसके अन्तराल में छिपी हुई इस मर्म-वेदना को व्यक्त करके समाप्त हो जाती है।

वर्णन-शैली

लेखक की वर्णन-शैली अत्यन्त प्रवाहपूर्ण है। नई दुनिया में उसने क्या देखा, जब वह इसका वर्णन करने लगता है तब वह आंखों के सामने उस दृश्य का चित्र लाकर खड़ा कर देता है, अमरीका की कांग्रेस के इजलास को हमने अपनी आंखों से देखा था वहां उसने क्या देखा, इसका एक शब्द-चित्र देखिए—

"आज कांग्रेस का इजलास हो रहा है। चलिये ज़रा उसकी ओर भी निगाह डालते चलें। यहां तो इतनी भीड़ है कि बारी-बारी से अन्दर की गैलरियों में जाने देते हैं। अपनी बारी पर हम लोग भी घुस चलेंगे।

"हैं! यह क्या? नीचे हाल में तो थोड़े ही मेम्बर हैं। कुर्सियां खाली हैं। एक सीनेटर व्याख्यान भी दे रहा है। सुनने वाले चार दस ही हैं। हां, गैलरियों में स्त्री-पुरुष भरे हैं। यह क्यों? इसका रहस्य बाद में मालूम होगा। यहां का वृत्तान्त किसी से पूछेंगे।

सीनेट का यह हाल खासा बड़ा है। इसकी दीवारों की सजावट में सोने का काम बहुत है और चित्र-विचित्रता का तो कहना ही क्या? छत, दीवार, शीशा आदि सभी कला-कौशल के नमूने हैं। देश के महान् पुरुषों को सभी जगह स्थान दिया गया है, उनकी प्रतिष्ठा की गई है। हाल में कुर्सियां अर्द्धचन्द्राकार चुनी हुई हैं। प्रत्येक कुर्सी के आगे एक डेस्क है। प्रेसीडेण्ट का डेस्क बीच में प्लेटफार्म पर है।"[1]

---

1. अमरीका-प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 499
2. वही, पृ० 491

अमरीका के नगरों की चहल-पहल आदि का वर्णन करते समय लेखक की शैली कहीं-कहीं विवरणात्मक हो गई। परन्तु इसके बिना काम भी नहीं चल सकता था। शिकागो नगर का परिचय देते हुए वह लिखता है।

"शिकागो बहुत बड़ा शहर है। संसार के बड़े शहरों में इसका तीसरा नम्बर है। यहां एक "फील्ड म्यूजियम" अर्थात् फील्ड साहिब द्वारा बनवाया हुआ अजायबघर है। यह मिशेगन झील के किनारे, शिकागो विश्वविद्यालय से थोड़ी ही दूर स्थित है। रविवार को सवेरे नौ बजे से शाम के पांच बजे तक सबको यहां मुफ्त सैर करने की आज्ञा है।"[1]

कहीं-कहीं नाटकीय शैली का भी प्रयोग किया गया है। ऐसे स्थलों पर औपन्यासिक सौन्दर्य ने वर्णन शैली को अधिक प्रवाहपूर्ण बना दिया है। एक विद्यालय में इतिहास-कक्षा लग रही है। लेखक सामने खड़ा हुआ वहां की इतिहास-विषयक शिक्षा-पद्धति को देख रहा है। उसका वर्णन करते हुए वह लिखता है—

"यह सामने की दीवार पर किस का चित्र है ?" अध्यापिका ने एक बालक से पूछा।

"यह सवार की तस्वीर है।

अध्यापिका—(दूसरे बालक से) "सवार के हाथ में क्या है ?"

बालक—"झण्डा है।"

अध्यापिका—(एक बालक से) "किसका झण्डा है ?"

बालक—"हमारे देश का।"

अध्यापिका—"वह सवार कौन है ?"

बालक कुछ देर चुप रह। झट एक दूसरा बालक बोल उठा—"यह सिपाही है, जो युद्ध के हेतु जा रहा है।"

अध्यापिका—(दूसरे बालिक से) "चित्र में क्या कुछ और भी है ?"

बालक—"बहुत से आदमी—औरतें हैं।"

अध्यापिका—"वे क्या करते हैं ?"

बालक—"रूमाल हिला रहे हैं।"

अध्यापिका—(अन्य बालक से) "क्यों रूमाल हिलाते हैं ?"

बालक चुप रहा। अध्यापिका ने फिर सब बालकों से पूछा—"कोई बतलावे, ये नर-नारी रूमाल क्यों हिला रहे हैं ?"

उस अध्यापिका ने जब अपने उन विद्यार्थियों को चुप देखा तो उनको एक देश-हित भरा उपदेश दिया—

"प्यारे बच्चो ! यह सिपाही देश-हितैषी नवयुवक है, जो अपनी मातृभूमि को सबसे श्रेष्ठ समझता है। उसके लिए वह सब कुछ देने को उद्यत है। मातृभूमि की रक्षा के हेतु अपने देश के शत्रुओं से युद्ध करने के लिए रण-भूमि में जाने को तैयार है।

1. अमरीका-प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 47

इसके हाथ में अपने देश का परमपूज्य झण्डा है—यह झण्डा सारी अमरीकन जाति का कीर्तिस्तम्भ है। जब तक यह खड़ा लहराता है, अमरीकन जाति आजाद है। इसके गिरने से देश का पतन है। इसलिए इस झण्डे की रक्षा देश के प्रत्येक सच्चे पुत्र पर लाज़मी है। इस नवयुवक सिपाही ने प्राण-पर्यन्त इस झण्डे की रक्षा करने की शपथ खाई है। देश की रमणियां, माताएं, भगिनियां इसको आशीर्वाद देती हैं और रूमाल हिला-हिलाकर उसका उत्साह बढ़ा रही हैं।"[1]

इस प्रकार शैलियों में विविधता के आ जाने से लेखक का यह यात्रा-वर्णन नीरस और शुष्क नहीं जान पड़ता है। यही इसकी विशेषता है, जिसके कारण पाठक 508 पृष्ठों में समाप्त होने वाले इस यात्रा-वर्णन को पढ़ते समय उकताता नहीं।

मेरी जर्मन यात्रा

यात्रा का उद्देश्य—लेखक की जर्मन यात्रा का उद्देश्य था आंखों का आपरेशन करवाना। उसने अपनी जर्मन यात्रा की भूमिका का आरम्भ करते हुए कहा है—

"मेरी आंखें वचपन से खराब हैं। स्कूल में जब मास्टर गणित के प्रश्न बोर्ड पर लिखा करता था तो मुझसे वे प्रश्न पढ़े नहीं जाते थे। इसलिए मैं वोर्ड के नज़दीक जाकर बैठा करता था। मेरी आंखों में कोई खास बीमारी नहीं है, केवल (shortsightedness) अर्थात् मायूपिया है, और वह भी वहुत अधिक दर्जे का। पंजाब में उन दिनों कनकौवे उड़ाने का वहुत रिवाज़ था, खासकर लाहौर में तो छोटे-बड़े सभी कनकौवे उड़ाया करते थे। अब यह रिवाज़ आगे से कम हो गया है। मुझे याद है कि जब मैं कनकौवा उड़ाने के लिए छत पर जाया करता था तो दूसरों के कनकौवा दूर होने के कारण प्रायः मुझे दिखाई नहीं देते थे। इसलिए दूसरे लोग मेरा कनकौवा सहज में काट डालते थे। इसी प्रकार वड़ा सुन्दर शरीर रहने पर भी मैं भली प्रकार क्रिकेट नहीं खेल सकता था। मुझे यह भी याद है कि मेरे साथ पढ़ने वाले विद्यार्थी अक्सर मेरी आंखें खराब होने के कारण मुझसे दिल्लगी भी किया करते थे।"[2]

बचपन से आंखें खराब तो थीं ही, पर बड़ा होने पर मोतिये ने आक्रमण कर दिया, इससे परेशानी और भी बढ़ गई। लेखक ने अपनी इस परेशानी का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

"ईश्वर ने मुझे बड़ा अच्छा शरीर दिया है। सिर-दर्द, बुखार, खांसी आदि शारीरिक कष्टों को मानो मैं जानता ही नहीं। मतवाले हाथी की तरह मैं सदा विचरा करता था। यद्यपि मेरी आंखें कमजोर थीं। परन्तु ऐसी कमी नहीं कि जो मेरे नित्य के कार्य में बाधा डालें। पढ़ने-लिखने तथा अन्य कार्य करने में मेरी आंखें मुझे कोई खास

1. अमरीका-प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 469-70
2. मेरी जर्मन यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ०1, 2

तकलीफ़ न देती थीं, काम चलता था। जबसे मोतिया हुआ था तबसे कुछ दिक्कत घूमने, फिरने में होने लगी थी।"[1]

मोतिये का आपरेशन करवाया गया, परन्तु वह सफल नहीं हुआ। अब यही उचित समझा गया कि लेखक जर्मनी जाकर वहां किसी कुशल-चिकित्सक से अपनी आंखों की चिकित्सा करा ले। लेखक ने अपनी जर्मन-यात्रा में इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"सन् 1922 के फरवरी महीने में मैं प्रचारार्थ बम्बई पहुंचा। अभी तक मेरे हृदय में जर्मनी जाने का कोई ख्याल नहीं था। एक दिन मैं एक पारसी सज्जन डाक्टर खम्माता जी से बातें कर रहा था। बातों-बातों में ही उन्होंने मुझे जर्मनी के आंखों के प्रसिद्ध डाक्टरी की कुछ बातें बतलाई। उनकी बात मेरे मन को लग गई और मैंने निश्चय किया कि बाईं-आंख का इलाज जर्मनी जाकर करवाना चाहिए।"[2]

परिव्राजक जी को पासपोर्ट कैसे मिला ? वह जर्मनी कैसे पहुंचे ? इसकी एक लंबी कहानी है। इस लम्बी कहानी का सम्बन्ध यात्रा-वर्णन से न होकर उनका अपने तथा अपनी जीवन की लम्बी यात्रा से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों से है। जिनके सम्बन्ध में कुछ कहना अनावश्यक ही प्रतीत होता है। लेखक ने अपने हृदय का आक्रोश प्रकट करने के लिए उनकी चर्चा करके इस यात्रा-वर्णन में विषयान्तर उपस्थित कर दिया है।

भारतीय चिकित्सकों पर लेखक का रोष :

जर्मन पहुंचने पर वहां के कुशल चिकित्सकों ने लेखक की आंखों का आपरेशन किया। वहां के चिकित्सकों की इस सफलता का उल्लेख करते हुए उसका आक्रोश भारतीय चिकित्सकों के प्रति फिर बढ़ जाता है। इसलिए वह उन्हें फटकारता हुआ खुले शब्दों में कहता है—

"हिन्दुस्तान में जिस डाक्टर ने मेरी दाहिनी आंख का मोतिया काटा था उसने आंख का सारा केपस्थूल बाहर निकाल दिया था, इसी कारण मुझे सात महीने तक दुःख भोगना पड़ा और आंख की ज्योति का पानी भी बहुत कुछ निकल गया। हिन्दुस्तान वाले मोगे के डाक्टर मथुरादास का तरीका बड़ा पुराना, बड़ा रद्दी और खौफ़नाक है। मेरा अपना ख्याल है कि मोगा से जो लोग आंखों का इलाज कराकर जाते होंगे उनमें से बहुत कम लोगों को पूरा फ़ायदा होता होगा, अधिकांश लोग अपनी प्रारब्ध पर ही रोते रह जाते होंगे ?"[1]

परिव्राजक जी उन लोगों में से थे जिनके कोश में 'क्षमा' शब्द के लिए कोई स्थान नहीं होता। उनका यह रोष आगे चलकर एक भयानक बम के गोले के रूप में

1. मेरी जर्मन-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 6-7
2. वही, पृ० 29

फट पड़ा। अब क्या था, वह तत्कालीन भारत सरकार को आड़े हाथों लेते हुए बोल उठे—

"मुझे आश्चर्य है कि हिन्दुस्तान की सभ्य गवर्नमेंट झूठे डाक्टरों और धोखेबाज़ वैद्यों के हाथ से भोली-भाली जनता को बचाने के लिए क्यों कानून नहीं बनाती ? रिवाल-वर और बन्दूक रखने के लिए लाइसेन्स लेना पड़ता है और कैसे-कैसे कठिन कानून उसके सम्बन्ध में गवर्नमेंट ने बनाए हैं, पर आंख जैसी अमूल्य वस्तु और तन्दुरुस्ती जैसी अलभ्य चीज़ को बचाने के लिए कोई सख्त कानून नहीं। हजारों स्त्री और पुरुष नीम-हकीमों और नालायक वैद्यों द्वारा लूटे जाते हैं, हज़ारों आदमियों की आंखें धूर्त और बदमाश लोग घूम-घूमकर खराब करते फिरते हैं। गांव के भोले-भाले लोग इन स्वार्थी मनुष्यों के जाल में फंसकर हर साल अत्यन्त कष्ट भोगते हैं। क्या कोई दयालु सज्जन ग्राम निवासी दीन भारतीयों को इन भेड़ियों के जाल से बचाने के लिए सख्त कानून बनवाने की चेष्टा करेगा ? योरोप और अमेरिका में यदि कोई मनुष्य जिसने बाकायदा मेडिकल कालेज में तालीम न पाई हो, इस प्रकार लोगों की तन्दुरुस्ती और आंखें बिगाड़े तो वहां की जनता उसे पकड़कर जीता जला दे और पीछे कानून की बात करे। आंखों का इलाज करने वाले वे नर-पिशाच सूआ लिए-लिए फिरते हैं और गरीब लोगों की आंखों में चुभोकर मनमाने रुपये वसूल कर, बेचारों की आंखें बिगाड़ भाग जाते हैं। मैंने सुना है कि पंजाब के भाट और हाथ देखने वाले रौल बहुधा गांवों में जाकर ऐसा अत्याचार करते हैं। हे ईश्वर ! क्या कभी इन दीन-भारतीयों के असह्य दुःखों के दूर होने का समय आएगा, जब योरुप के स्वतन्त्र देशों की तरह हम लोग भी धूर्तों और नर-पिशाचों को जहन्नुम में पहुंचा सकेंगे।"[1]

लेखक ने तत्कालीन भारत सरकार के प्रति जो विदेशी थी अपना जो रोष प्रकट किया है वह सही है। पर आज स्वतन्त्र भारत में भी ऐसे चिकित्सकों की कमी नहीं है। बल्कि उनकी संख्या पहले से भी कहीं अधिक बढ़ गई है। भारत सरकार इसके सम्बन्ध में तत्कालीन साम्राज्यशाही से भी कहीं अधिक उदासीन है। इसे देश का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए।

बर्लिन के कुछ दृश्य

बर्लिन जर्मनी की राजधानी है। व्यापारिक दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व है। यह 'स्प्री' नदी के किनारे बसा है जो अब इसके मध्य से बहती हुई पोलैण्ड की ओर चली जाती है। बर्लिन संसार के बड़े-बड़े शहरों में से एक है। योरोप के बड़ी संख्या वाले नगरों में इसका स्थान तीसरा है। जर्मनी की रेलों का यह केन्द्र स्थल है। जहां से यात्री योरोप के प्रत्येक भाग में आ जा सकता है। यह विद्या का सबसे बड़ा केन्द्र है। आक्सफोर्ड और

---

1. मेरी जर्मन-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 104
2. वही, पृ० 104-5

कैम्ब्रिज के समान यहां का विश्वविद्यालय भी अत्यन्त प्राचीन है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण बर्लिन देश-विदेश के पर्यटकों का आकर्षण-केन्द्र रहा है।

लेखक इस नगर में पांच महीने रहा था, परन्तु वह यहां की सैर का आनन्द नहीं ले सका। इसके कारण पर प्रकाश डालते हुए वह कहता है—

"आंखों के अच्छा न होने के कारण मैं पहले चार महीने में बर्लिन की कुछ भी सैर न कर सका और जिस समय आंखें ज़रा अच्छी हुईं उस समय ऋतु सैर के अनुकूल न थी। योरोप हिन्दुस्तान की तरह नहीं है। यहां शीत का प्राधान्य रहता है, इसलिए योरोप के उत्तरीय देशों में खासतौर से गर्मी के दिन आनन्द के दिन माने जाते हैं। हमारे यहां जाड़े के दिन तन्दुरुस्ती और घूमने-फिरने के दिन होते हैं।"[1]

बर्लिन नगर की चहल-पहल का अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन लेखक ने इसे पढ़कर किया है। चित्रपट के चलचित्रों के समान उसके समस्त दृश्य हमारी आंखों के सामने आ जाते हैं। इसकी एक झलक देखिए—

"आइए पाठक, इस दरवाजे से निकलकर पार्लियामेंट भवन की तरफ चलें। बचिये, सामने से मोटर आता है, आगे देखिए, दाहिने हाथ की तरफ से बिजली की गाड़ी आ रही है, इसे निकल जाने दीजिए। अच्छा, अब हमको सीधा बाएं हाथ के इन वृक्षों के साये में चलना होगा। वह देखिए, सामने रीस्टाह का विशाल भवन है, इसी के अन्दर बैठकर जर्मनी के प्रजातन्त्र राष्ट्र के प्रतिनिधि अपने दुःखी देश की वर्तमान समस्याओं पर विचार करते हैं। बाएं हाथ की ओर घूम चलिए। आज हम इटैलियन शिल्प-कला के उत्कृष्ट ढंग की बनी हुई इस इमारत को देखने के लिए नहीं आए, इसे तो हम फिर कभी किसी मौके पर देख सकते हैं, आज हमें एक मुख्य चीज़ देखनी है, क्योंकि सुनते हैं कि शायद उसे जर्मनी के कम्युनिस्ट लोग फ्रांस की गवर्नमेन्ट के दबाव में आकर नष्ट भ्रष्ट करवा दें। वह देखिए सामने के ऊंचे गोलाकार प्लेटफार्म पर ऊंचा स्तूप दिखाई देता है यही जर्मनी का अत्यन्त विख्यात और संसार में अपने ढंग का अनोखा विजय-स्तूप है। हमें इसे ही देखना है।"[2]

"वर्तमान की आंखें जब कभी भी अतीत की ओर देखती हैं तो कभी-कभी इतिहास के गड़े मुर्दे कबरों में से निकलकर सामने आ जाते हैं और उन्हें देखकर विश्व-विजेता सेनानियों की उस पराजय का दृश्य भी सामने आ जाता है जो मृत्यु से लड़कर उन्हें देखना पड़ा था। लेखक ने शक्तिशाली जर्मनी की महान् विजय का स्तूप देखा जिसकी ऊंचाई और बनावट का वर्णन करते हुए जर्मनी के विगत इतिहास की ओर अपने पाठक को ध्यान आकर्षित करता हुआ वह कहता है—

"पत्थर के इस गोलाकार जीने की आठ सीढ़ियां चढ़कर हम चबूतरे पर पहुंचते हैं। इसी के बीचोंबीच चौकोनाविजय स्तूप दो सौ फीट ऊंचा खड़ा है। इसका उद्घाटन सन् 1873 के सेप्टेम्बर मास में हुआ था। सन् 1870 में जो भयंकर पराजय जर्मनी ने

1. मेरी जर्मन-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ॰ 107
2. वही, पृ॰ 112-12

फ्रांसीसियों को दी थी, उसी का यह स्मारक है। यह बृहत्-स्तूप गहरे लाल पत्थर और पीतल का बना हुआ है और बड़ा प्रभावोत्पादक है। इस स्तूप का आधारभूत नीचे का चौकोना भाग बाईस फीट ऊंचा है और इसके चारों तरफ पत्थर की दीवार में पीतल के ऐतिहासिक चित्र उभरे हुए हैं। पूरब की दीवार में सन् 1864 के उस युद्ध का चित्र है जो जर्मनी और डेनमार्क के बीच हुआ था। उत्तर की तरफ की दीवार पर आस्ट्रिया और जर्मनी के दर्मियान के आखिरी युद्ध का चित्र उभरा हुआ है। यह घमासान लड़ाई सन् 1866 ई॰ में हुई थी। पश्चिम की दीवार पर फ्रांसीसी जाति के हृदय को पाश-पाश करने वाला दृश्य है। सन् 1870 में जो पराजय फ्रांस के बादशाह नैपोलियन तीसरे की जर्मनों के हाथ से हुई थी उसी का दृश्य निपुण कारीगर ने दिखलाया है। विजयोन्मत्त जर्मन सेना पेरिस में प्रवेश करती हुई दिखाई गई है। दक्षिणी दीवार पर फादरलैंड (Father land) इन अक्षरों के नीचे विजयी जर्मन सेना का अपनी जन्मभूमि को लौटने का दृश्य दिखलाया गया है। ऊपर दृष्टि डालने से दर्शक को तीन कतारें तोपों की दिखलाई देती हैं। ये डेनमार्क, आस्ट्रिया और फ्रांस से जीती हुई तोपें हैं। स्तूप के ऊपर शिखर पर अड़तालीस फीट लम्बी विजयादेवी की मूर्ति है, जिसके दाहिने हाथ में विजयमाला और बाएं हाथ में क्रास है। एक सौ इक्यावन फीट ऊंचे इस स्तूप के चबूतरे पर चढ़ने से नगर का दृश्य दिखाई देता है।"[1]

जर्मनों की महान् विजय की इस अड़तालीस फीट लम्बी विशाल प्रतिमा को देखकर परिव्राजक जी के हृदय में विचारों का जो तूफान उठ रहा था, उसे उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"नीचे के चबूतरे पर खड़ा हुआ मैं सोच रहा था—"बावन वर्ष हुए कि जर्मन ने फ्रांस को बुरी तरह हराया था, फ्रांस का बच्चा-बच्चा जर्मनी द्वारा किए हुए अपमान से व्यथित था, जर्मनी के प्रधानमंत्री विस्मार्क ने गर्व में आकर फ्रांस को नीचा दिखाने के लिए इस स्तूप को खड़ा किया। विस्मार्क अपने छोटे ख्याल में यह समझता था कि जर्मन जाति सदा बलशाली रहेगी, उसने यह न सोचा कि द्वेष-द्वेष से नहीं मिटता बल्कि प्रेम से मिटता है। उस अदूरदर्शी और अभिमानी जर्मन को क्या मालूम था कि पचास वर्ष बाद यही फ्रांसीसी जाति उसके द्वारा किए गए अपमान का भयंकर बदला लेगी और शक्तिशाली जर्मन राष्ट्र को मिट्टी में मिला देगी। वह सामने विस्मार्क की मूर्ति खड़ी है। अगर इस बेजान मूर्ति में जान पड़ जाए और यह आज जर्मनी की दुर्दशा देखे तो उसकी आंखों में आंसू भर आवें और वह अपने किए पापों का प्रायश्चित्त करे, पचास वर्षों के बाद उसके बोए हुए द्वेष के बीज के फलस्वरूप 'रूहर' का हत्याकाण्ड हुआ, जो भूल बिस्मार्क ने की थी वही अब फ्रांस का राष्ट्र सचिव पाइनकेयर कर रहा है। क्या संसार का ऐसा ही नियम है? क्या भगवान् बुद्ध और हज़रत ईसा के विचार कोरे लिफाफे ही हैं? क्या वे खाली कानों में प्यारे लगने वाले शब्द ही हैं? क्या संसार इसी प्रकार पशु-बल के

1. मेरी जर्मन-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ॰ 112-13

आधार पर चलता रहेगा ? ऐसे ही विचारों को सोचता हुआ मैं उस चबूतरे से नीचे उतर गया। उन विचारों ने मेरे हृदय को पकड़ लिया। मैंने अपने मन में कहा कि यदि संसार पशु-बल के आधार पर खड़ा है तो फिर हम अपने लोगों को नर्म क्यों बनावें ?"[1]

पत्थर के इस साधारण टुकड़े को तराशकर मूर्तिकार उसमें अपने हृदय की भावनाओं को इ । तरह भर देता है कि देखने वाला उसे देखकर उसमें उन्हीं भावों की झलकियां देखने लगता है जिनसे प्रेरित होकर मूर्तिकार ने पत्थर के उस टुकड़े को मूर्ति का रूप दिया था। "हरिगौरी' की खण्डित मूर्ति को देखकर 'राहुल' जी के हृदय में भी इसी प्रकार के भाव उत्पन्न हुए थे। पर उनमें और परिव्राजक जी के हृदय के भावों में एक बड़ा भारी अन्तर है। दोनों मूर्तिकारों की भावनाएं एक दूसरे से कितनी भिन्न थीं इसका आभास हमें राहुल जी के इस वर्णन से मिल जाता है।

"मैं मैखंडा की खंडित हरिगौरी-मूर्ति से ही बहुत प्रभावित था, किन्तु यहां मैंने शोभा और सौन्दर्य में अद्वितीय इस हरिगौरी को देखा। इसकी कोमल वंकिम रेखाओं में वही सौन्दर्य भरा था जो कि अजन्ता के चित्रों में दिखाई पड़ता है, बल्कि पत्थर में ऐसा तन्वंग उत्कीर्ण करना संभव हो सकता है, इस पर आंखें विश्वास नहीं करती थीं। ललितासनस्थ हर के वामांक में अनुपम सौन्दर्य राशि की मूर्ति बनकर भूधरसुता विराजमान है।"[2]

परिव्राजक जी के हृदय में विस्मार्क की मूर्ति तथा जर्मन विजेताओं के फ्रांस विजय के स्मृति-सूचक स्तूप को देखकर जो भावनाएं उत्पन्न हुई थीं उनमें और हरिगौरी की खंडित प्रतिभा को देखकर राहुल जी के हृदय में जो भावनाएं उत्पन्न हो रही थी उनमें एक बड़ा भारी अन्तर है, जिसका कारण उस समय के देश-काल एवं परि-स्थितियों को भी कहा जा सकता है।

पश्चिमी देशों में मुर्दे जलाने की प्रथा

ईसाई और मुसलमानों में मुर्दे दबाने की प्रथा है। इससे पृथ्वी का बड़ा भारी भाग कब्रिस्तान बनकर अपनी उपयोगिता खो देता है। जर्मन लोग इस रहस्य को समझने लगे हैं, इसलिए वहां भी मुर्दे जलाने की प्रथा चल पड़ी है। इसका उल्लेख परिव्राजक जी ने अपनी यात्रा में इस प्रकार किया है—

"बर्लिन में मैंने एक बात विचित्र देखी। यहां मुर्दों को जलाने का एक स्थान है। एक भारतीय देश-भक्त यहां मर गया। उसको जलाने के लिए हम लोग उसे श्मशान गृह में ले गए। वहां जाकर देखा तो मालूम हुआ कि मुर्दे को जलाने का रिवाज जर्मनी में खूब लोकप्रिय हो रहा है। श्मशान-गृह में बड़ी मुश्किल से मुर्दा जलाने की बारी आती है और बहुत थोड़े समय में काम खतम करना पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि अगली

1. मेरी जर्मन-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 113-14
2. हिमालय परिचय—राहुल सांस्कृत्यायन, पृ० 441

शताब्दी में योरोप की आम जनता अपने मुर्दों को जलाने लगेगी और मुर्दों को दवाने की कुप्रथा का अन्त हो जाएगा।"[1]

भाषा ज्ञान की आवश्यकता

पर्यटक के लिए बहुभाषाविज्ञ होना आवश्यक है कम से कम उसे उस देश की भाषा तो जान लेनी ही चाहिए जहां वह भ्रमण करने के लिए जाना चाहता है। इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए परिव्राजक जी लिखते हैं—

"अन्त में मैं यह बतला देना भी उपयोगी समझता हूं कि जिस देश की भाषा मनुष्य नहीं जानता वहां की सैर का आनन्द उसको नहीं मिल सकता। रेल में बैठे हुए, गली में घूमते समय बागों में टहलते वक्त अपने इर्द गिर्द के आदमियों की बातों, उनकी हंसी मजाक, उनके दिलचस्प वक्तव्यों को न समझना और मूर्खों की तरह चुपचाप रहना बड़ा बुरा मालूम होता है। मनुष्य खाली पहाड़ी नज़ारे, सुन्दर गलियां और भव्य-भवनों को देखकर ही संतुष्ट नहीं होता, असली चीज़ जानने के योग्य तो देश की सभ्यता होती है। भाषा-ज्ञान के बिना कोई भी विद्वान् पुरुष किसी देश की सैर से उपयुक्त लाभ नहीं ले सकता। यों बावलों की तरह इधर-उधर घूम आना और बात है। इससे पुरुष अनुभवी और व्युत्पन्न नहीं हो सकता, इसलिए मैं अपने प्रेमियों से सानुरोध निवेदन करूंगा कि यदि वे जर्मनी जावें तो पहले जर्मन भाषा का थोड़ा ज्ञान अवश्य कर लें, कम से कम इतना कि जिससे वे किसी की बात समझ सकें और अपनी ज़रूरतें समझा सकें।"[2]

इस दिशा में परिव्राजक जी का प्रयत्न—पर्यटक के लिए वहां की भाषा को जानना आवश्यक है जहां की यात्रा वह करना चाहता है। अपने प्रिय पाठकों को यह सुझाव देते समय उनके मस्तिष्क में यह विचार अवश्य उत्पन्न हुआ होगा कि वह पर्यटन की इच्छा रखने वाले अपने देशवासियों की इस अभिलाषा को पूरा करने के लिए कुछ प्रयत्न करें, इसीलिए वह इस परिच्छेद के अन्त में अपने पाठकों से कहते हैं—

"योरुप जाने वालों के सुभीते के लिए मैंने एक अलग पुस्तक जर्मन, फ्रेंच और इटालियन शब्दों की तैयार की है, उसे मैं बम्बई में छपवाऊंगा। इस पुस्तक के साथ उसकी सामग्री जोड़ने से दाम अधिक हो जाता है। दूसरी बात यह है कि जिन्हें योरोप जाना नहीं है वे क्यों उसका दाम देते, यही सोचकर उसे पृथक् छपवाने का निश्चय किया है।"[3]

---

1. मेरी जर्मन-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 118
2. वही, पृ० 118-19
3. वही, पृ० 119

बर्लिन से स्टाकहोलम

यात्रा का उद्देश्य—अपनी जर्मन यात्रा के प्रसंग में परिव्राजक जी ने स्वीडन, रोम तथा पेरिस आदि देशों के यात्रा-प्रसंगों का भी वर्णन किया है जो संक्षिप्त होने के साथ ही साथ अत्यन्त रोचक और प्रवाहपूर्ण हैं। उन्होंने बर्लिन से स्काटहोलम की यात्रा क्यों की इस तथ्य पर प्रकाश डालने से पूर्व वह योरोप के प्राकृतिक स्थलों के उन मनोहर दृश्यों का वर्णन करते हैं जिनके कारण घुमक्कड़ प्रकृति के लोग अधिक से अधिक धन व्यय करके तथा लम्बी यात्राओं के अनेक कष्ट सहन करते हुए यहां आते हैं। इस सम्बन्ध में वहां के प्राकृतिक स्थलों की कौतूहलपूर्ण दृश्यों की चर्चा करते हुए वह कहते हैं—

"जून के महीने में संसार के दूर-दूर देशों के यात्री स्वीडन घूमने जाते हैं और वहां के अद्भुत प्राकृतिक दृश्यों को देखते हैं। वह दृश्य क्या है ? इस दृश्य को 'मिडनाइट सन् (midnight sun) अर्थात् मध्यनिशा 'भानु' का दृश्य कहते हैं। ग्रीष्मऋतु में स्वीडन के अत्यन्त उत्तरी भाग में कई सप्ताह तक सूर्य दिनभर क्षितिज से ऊपर रहता है और बहुत थोड़ी देर के लिए छिपता है। एक स्थान पर तेईस घण्टे से अधिक समय का दिन होता है अर्थात् सूर्य मुश्किल से पौन घण्टे के लिए छिपता है। इस प्रकार गर्मी की ऋतु में बड़े लम्बे दिन स्वीडन में आते हैं, पर उन दिनों सूर्य हमारे देश की तरह सिर पर नहीं आता बल्कि क्षितिज में घूमता हुआ दिखाई देता है, बड़ा चक्र होने के कारण दिन भी बड़े हो जाते हैं, पर यह दृश्य ही देखने योग्य होता है। दूसरी अद्भुत चीज़ इन उत्तरी देशों में जो देखने की है, वह है—विद्युत-प्रवाह जिसका वर्णन करना मनुष्य की शक्ति से परे है। अन्धेरी रातों से जब खूब जाड़ा पड़ता है, जब पारा शून्य से तीस चालीस डिग्री नीचे उतर जाता है। तब उत्तरीय दिशा में नैसर्गिक छटा का विस्मयजनक चित्र देखने में आता है। इस प्राकृतिक दृश्य को अंग्रेजी में (Aurora Borealis) कहते हैं, हिन्दी में इसे विद्युत-प्रवाह कहेंगे। बिजली की रंग-बिरंगी किरणों के प्रकाश से उत्तरीय दिशा प्रकाशित हो उठती है और आकाश जगमग-जगमग करने लगता है। यह केवल उत्तरी ध्रुव का दृश्य है, इसलिए प्राकृतिक सौन्दर्य के हज़ारों उपासक फरवरी के महीने में यह अद्भुत दृश्य देखने स्वीडन जाते हैं। स्वीडन में पृथ्वी का वह भाग भी है जहां छः महीने की रात और छः महीने का दिन होता है। यह भूमि लायलैण्ड है। बस इन्हीं दोनों दृश्यों को देखने की मेरी बड़ी प्रबल इच्छा थी।"[1]

परिव्राजक जी की असफलता : 'मेरे मन कुछ और है, करता के कछु और' की यह सूक्ति इस यात्रा में वास्तविकता की दीवार बनकर उनके सामने खड़ी हो गई। उन्हें असफल मनोरथ वापस लौटना पड़ा। स्टाकहोलम में स्टेशन के पास ही एक होटल है जहां पर परिव्राजक जी ने 10, 12 दिन बड़े आराम के साथ बिताए। वह वहां के विद्युत

1. मेरी जर्मन-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 120-21

प्रवाह देखने को बड़े उत्सुक थे, पर पूछने पर पता लगा कि दिसम्बर का महीना उस नैसर्गिक दृश्य की छटा देखने के अनुकूल नहीं होता क्योंकि अभी काफी सर्दी नहीं पड़ी थी। इसलिए अपनी निराशा को प्रकट करते हुए परिव्राजक जी को यही कहना पड़ा—

"भला मैं फरवरी तक डेढ़-दो महीने यहां कैसे ठहर सकता था, इसलिए लाचार होकर मैंने स्वीडन से चलने का निश्चय किया और सोचा कि स्टाकहोलम से सीधे बर्लिन होकर बियना (आस्ट्रिया) चलना चाहिए।"[1]

पेरिस में एक मास

यात्रा का उद्देश्य—जर्मनी-यात्रा के प्रसंग में परिव्राजक जी को पेरिस में भी एक मास बिताना पड़ा। क्यों ? इसका उत्तर देते हुए वह अपने पाठकों से कहते हैं—

"संसार में करोड़ों मनुष्य हैं जिन्होंने पेरिस देखा है, परन्तु प्रत्येक के हृदय में अपनी-अपनी भावना के अनुसार इस सलोने नगर की मूर्ति विराजमान है। जिस विकास का व्यक्ति होगा उसे उसी दर्जे की चीज़ें यहां मिलती हैं। बड़े से बड़े विद्वान् को फ्रांसीसियों की यह इन्द्रपुरी अपनी तरफ खींचती है और बड़े से बड़ा विषयभोगी तो विना बुलाए ही प्रकाश के पतंग की तरह इस पर बलिदान हो जाता है। – मानवीय स्वभाव के प्रत्येक दर्जे का दृश्य यदि किसी को देखना हो तो उसे पेरिस जाना चाहिए। पेरिस वर्तमान स्वतन्त्रता के युग की माता है, यह पाश्चात्य सभ्यता के नवीन आविष्कारों की जन्मदाता है। भूमण्डल का करोड़ों रुपया किसी न किसी बहाने इस नगर की ओर खिंचा चला आता है। सचमुच पेरिस फ्रांस की कामधेनु है, निःसन्देह यह उनका कल्पवृक्ष है।[2]

पेरिस योरोप की इन्द्रपुरी है। वहां स्वतन्त्रता का वीभत्स रूप देखने को मिलता है। रूपवती रमणियां सौन्दर्य का खुला सौदा करती हैं। ऐसी मायानगरी में जाकर कोई भाग्यशाली ही वेदाग होकर निकल सकता है। वहां के विलासी जीवन का चित्रण करते हुए परिव्राजक जी यहां यात्रा के उद्देश्य से आने वाले पर्यटकों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

"पेरिस, स्त्रियों के रूप-लावण्य का केन्द्र है, इसलिए यहां विषयभोग के एक से एक बढ़िया स्थान हैं। सैकड़ों राजे-महाराजे और नव्वाब यहां आकर कामदेव के वशीभूत होकर अपना सर्वस्व खो बैठते हैं। हज़ारों धनवान् नवयुवक, जिनके चेहरे गुलाब के फूल की तरह और जिनका शरीर सुन्दर सुडौल होता है, यहां आकर अपनी सारी सम्पत्ति खोकर कंगाल हो जाते हैं। इस दृष्टि से पेरिस बड़ा भयंकर नगर है। अतएव मैं दूसरी

---

1. मेरी जर्मन-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 124-25
2. वही, पृ० 165-66

बात अपने देशबन्धुओं को सावधान करने के लिए लिखता हूं। बुलवार्ड में घूमते समय, बोद बोलेन (पेरिस का खूबसूरत उद्यान) में सैर करते वक्त तथा ओपरो के निकट रात के समय जब कभी कोई गोरा, गंदी तस्वीरें दिखलावे या पेरिस के मनोरम दृश्य दिखलाने का बहाना कर पथ-प्रदर्शक बनकर नगर की सैर कराना चाहे तो कभी भूलकर भी ऐसे पुरुषों के साथ नहीं जाना चाहिए। गलियों में घूमते वक्त या बाग में टहलते समय, यदि कोई स्त्री रात में बिना परिचय के मुस्कराकर बुलावे तो उसे साक्षात् पिशाचिनी समझकर उससे दूर रहना चाहिए।"

इस इन्द्रपुरी के सौन्दर्य का वर्णन लेखक ने इतना सुन्दर और मनमोहक किया है कि पाठक के हृदय में इस रूप-लावण्य के इस क्रीड़ा-निकेतन को देखने की इच्छा प्रबल हो उठती है। उसका कहना है—

"पेरिस पाश्चात्त्य शिल्प-कला के आधुनिक चमत्कारों का घर है। इसकी इमारतें यूनानी संस्कृति की शिल्प-कला के ढंग पर बनाई गई हैं और पारखी दर्शक उनकी विलक्षण निर्माण-कला को देखकर बनाने वाले कारीगरों के बुद्धि-वैचित्र्य की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता। पेरिस की जगत्प्रसिद्ध नाट्यशाला, (ओपेरा) दर्शक के मन को मोह लेती है। बाज़ार के दोनों तरफ ही भव्य इमारतें पेरिस-निवासियों के सौन्दर्य-उपासक होने का पूरा प्रमाण देती हैं। सचमुच इन खूबसूरत इमारतों की एक जैसी कतारें आंखों को बड़ी ही भली मालूम देती हैं। योरोप के किसी भी नगर में गोथिक ढंग की शिल्प-कला के ऐसे श्रेष्ठतम नमूने नहीं पाए जाते।"[1]

अंग्रेजी भाषा से परिचित भारतवासी यह सोचते हैं कि सम्पूर्ण योरोप में अंग्रेजी बोली जाती होगी, पर ऐसा सोचना उनका शुद्ध भ्रम है। केवल अंग्रेजी जानने वाले पर्यटकों को भी कभी-कभी वहां दुभाषिये की तलाश में भटकना पड़ जाता है। इस लिए आवश्यक यह है कि योरोप की यात्रा करने वाले पर्यटकों को यात्रा आरम्भ करने से पहले फ्रेंच भाषा सीख लेनी चाहिए क्योंकि फ्रेंच सम्पूर्ण योरोप में बोली और समझी जाती है। परिव्राजक जी अनेक बार योरुप की यात्राएं कर चुकने के कारण इन सब परेशानियों का सामना कर चुके थे। इसलिए वह अपने देशवासियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

"फ्रेंच भाषा के ज्ञान के बिना योरोप की सैर का आनन्द कदापि नहीं मिल सकता। फ्रेंच भाषा सारे योरोप में समझी जाती है। इसका जानने वाला सारे योरोप में बड़े मजे से घूम सकता है। अंग्रेज़ी भाषा का प्रचार योरोप में बहुत कम है। किसी-किसी दुकान या होटल में अंग्रेज़ी बोलने वाले लोग मिल जाते हैं। धनवान् अमरीकन घुमक्कड़ों की खातिर, उनकी जेबों से पैसा निकालने के लिए होटल वाले, बैंकों के क्लर्क और व्यापारी दुकानदार लोग कहीं-कहीं अंग्रेजी जानने वाले मिल जाते हैं, लेकिन इस भाषा

---

1. मेरी जर्मन-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 170-71
2. वही, पृ० 177

को शौक से कोई नहीं पढ़ता। फ्रेंच भाषा को दूसरे देश वाले बड़े अनुराग से पढ़ते हैं, क्योंकि यह योरोप के शिक्षित समुदाय की भाषा है और मौलिक साहित्य का खज़ाना है।"[1]

रोम की सैर

यात्रा का उद्देश्य—योरोप में इटली अपने ढंग का निराला देश है। इस छोटे से देश में योरोप का सर्वप्रधान और सर्वमान्य नगर रोम स्थित है। 'टाइबर' नदी के किनारे बसा हुआ संसार का यह प्रसिद्ध नगर विश्व की पुरानी सभ्यताओं और संस्कृतियों का केन्द्र रहा है। रोम के सम्राटों ने सुदूर देशों में जाकर अपनी विजय वैजयन्ती फहराई पर किसी के दिन सदा एक से नहीं रहते। कला, साहित्य, सुरा और सुन्दरी की उपासना करता हुआ रोम साम्राज्य फूलों की शैया पर ऐसा सोया कि फिर नहीं उठा। एक दिन महात्मा ईसा के चरणों में झुक गए। रोम के विश्व विजेता सम्राटों का स्थान 'पोप' ने ले लिया। यही रोम इटली की राजधानी है।

ईसाई-धर्म स्वीकार करने से पहले योरोप क्या था ? इसका परिचय आज भी वहां के पुराने भग्नावशेष दे रहे हैं। रोम समस्त योरोप का धार्मिक दृष्टि से प्रकाश-स्तंभ कहा जा सकता है। ईसाई-धर्म के सबसे बड़े तथा महान् आचार्य 'पोप' का विशाल साम्राज्य अभी तक किसी न किसी रूप में यहां अपना अस्तित्व बनाए हुए है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण रोम प्राचीन इतिहास में जिज्ञासुओं का आकर्षण केन्द्र रहा है। परिव्राजक जी ने अपनी इसी जिज्ञासुवृत्ति को लेकर रोम की यात्रा की थी। उन्होंने अपने इस प्रकरण में रोम के गिर्जों तथा प्राचीन मूर्तिकला का वर्णन बड़ी रोचक भाषा में किया है—

उन्होंने वहां क्या देखा—जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं—रोम समस्त योरोप की प्राचीन संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, कला और धार्मिक चिन्तन का प्रमुख केन्द्र रहा है विशेषता के कारण देश-विदेश के पर्यटक बहुत बड़ी संख्या में वहां आते हैं और वहां की कला कृतियों को देखते हैं। यहां सेन्ट पीटर का गिरजा समस्त सम्प्रदायों के ईसाइयों का आकर्षण-केन्द्र है। सबसे पहले परिव्राजक जी 'पीटर' के इसी गिरजा को देखने गए। उन्होंने वहां क्या दखा इसका वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

"बारह बजे के करीब हमारी गाड़ी सेन्ट पीटर के गिरजे के सामने जाकर खड़ी हुई। क्या भव्य दृश्य था ? इतने विशाल और इतने बड़े आकार के गिरजे को देखकर मैं बड़ा विस्मित हुआ। हम लोग पत्थर की बहुत-सी सीढ़ियां चढ़कर दरवाज़े के सामने के बृहत् चबूतरे पर पहुंचे। पीछे घूमकर जो मैंने देखा तो अपने आपको बहुत ऊंचे पर पाया। गिरजे के सामने बड़ा चौड़ा खुलाव है, गिरजे के इर्द-गिर्द बड़े-बड़े खम्बे दिखलाई दिए। गिरजे के बृहत् द्वार के किवाड़ पीतल के हैं, जिन पर बड़ी सुन्दर चित्रकारी की

---

1. मेरी जर्मन-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 169

हुई है।[1]

इसी गिरजे के समीप महात्मा ईसा की एक मूर्ति है। इसे देखकर ईसाई मात्र की आंखों से करुणा की तरंगिणी उमड़ पड़ती है। वड़ी ही हृदय-द्रावक मूर्ति है, जिसका वर्णन परिव्राजक जी ने इन शब्दों में किया है—

"माता मरियम की बैठी हुई आकृति, जो ईसामसीह के मृत देह को अपने घुटनों पर सम्भाले हुए है, वड़ी कुशलता से दिखलाई है। पूरे कद की सफेद संगमरमर की वनी हुई इन मूर्तियों के वनाने में शिल्प-कला-विशारद ने अपने तमाम कौशल को खत्म कर दिया है।"[2] इसी के समीप सेन्ट पीटर की मूर्ति है, जिसका चित्रण करते हुए परिव्राजक जी लिखते हैं—

"सेन्ट पीटर सिंहासननुमा कुर्सी पर बैठे हुए हैं और अपना दाहिना हाथ उठाकर अपने भक्तों को आशीर्वाद दे रहे हैं। वह मूर्ति अत्यन्त प्राचीन मालूम होती है। रोम के नागरिक तथा उसके इर्द-गिर्द के ग्रामों के लोग रविवार तथा अन्य त्यौहारों के दिन इस सन्त की मूर्ति के दर्शन करने के लिए आते हैं। शहर के गरीव लोग तथा अन्य दुःखी जन तीर्थ-यात्रा की तरह इस गिरजे में दूर-दूर से आते हैं और यहां आकर वड़ी श्रद्धा से धूप-दीप जलाते हैं। स्त्रियां और पुरुष वड़ी संख्या में इन अवसरों पर यहां इकट्ठे होते हैं, और वड़ी श्रद्धा से मूर्ति के दाहिने पैर को चूमते हैं। मातायें अपने छोटे-छोटे वच्चों को यहां लाकर सन्त का आशीर्वाद लेती हैं। इन श्रद्धालुओं की संख्या इतनी अधिक आती रही है कि इस ठोस पीतल की मूर्ति का पैर अपने भक्तों के निरन्तर चुम्वन से वहुत घिस गया है।"[3]

लेखक की अन्तिम अभिलाषा – परिव्राजक जी का जहाज भारत की ओर द्रुत गति से चला आ रहा था। जहाज में बैठे हुए सभी यात्री अपनी मातृभूमि के दर्शनों के लिए लालायित हो रहे थे, पर परिव्राजक जी चिन्तित थे। ठण्डी आहें भर रहे थे। वह सोच रहे थे मेरा इतना वड़ा देश जो ऐसे सुन्दर बन्दरगाहों से शोभायमान है, जो वीर पुरुषों की जन्मभूमि है, यह सब होते हुए भी वह परतंत्र है। भारत में जाते ही वही हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े, दरिद्रता का ताण्डव देखने को मिलेगा। उस समय वह ईश्वर से क्या प्रार्थना कर रहे थे, उसे उन्हीं के शब्दों में सुनिए—

"परमात्मन्, परमात्मन्! क्या हमारे पापों का प्रायश्चित्त अभी तक नहीं हुआ? क्या यह नीच दासता नहीं छूटेगी? क्या हम कभी स्वाधीन देशों के बच्चों की तरह न होंगे? नाथ, यह गुलामी का दु.ख अब असह्य है, अव यह हमसे सहा नहीं जाता। हे पतित पावन! हे दुःख निवारण! अति शीघ्र इस दुःखी देश को स्वतन्त्र कीजिए।"[2]

---

1. मेरी जर्मन-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ०-187
2. वही, पृ०-188
3. वही, पृ०-189
4. वही, पृ०-224

वर्णन शैली—परिव्राजक जी की शैली पर विहंगम दृष्टि डालने से पूर्व 'मेरी जर्मन-यात्रा, की यह आरम्भिक पंक्तियां उनके समीक्षक के लिए विचारणीय आवश्यक हो जाती हैं, जिनमें वह अपने लेखनजीवी साहित्यकार होने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

"मेरे अनुभव ने मुझे यह बतलाया है कि साहित्य-सेवा का काम सबसे अच्छा और स्थायी होता है। जो काम मेरी पुस्तकों ने किया है वह मेरे व्याख्यानों द्वारा नहीं हुआ। यही देखकर मैंने शान्ति से बैठकर साहित्य-रचना करने का निश्चय कर लिया है।"[1]

उपर्युक्त अवतरण से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि परिव्राजक जी ने अपने जीवन-काल में ही अपनी साहित्य-सेवा का फल प्राप्त कर लिया था। वास्तव में वह साहित्यकार बड़ा भाग्यशाली है जिसकी पुस्तकें जन-जन के पठन-पाठन की वस्तु बन जाती हैं। इस सबका श्रेय परिव्राजक जी की भाषा-शैली को ही देना पड़ेगा।

सर्वसाधारण में प्रचार पाने योग्य साहित्य की रचना ऐसी सरल और सुबोध भाषा में की जाती है जिसे मस्तिष्क पर किसी प्रकार का बोझ डाले बिना साधारण योग्यता के पाठक हृदयगम कर सकें।

एक गुरु या शिक्षक के समान वह अपने पाठकों को साधारण से साधारण बात भी बड़ी सुबोध और सरल शैली में समझाते हैं। उन्होंने अपनी विदेश यात्राओं का जो वर्णन किया है, उसके सम्बन्ध में पहले ही यह सोच लिया था कि जिन लोगों के सामने मैं अपनी विदेश यात्राओं का वर्णन कर रहा हूं, ज्ञान के क्षेत्र में वह बहुत पिछड़े हुए हैं। इसीलिए विदेशों की चर्चा करते हुए वह अपने देश को नहीं भूल पाते। जब उन्हें वहां की नदियों और पहाड़ों के विषय में कुछ कहना होता है तब वह उनके महत्त्व को समझाने के लिए उनकी तुलना अपने देश की नदियों और पहाड़ों से करते हैं—

"भारतवर्ष के लोग अपनी प्यारी गंगा महारानी को 'मात गंगे'[2] कहकर सम्बोधन करते हैं। वे कहीं भी चले जायें लेकिन अपने प्यारे देश की इस पुनीत नदी को कभी नहीं भूलते। ठीक यही दशा जर्मनों की राइन नदी के सम्बन्ध में है। वे राइन नदी को 'फादर राइन' कहकर पुकारते हैं और उसके प्रति उनका ऐसा ही प्रेम है जैसा कि हिन्दुओं का श्री गंगाजी के प्रति। भारतवासियों का तो यह सौभाग्य है कि उनकी मोक्षदायिनी जाह्नवी का बालकपन, यौवन और बुढ़ापा उन्हीं के देश में पूरा होता है और वे उसकी जीवन-यात्रा का पूरा आनन्द लाभ करते हैं, परन्तु जर्मनी की प्यारी राइन नदी स्विटजरलैण्ड से निकलती है, जर्मनी में बहती है, और अन्त में हालैण्ड से होती हुई समुद्र में जाकर मिल जाती है।"

उनकी सरल और सुबोध शैली का यह अर्थ नहीं है कि वह साहित्यिक सौन्दर्य से

---

1. मेरी जर्मन यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ०-1
2. वही, पृ०-56

सर्वथा शून्य है व उसे अलंकारों से सजाया नहीं गया अथवा उसमें भाषा का चटकीलापन नहीं है। सीधी, सरल और सुबोध भाषा होते हुए भी वह अलंकारिक सौन्दर्य से विभूषित होकर पाठकों के हृदय को मन्त्रमुग्ध कर देती है। राइन की तुलना गंगा से करके उपमा अलंकार के सौन्दर्य की छटा तो आपने देख ली। अब ज़रा मानवीकरण का सौन्दर्य देखिए—यहां लेखक की शैली भावात्मक हो उठी है—"आइए, पाठक, अब हम आपको राइन नदी के यौवनावस्था की कथा सुनावें। जर्मनी में प्रवेश करते समय इसका पाट पांच सौ पचास फीट से लेकर छः सौ दस फीट तक हो जाता है। समुद्र की सतह से अब इसकी ऊंचाई आठ सौ फीट रह जाती है। इसकी चंचलता की लीला देखिए, इसने अब तक छः हज़ार नौ सौ फीट की ऊंचाई से छलांगें मार ली, कूदने-फांदने का इसका सारा चाव पूरा हो गया, अपनी जन्मभूमि की चुलबुली आदतें छोड़कर अब यह गम्भीर स्वभाव वाले जर्मनों के देश में आकर गम्भीर रूप धारण करती है।"[1]

इस प्रकार अपनी रोचक, सरल, सुबोध, अलंकृत तथा भावभीनी शैली के कारण सर्वसाधारण ही में नहीं, प्रत्युत् पठित समाज में भी अपनी लोकप्रियता बराबर बनाये रहते हैं। पठित समाज ने ज्ञानार्जन की दृष्टि से उनके यात्रा-वर्णनों का स्वागत किया और सर्वसाधारण ने रोचक तथा भावप्रवणता के कारण उसे मनोयोगपूर्वक सुना। यही उनकी शैली की विशेषता है जो उनकी 'मेरी जर्मन-यात्रा' में पूर्णरूप से विकसित हुई है।

योरोप की सुखद स्मृतियां

यात्रा का उद्देश्य—प्रथम विश्व-युद्ध 1914 ई० से आरम्भ होकर 1918 ई० तक चलता रहा है। इस महायुद्ध से पूर्व विश्व में अनेक युद्ध हुए परन्तु इस युद्ध से अधिक भयंकर और व्यापक युद्ध संसार के इतिहास में इससे पूर्व कोई दूसरा नहीं हुआ था। इस युद्ध में जितने लोग सम्मिलित हुए इससे पूर्व के युद्धों में इतने लोगों ने भाग नहीं लिया। युद्ध योरोप और एशिया महाद्वीप में हुआ था। इस युद्ध में तीस राज्यों ने भाग लिया था। इसमें लगभग साढ़े छह करोड़ व्यक्तियों ने प्रत्यक्ष रूप से भाग लिया था। जिसमें 85 लाख व्यक्ति मारे गए थे। तीन करोड़ के लगभग व्यक्ति घायल तथा बन्दी हुए। सैनिकों के अतिरिक्त बहुत से नागरिक भी युद्ध में काम आए। इसके अतिरिक्त युद्ध की समाप्ति के उपरान्त समस्त योरोप तथा एशिया के उन देशों में जिनके सैनिकों ने इस युद्ध में भाग लिया था, महामारी फैल गई। एक बहुत बड़ी संख्या में लोगों को मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा।

इस महायुद्ध में अतुल धन व्यय हुआ था। जिसके कारण योरोप के समस्त राष्ट्रों को आर्थिक संकट का विशेष रूप से सामना करना पड़ा। इस युद्ध में व्यय होने वाली राशि 10 खरब रुपए थी।

दुर्भाग्य से इस विश्व-युद्ध में जर्मनी को पराजित होना पड़ा और युद्ध का

1. मेरी जर्मन-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 59-60

सारा हरज़ाना उसी को अदा करने के लिए बाध्य होना पड़ा। विजेता राष्ट्रों के एक संगठन को इतिहास में जिसका उल्लेख 'लीग आफ नेशंस' नाम से मिलता है, 'जर्मनी को यह हरजाना किश्तों के रूप में अदा करना पड़ा, लेकिन जर्मनी ने एक दिन करवट ली और वह महान् विजेता हिटलर के नेतृत्व में फिर संगठित हो गया और एक दिन उसने हरजाने की इस राशि को अदा करने से बिलकुल इन्कार कर दिया।

परिव्राजक जी इससे पूर्व आंखों का इलाज कराने के लिए जर्मनी तथा योरोप के अन्य राष्ट्रों का भ्रमण करके लौट चुके थे। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार को यह भली-भांति विदित था। उसे यह भी सन्देह होने लगा था कि परिव्राजक जी हिटलर तथा उसकी 'नाजी पार्टी' से सम्बन्ध बनाए हुए हैं। पर इसका कोई प्रमाण उसके पास नहीं था।

सन् 1924 ई० में वह अपनी प्रथम जर्मन-यात्रा समाप्त करके भारत लौटे थे, पर अब योरोप-यात्रा के लिए सरकार से पासपोर्ट मांगना शासकों की दृष्टि में किसी षड्यन्त्र की भूमिका जान पड़ने लगी, यही कारण था कि परिव्राजक जी को पासपोर्ट के लिए बड़ी परेशानियां उठानी पड़ीं।

यह वह युग था जब जर्मनी अपने भाग्यविधाता हिटलर के नेतृत्व में 'वारसोई' की अपमानजनक सन्धि का प्रतिशोध लेने के लिए कटिबद्ध हो रहा था। सारा संसार द्वितीय विश्व-युद्ध की आशंका से पदाक्रान्त था। तत्कालीन अंग्रेज शासकों को, जी भी कारण इस यात्रा के सम्बन्ध में उन्होंने नापा हो, पर वास्तव में उनकी इच्छा जर्मन राष्ट्र की उस बढ़ती हुई शक्ति को अपनी आंखों से जाकर देखने की थी, जिसने संपूर्ण योरोप को दूसरे विश्व-युद्ध की आशंका से भयभीत कर रखा था।

12 अक्टूबर, सन् 1927 को हमारा सैलानी संन्यासी योरोप-यात्रा के लिए चल पड़ा।

यात्रा का आरम्भ--परिव्राजक जी अपनी इस सुखद यात्रा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"जिस स्टीमर पर मैं सवार हुआ, वह वही था जो सन् 1924 में मुझे भारत वापस लाया था। 12 अक्टूबर, सन् 1927 को मैं इसी 'अक्वीलेया-स्टीमर' पर, बम्बई से लन्दन आने-जाने का किराया छियासी (86) पाउंड (वापसी टिकट) देकर लन्दन के लिए रवाना हुआ। एक पारसी मित्र का मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूं, जिन्होंने मेरी सब आवश्यकताओं की देख-रेख कर बड़े सुचारु रूप से मुझे जहाज पर चढ़ा दिया।"[1]

भारतीय विद्यार्थियों के सम्बन्ध में उनका अनुभव—इस यात्रा में भारतीय विद्यार्थियों के सम्बन्ध में परिव्राजक जी के कुछ कड़वे अनुभव हुए जिसका आरोप उनके माता-पिता पर लगाकर वह अपने रोष इन शब्दों में प्रकट करते हुए कहते हैं—

"इस स्टीमर पर पहले और दूसरे दर्जे में काफी हिन्दुस्तानी मुसाफिर थे। अधिक

---

1. योरुप की सुखद स्मृतियां—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 27

संख्या विद्यार्थियों की ही थी, जो विद्याध्ययन के लिए योरोप जा रहे थे। मुझे यह देखकर बड़ा रंज हुआ कि जो लड़के इंग्लैण्ड पढ़ने के लिए जाते हैं: उन्हें अपने धर्म, साहित्य और अपने देश की संस्कृति का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। अमीर हिन्दुस्तानी मां-बाप, हज़ारों रुपये इन लड़कों की पढ़ाई में फूंक देते हैं। अधिकांश ये लड़के विलायत में जाकर सीखते क्या हैं ? विलायत में रहने वालों की बुराइयां, उनका भ्रष्टाचार, शराब, पीना, अंग्रेजी भाषा में गन्दी गालियां बकना, लड़कियों के पीछे भागना और मां-बाप का पैसा पानी की तरह खर्च करना। यदि कोई देश-हितैषी उनको समझाये तो काट खाने को दौड़ते हैं और कहते हैं—"जनाब यह आजादी का जमाना है।"[1]

सोई हुई कवित्व शक्ति जाग उठी—बम्बई से जहाज चला। अरब का सागर अक्टूबर के महीने में शान्त रहता है।

आकाश में मेरी पहली उड़ान—विमान-यात्रा या आकाश में मेरी पहली उड़ान का वर्णन उन्होंने बड़ी रोचक भाषा में किया है। इसमें उनकी शैली भावात्मक हो गई है। विमान में बैठकर आकाश की उड़ान लेने से पहले लेखक कल्पना के पंख लगाकर स्वप्न-लोक की ओर उड़ाने लेने लगता है। वह आवश्यकता से अधिक भावुक हो जाता है और भावभीनी भाषा में अपनी कल्पना-लोक-यात्रा का वर्णन करते हुए पाठकों से कहता है—

"सन् 1922 में मुझे फिर एयरोप्लेन के स्वप्न आने लगे जो दो-तीन माह बाद बन्द हो गए। जब मैं योरोप से लौटकर सन् 1924 में भारत आया तब मुझे रात को भव्य-भवनों के ऊपर आकाश में विचरने के स्वप्न आने लगे। एक बार की बात मुझे खूब याद है—तब जो प्रेमी मुझे स्टेशन पर छोड़ने आए थे उनसे पता लगा कि स्वामी श्रद्धानन्द जी तथा पंडित मदनमोहन मालवीय जी भी उसी गाड़ी से लखनऊ, उसी अभिप्राय हेतु जा रहे हैं और वे भी उसी डिब्बे में बैठेंगे। मैं प्रसन्न हो गया, माननीय साथी मिल गए। स्वामी श्रद्धानन्द जी थोड़ी देर बाद ही आ गए और हम लोगों में बातचीत होने लगी। मालवीय जी प्रायः गाड़ी छूटने के समय ही स्टेशन पर पहुंचा करते हैं, पर उस रोज़ न जाने कैसे कुछ मिनट पहले आ गए और लगे इधर-उधर फर्स्ट-क्लास (पहले दर्जे) में जगह तलाश करने। स्वामी श्रद्धानन्द जी गाड़ी से उतरकर उनके पास गए और फिर लौटकर मुस्कराते हुए मुझसे बोले—"आपके कारण मालवीय जी इस डिब्बे में नहीं आना चाहते। कृपया आप उन्हें ले आइए।" "मैं उनसे कोई विवाद नहीं करूंगा।" मैंने हंसकर कहा। स्वामी जी उन्हें ले आए। उस रात एयरोप्लेन में उड़ने का मैंने बड़ा भयंकर स्वप्न देखा। सब सोए हुए थे। रात को दो बजे होंगे। एक्सप्रेस तेजी से जा रहा था। स्वप्न में मैं एयरोप्लेन द्वारा आकाश में उड़ा। दूर कहीं पहाड़ियों में चला गया। वहां से नीचे उतरना शुरू हुआ। उतरते-उतरते एयरोप्लेन एक बड़े दलदल में जा फंसा और नीचे-नीचे धंसने लगा। मैं ज़ोर से चिल्ला उठा। स्वामी श्रद्धानन्द जी जाग पड़े। उठकर

1. योरुप की सुखद स्मृतियां—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 27-28

फौरन मेरे पास आए और स्नेहपूर्वक वोले—"आपके हाथ छाती पर पड़े हुए थे, इसलिए ऐसा हुआ।"[1] मैंने धीरे से उत्तर दिया—"स्वामी जी, मेरा एयरोप्लेन दलदल में जा धंसा था। मैं उसमें गड़ा जा रहा था, इसीलिए डरकर चिल्लाया था। स्वामी जी हंसने लगे और फिर अपने विस्तरे पर जाकर लेट गए।"

परिव्राजक जी ने अपनी इन कल्पना की उड़ानों का बड़ी भावात्मक शैली में वर्णन किया है। विमान-यात्रा करने से पहले उनके अन्तर्मन में जो तरह-तरह के विचार उत्पन्न हो रहे थे, उनकी एक झलक देखिए—

"मुझे रामायण में लिखी नभ में विचरने वाले देवताओं की कथाएं याद आ गईं और सोचने लगा···धन्य हैं वे सत्ययुगी लोग, जो आकाश में पक्षियों की भांति विचरते थे। क्या वह जमाना फिर आ सकता है?" क्या कभी स्वप्न में भी यह वात आ सकती थी कि अपनी उनचास वर्ष की अवस्था में मैं भी विमान द्वारा योरोप की सैर करूंगा और उन्हीं सत्ययुगी लोगों की तरह आकाश में निश्चिंत बैठा हुआ नीचे मर्त्यलोक के जन्तुओं पर दृष्टि डालूंगा। जंगल, पहाड़ और नगर मेरे नीचे गुज़रते चले जाएंगे। प्रभु तेरी अद्भुत लीला है।"[2]

इसके बाद परिव्राजक जी स्वप्न-लोक से उतरकर वास्तविकता की दुनिया में आते हैं और अपनी विमान-यात्रा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"पहली यात्रा में तो मैं घण्टा भर अपनी कुर्सी पर जमा बैठा रहा था, लेकिन इस यात्रा में मैं विमान में कई बार उठ चला। कुछ डर की वात नहीं, जैसे रेल में बैठे हों। मैंने दिल में कहा—'यह है ठीक आकाश-यात्रा। न गर्द न गोवर न कोयले की मार, न रेल के पहिए की धकापेल और न मुसाफिरों की रेल-पेल। आनन्द से नीरोग भवन में जा रहे थे और हंसायान एक बड़े भारी गिद्ध की तरह आकाश में मंडराता हुआ जाता था। योरोप के लोग वायुयान बना आकाश जीतने की तैयारियां कर रहे हैं और हम हिन्दू मुसलमान मामूली-मामूली बातों पर सिर फुटौवल करते हैं। सभ्य संसार नए-नए सुन्दर विमान बना रहा है। कितना विशाल धन-धान्य पूरित हमारा देश है। जर्मन और फ्रांस उसके आगे कुछ भी नहीं हैं। हम यदि स्वतन्त्र हों तो संसार में सबसे अधिक धाक हमारी हो। जिनका अतीत गौरवपूर्ण है, जिनका साहित्य सौन्दर्य का सुरभि स्रोत है, जिनकी वसुन्धरा ऐसी रत्नमयी है और फिर जो एशिया और योरोप का मुख्य द्वार है। ओहो! कितना प्रचण्ड प्रभाव हमारा दुनिया पर पड़ सकता है।"[3] इसलिए यात्रियों को 'अदन' के बन्दरगाह तक पहुंचने में कोई कष्ट नहीं होता। परन्तु लाल सागर में प्रवेश करते ही भयंकर गर्मी सताने लगती है। यह सागर सदा ही यात्रियों को दुःख देता है। इसका कारण इसकी भौगोलिक स्थिति है। भयानक गर्मी न सहन कर सकने के कारण

---

1. योरुप की सुखद स्मृतियां—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 91-93
2. वही, पृ० 88
3. वही, पृ० 107-8

हमारे सैलानी संन्यासी को इस यात्रा में जो कष्ट हुआ उसने उसकी सोई हुई कवित्त्व शक्ति को जगा दिया। अब क्या था, उसने लेखनी पकड़ ली और छः मत्तगयंद सवैये लिख डाले। एक सवैया देखिये—

'स्टीमर भारत से जब लेकर,
माल मुसाफिर योरुप जाता,
है करता अपना मुँह पश्चिम,
एडन छह दिन में पहुंचाता।
बन्दरगाह यही पहला दर,
रक्त समुद्र प्रवेश कराता,
नाविक जा कहते सबको यह,
सागर लाल भयानक आता।[1]

कुछ मनोरंजक प्रसंग—योरोप में हर चीज़ बिकती है। वहां के लोग मुफ़्त सौदा नहीं खरीदते। भाषणों का सौदा भी किया जाता है। अच्छी कीमत देकर वहां का जिज्ञासु सभ्य समाज उन्हें खरीदता है। परिव्राजक जी इस कला के जादूगर थे। भारत में उनके भाषणों की धूम थी। बड़ी-बड़ी सभाओं में लम्बे-चौड़े भाषण देकर वह अपनी इस कला को परिमार्जित कर चुके थे। इसलिए योरोप यात्रा में उन्हें किसी प्रकार अर्थ कष्ट नहीं हुआ। उनके भाषण अंग्रेजी में होते थे। योरोप जैसे भू--भागों में जहां अंग्रेजी समझने वाले लोग बहुत कम मिलते हैं वहां भी उन्हें उनके विचारों को सुननेवाले कदरदान बहुत बड़ी संख्या में मिल जाते थे। परिव्राजक जी कहते हैं—"इन व्याख्यानों के कारण मेरी यहां के प्रोफेसरों से वाकफ़ियत हो गई। वी० एन० विश्वविद्यालय के दर्शन-शास्त्र के अध्यापक ने मुझे एक बार चाय पर बुलाया—यहां एक सज्जन कहने लगे—

"मैं आपको अमरीकनों की ज़हालत का लतीफ़ा सुनाऊं। वियना की एक चित्र-शाला में एक दीवार पर सोलहवीं सदी के मशहूर चित्रकारों के नाम जर्मन भाषा में लिखे हुए थे। दो अमरीकन सैलानी चित्रशाला देखने आए। इधर-उधर घूमकर वे उस दीवार के पास खड़े होकर उन नामों को पढ़ने लगे। एक बोला, "What is it about"—यह क्या लिखा है ?"

दूसरा संजीदगी से बोला—"Some guy advertising his goods. किसी चालाक इश्तहारबाज़ की कारस्तानी है, अपना माल बेचता है," हंसते-हंसते हम सब लोट-पोट हो गए।

जब सब कोई हंस चुके तो उस सज्जन ने मुस्कराकर कहा—"मैंने अभी खत्म नहीं किया। आप लोग सुनिए—उन दोनों सैलानी अमरीकनों के चले जाने के आध घण्टा बाद एक अमरीकन युवती चित्रशाला में आई। घूम-फिरकर वह शाला के अध्यक्ष

1. योरुप की सुखद स्मृतियां—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 29
2. वही, पृ० 70-71

के पास जाकर कहने लगी—'मुझे उन चित्रकारों से मिलना है, जिनके नाम उस दीवार पर लिखे हुए हैं। मैं उनसे चित्रकला सीखना चाहती हूं।" अध्यक्ष अपनी हंसी छिपाकर बोले—"मैं आपको उनसे नहीं मिला सकता।"

युवती ने ज़रा जोर देकर कहा—"मैं उनको पूरी फीस दूंगी। मैं रुपया खर्च कर सकती हूं।"

अध्यक्ष ने धीरे से जवाब दिया—"दुःख है, वे आपसे भेंट नहीं करेंगे।" अमरीकन जवान स्त्री खीज उठी। चिल्लाकर बोली—"क्यों नहीं ?"

अब अध्यक्ष अपनी हंसी न रोक सके। वे हंसते हुए बोले—"आपका क्रोध व्यर्थ है। उन चित्रकारों को मरे हुए तीन सौ बरस हो गए। अब वे नहीं आ सकते।" "युवती अपनी नावाकफ़ियत पर बड़ी लज्जित हुई और चुपचाप बाहर चली गई।"

हिटलर और उसका युग

लेखक की यह यात्रा बड़ी सुखद रही। उसके व्याख्यानों की धूम समस्त योरुप में मच चुकी थी। अपने व्याख्यानों से उसे बड़ी धन-राशि प्राप्त होती रहती थी। उसका यह समय योरोप के होटलों में सुख पूर्वक बीता।

उनकी इस यात्रा का ऐतिहासिक महत्त्व भी है। वह है हिटलर कालीन योरोप जिसको लेखक ने अपनी आंखों से देखा था। हिटलर उसके अनुयायी 'नाजियों' से उनके व्यक्तिगत सम्पर्क में आने के कारण अत्यन्त प्रभावित था। यहूदियों के प्रति उसके हृदय में जो रोष था उसका कारण नाजियों का सम्पर्क ही था। यद्यपि यह यात्रा-वर्णन अंग्रेजों के शासन काल में प्रकाशित हुआ था, इस पर भी इस यात्रा वर्णन में हिटलर तथा उसके साथी नाजियों का वर्णन करते समय लेखक ने इस बात की चिन्ता नहीं की कि हिटलर के शत्रु अंग्रेजों के एक उपनिवेश में रहनेवाला मैं यहां क्या लिख रहा हूं ? अपनी इस पुस्तक 'हर हिटलर की भूमि में' के प्रकरण में वह लिखता है—

"दो जर्मन लड़के मेरे पास अंग्रेजी सीखने के लिए आने लगे। वे हिटलर की बाल सेना के सिपाही थे। इनसे जर्मनी की वर्तमान परिस्थिति की कई एक बातें मालूम हुईं। किस प्रकार हिटलर जर्मनी के प्रत्येक नर-नारी को संगठित कर रहा है।"[1]

आगे चलकर वह इसी प्रकरण में हिटलर के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"सचमुच सरदार हिटलर को आज जर्मनी में बड़ा ही शानदार, अत्यन्त दायित्व-पूर्ण और महान् अलौकिक पद प्राप्त हुआ है। ऐसा पहले किसी जर्मन बादशाह को भी न प्राप्त हुआ होगा। उसकी पूजा नवयुवक ईसा की मानिंद करते हैं। उसका वचन ब्रह्मवाक्य माना जाता है। हिटलर ऐसा कहता है, बस वह इसीलिए मान्य है। सत्य है, यों तो खुदाबन्द करीम के जमाने में भी उनका दुश्मन शैतान मौजूद था, ऐसे ही हिटलर

---

1. योरुप की सुखद स्मृतियां—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 295

के बैरी हैं, पर वे कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि जनता हिटलर पर आशिक है।"[1]

योरोप की सुखद स्मृतियों में लेखक ने वहां के होटलों की रंगीन रातों का वर्णन करने के अतिरिक्त अपनी इस पुस्तक के सबसे अधिक पृष्ठों में हिटलर और उसके युग का ही अधिक वर्णन किया है। उसकी यह पुस्तक हिटलर-कालीन जर्मनी के इतिहास का अध्ययन करने में शोधार्थियों का मार्ग-दर्शन करेगी। हिटलर युगीन जर्मनी का वर्णन करते समय लेखक की भाषा में एक चुलबुलापन आ जाता है। उसके एक-एक शब्द में उसका हृदय बोल उठता है। यहां इसका एक चित्र दिया जाता है। देखिए, इसके चित्रण में लेखक ने अपनी लेखनी को तूलिका से कितने सुन्दर रंग भरे हैं। इसे हम उसकी अलंकृत शैली का सर्वोत्तम उदाहरण कह सकते हैं—

"जर्मनी बदल गया है और बहुत बदल गया है। वह बुरे के लिए बदल रहा है या भले के लिए, यह बात तो भविष्य ही बतलाएगा? वह सन् 1928-29-30 का जर्मनी अब नहीं है, जिसे मैं देख गया था—वह जर्मनी जो प्रकृति के सौन्दर्य के गीत गाता था, जो जंगलों और पहाड़ों में मस्ती के राग अलापता था, वह जर्मनी जहां सांस्कृतिक व्याख्यानों की भरमार थी, जहां किसी प्रकार का जातीय विद्वेष नहीं था, जहां विदेशी विहार किया करते थे, वह रसिकों का प्यारा, संस्कृति-प्रेमियों का दुलारा, विदेशी घुमक्कड़ों का अखाड़ा, नंगे नर-नारियों का सितारा, यहूदियों की स्वर्ग धारा, वह फ्रांसीसियों की कामधेनु जर्मनी अब वह जर्मनी नहीं रहा। वह सचमुच बदल गया है।"[2]

सन् 1937 का वह युग जिसमें हिन्दी-साहित्य में छायावाद की तूती बोल रही थी, तब जर्मनी में एक साहित्यिक क्रान्ति का सूत्रपात हो रहा था। लेखक इसकी चर्चा करते हुए हिन्दी के तत्कालीन छायावादी कवियों का पीठा प्रहार करने से नहीं चूकता वह अपने इस यात्रा वर्णन में स्पष्ट लिखता है—

"जहां हमारा भारतवर्ष छायावाद के नशे में चूर है, जहां हिन्दी साहित्य के बड़े-बड़े कवि संध्या-सुन्दरियों, अप्सराओं, रश्मियों के गीत गाते हैं, जहां हम आत्मा-परमात्मा के रहस्यवाद में डूबे हुए हैं, जहां सैकड़ों वर्षों की जूतियां खाकर भी हिन्दी-साहित्य वाले अभी तक अपने स्वत्त्वाभिमान की कविता नहीं करने लगे, जहां केवल पन्द्रह वर्षों की बेइज्जती सहकर जर्मनी फिर युद्ध के गीत गाने लगा है।"[3]

वर्णनी शैली

योरोप की सुखद् स्मृतियों का वर्णन करते हुए कहीं-कहीं लेखक अधिक भावुक हो जाता है। उस समय वह एक पर्यटक न रहकर केवल एक साहित्यकार, शुद्ध

1. योरुप की सुखद स्मृतियां—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 303
2. वही, पृ० 305
3. वही, पृ० 306

साहित्यकार ही रह जाता है। जर्मनी के महा कवि 'गेटे' का जन्म स्थान देखने के लिए वह जाता है और उसे देखकर वह भाव-विभोर हो जाता है और अपनी मस्ती में पाठकों से कहता है—

"उन्हीं (गेटे) का जन्म स्थान मुझे देखना था। उनका जन्म-गृह चौमंजिला मकान है : इसमें आजकल गेटे महोदय की सब चीजों का म्यूज़ियम है जहां बैठकर वे पढ़ा करते थे, जहां उनकी माताजी भोजन बनाती थीं, उनके शतरंज खेलने की मेज, उनकी सब पुस्तकें, हस्तलिखित-पत्र और तैल-चित्र, उनकी धर्म-पत्नी, माता तथा पिता की मूर्तियां सब सामान यात्रियों को दिखलाया जाता है। मैंने भी सब देखा-दिखाया और सोचता था। मैं कहता था।"[1]

"सब चीज़ें नाशवान् हैं, पर विचार स्थायी वस्तु है। उसी विचार पर सारा संसार खड़ा है। जातियां आयीं, चली जाएंगी, साम्राज्यों का उत्थान और पतन होगा विजयी विजय पताका उड़ाएंगे धराशायी होंगे, पर साहित्य एक ऐसी अमोघ वस्तु है, विचार एक ऐसी अमर शक्ति है, जो सदा जीवित रहती है। इमारतों के भी खण्डहर हो जाते हैं और उनको दुनिया भूल जाती है, पर मानव जाति को श्रेष्ठ बनाने वाला विचार उसे स्फूर्ति देने वाली कविता, उसे आदर्श-पथ दिखलाने वाली कथाएं और उसे शक्ति प्रदान करने वाले सूत्र सदा जीवित रहते हैं। उनके साथ कोई द्वेष नहीं करता। वे एक जाति के मनुष्य की चीज़ें सारे संसार की जायदाद बन जाती हैं और सारा संसार मिलकर उनकी पूजा करता है। कभी-कभी आंधी, भूचाल और क्रान्तियों में पुस्तकालय जल भी जाते हैं, मगर शब्द आकाश में अमर रहता है। वह अविनाशी है।"[2]

इस प्रकार जहां लेखक का साहित्यकार स्वयं साहित्य की व्याख्या करने लगता है, वहां उसकी भाषा अलंकृत शैली का सर्वोत्तम उदाहरण बन जाती है। छोटे-छोटे वाक्यों की लड़ियां गूथकर वह अपने भावों की एक-एक कड़ी को जोड़ता हुआ उन्हें शृंखला का रूप दे देता है। इसे हम उसकी शैली का सर्वोत्तम उदाहरण कहेंगे।

विदेशों का यह पर्यटक पुरानी गली सड़ी रूढ़ियों के प्रति जब विद्रोही हो जाता है तब उसमें आर्यसमाज की खण्डन-मंडनात्मक प्रवृति भी जागृत हो उठती है। उस समय उसकी भाषा उग्र रूप धारण कर लेती है। ठीक वही रूप जो आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के सत्याथ प्रकाश की भाषा में मिलता है।

"एक लेखक ने ब्रह्म-वैवर्त पुराण की गन्दगी हिन्दू-जनता को बतलाई। सदियों से हिन्दू ऐसी भ्रष्ट बातों को कैसे मान रहे हैं? केवल प्रमाणवाद के मायाजाल के कारण ही तो। एक ओर सतीत्व धर्म की डींग और दूसरी ओर परकीया राधा और भगवान् व्यभिचारी। ऐसी कितनी अश्लील और दुराचार की बातें पुराणों तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों में भरी हुई हैं, तभी तो हिन्दुओं का बेड़ा डूबा है, तभी तो मन्दिरों और तीर्थों

---

1. योरुप की सुखद स्मृतियां—स्वामी सत्वदेव परिव्राजक, पृ० 109
2. वही, पृ० 110

पर ऐसा व्यभिचार और अनाचार है। धर्म में बुद्धि को स्थान न देने से ही तो ऐसी बातें संभव हुई हैं, यह प्रमाणवाद का भूत ही सारे पापों का मूल है, क्योंकि यह ऋषि-प्रणीत ग्रन्थ है, क्योंकि यह बात मनु जी ने लिखी है, क्योंकि यह गीता का वचन है, क्योंकि यह कुरान की आयत है या वेद का वाक्य है, इसीलिए यह प्रमाण है। ऐसी ही मानसिक दासता ने स्वर्गरूपी संसार को नरक तुल्य बना रखा है। कैसे सुन्दर घरों का निर्माण लोग करने लगे हैं, सभ्यता के प्रत्येक विभाग में मनुष्य कितना आगे बढ़ रहा है ? पर यह पिशाच प्रमाणवाद उसे मजहबी ढकोसलों में किस बेरहमी से जकड़े हुए है ? यदि धर्म में भी मनुष्य विवेकिनी बुद्धि को काम में लाता, तो हृदय और मस्तिष्क का कैसा अनुपम विकास हो जाता।"[1]

इस प्रकार की रूढ़ियों का खण्डन लेखक ने नाटकीय शैली में भी किया है। परिव्राजक जी की इस शैली का उदाहरण देखिए—

"अभी हाल की बात है—एक जर्मन युवा लड़की मुझसे मिलने लिए आई। उसने कहीं से सुन लिया कि ये महाशय हिन्दुस्तानी हैं। वह रोमन कैथोलिक थी। आयु होगी 19-20 वर्ष की। मेरे कमरे में आकर बैठ गई और बड़े मधुर स्वर में कहने लगी—

"आप इंडिया के रहने वाले हैं ?"

मैंने धीरे से उत्तर दिया—"हां, देवी !"

बड़ी प्रसन्न होकर उसने कहा—"बहुत अच्छा। आप कृपा कर मेरा भविष्य बतलाइए। हिन्दुस्तानी लोग तो दूसरों का भविष्य बतलाने में बड़े प्रवीण होते हैं।"

यह कहकर उसने अपना गोरा छोटा-सा दाहिना हाथ मेरी ओर बढ़ाया। मैं उसके मुख की ओर देखने लगा। फिर मैं खिड़की की ओर देखने लगा। दो-तीन मिनट तक बोला नहीं।

मैंने सोचा—"हिन्दुस्तानी दूसरों का ही भविष्य देखना जानते हैं, अपना नहीं। यदि अपना भविष्य देख सकते तो तुर्कों और अंग्रेजों के गुलाम क्यों बनते ?"[1]

शैली की दृष्टि से यह लेखक की बड़ी सशक्त रचना है। इसके लिखते समय लेखक की लेखनी खूब मंज चुकी थी। भाषा में प्रवाह और प्रभाव दोनों ही अपना स्थान बना चुके थे। मुहावरों, लोकोक्तियों के प्रयोग ने उसकी भाषा में एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया है। इसका भी एक उदाहरण देखिए—

"जाड़े में गजब का शीत पड़ा और गर्मियों में ऐसी गर्मी—शिव ! शिव ! पत्थर भी पिघलने पर तुल गए। जब योरोप में 15-20 दिन की गर्मी ने ऐसी हाय-तोबा करा दी तब भारतवर्ष बेचारा तो झुलस ही गया होगा। पिछले साल साधारण गर्मी चार-

---

1. योरुप की सुखद स्मृतियां—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 322-23
2. वही, पृ० 327-28

पांच दिन पड़ी थी लेकिन इस वर्ष असह्य ताप के मारे लोग घबरा गए। दिन में कमरे में बैठना और रात को सोना कठिन हो गया।[1]

यात्री-मित्र

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण दिसम्बर सन् 1936 में प्रकाशित हुआ था। इसमें कुल मिलाकर 102 पृष्ठ हैं। पुस्तक का अंग्रेजी नाम (Travellers' True Friend) भी मुख-पृष्ठ पर मोटे-मोटे अक्षरों में छपा है। पुस्तक में क्या है, उसके लिखने का उद्देश्य क्या है इसे आवरण-पृष्ठ पर छाप दिया गया है। जिसे पुस्तक का विज्ञापन भी कहा जा सकता है जो इस प्रकार है—

"यदि आपने अपको यात्रा को सार्थक करना है, यदि उसका सच्चा आनन्द लेना है और यदि आपकी इच्छा है कि आपकी तीर्थ-यात्रा पुण्य-संचयिनी हो, यदि आप अमरीका और योरोप-यात्रा की कठिनाइयों को जीतना चाहते हैं और यदि सचमुच आप अपनी नित्य की यात्रा को अत्यन्त सुखद् बनाने के इच्छुक हैं तो मेरी इस पुस्तक को अपना साथी बनाइए। यात्रा में ऐसा सच्चा दूसरा मित्र नहीं मिलेगा।"[2]

आवरण-पृष्ठ खोलते ही परिचय पृष्ठ पर अंग्रेजी में लिखी हुई परिव्राजक जी की यह पंक्तियां सामने आ जाती हैं, जिनमें कहा गया है—

"परमात्मा ने इतना सुन्दर विश्व बनाया है ? हम इसके सौन्दर्य का कैसे आनन्द प्राप्त करें? इसका आनन्द तो वही प्राप्त कर सकता है जो इसके सौन्दर्य का अपनी आंखों से अवलोकन करता है। जो उसके स्वर्गीय सन्देश को अपने कानों से सुनता है और उसकी मधुर प्रेरणा से अपनी अनुभूतियों में निमग्न रहता है।"[3]

इस पुस्तक की प्रशंसा में अंग्रेजी का सुप्रसिद्ध दैनिक 'हिन्दू' लिखता है—

"स्वामी सत्यदेव उनको जो भारत अथवा भारत के बाहर भ्रमण करने के इच्छुक हों उपदेश देने की पूर्ण योग्यता हो, क्योंकि उन्होंने विदेशों का विस्तृत पर्यटन किया है। वह यात्रियों की आवश्यकताओं और कठिनाइयों को जानते हैं। इस पुस्तक में वह इच्छुक यात्रियों को असंख्य ऐसी बातें बताते हैं जो उनके लिए काफी लाभदायक

---

1. योरुप की सुखद स्मृतियां—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 163
2. यात्री-मित्र—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक (मुख पृष्ठ से)
3. "God has created this beautiful world, but how many of us care to enjoy it. Indeed this world is his who has seen it with his own eyes, heard its uplifting message with his own ears and felt its inspiration through his own feelings."

सिद्ध होंगी।"[1]

यात्रा का उद्देश्य

यह पुस्तक अपने विषय की हिन्दी में पहली रचना है। इस पुस्तक के हाथ में आते ही राहुल जी के घुमक्कड़-शास्त्र का स्मरण हो आता है। यद्यपि दोनों पुस्तकें अपने-अपने नामों से एक ही विषय पर लिखी जान पड़ती हैं, पर दोनों का विषय एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। 'राहुल' जी ने अपनी इस सुप्रसिद्ध रचना में घुमक्कड़ों का इतिहास तथा उनके जीवन की साहसपूर्ण, रोमांचकारी, कथाओं का वर्णन रोचक भाषा में किया है। यात्रा की तैयारियां कैसे करनी चाहिए तथा यात्रियों को किस-किस सामग्री की आश्यकता होती है यह 'राहुल' जी के घुमक्कड़-शास्त्र का विषय नहीं है। अतः जहां तक हमारी जानकारी है वहां तक यह अपने विषय की अभी तक अद्वितीय पुस्तक जान पड़ती है।

अपनी इस प्रसिद्ध पुस्तक में यात्रा के उद्देश्य एवं उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए परिव्राजक जी कहते हैं—

"निःसन्देह भ्रमण ही ज्ञान का भण्डार है। देश-विदेश घूमने वाले, जिनमें निरीक्षण करने की शक्ति है, विविध प्रकार के स्थलों को देखते हैं, हज़ारों प्रकार के लोगों से उनका वास्ता पड़ता है, भिन्न-भिन्न प्रकार की ऋतुओं से वे आलिंगन करते हैं और नाना प्रकार के पशु-पक्षियों को वे देखते हैं, इस प्रकार बोध का खज़ाना उनके पास जमा हो जाता है, जिसे वे अपनी लेखनी द्वारा अपने समाज को दे जाते हैं। सैकड़ों ग्रन्थकार उनके भ्रमण-वृत्तान्तों को पढ़कर अपने ग्रन्थों की सामग्री जमा करते हैं और न जाने कितने कवि उनकी वर्णन शैली से स्फूर्ति पाकर अपने मस्तिष्क को हवा में उड़ाते हैं। सभी देशों के साहित्य में यात्राओं का स्थान बड़े महत्व का है। वह सभी को रुचता है। अबला, वृद्ध सभी उसे पढ़कर शिक्षा-ग्रहण करते और अपना मनोरंजन करते हैं। कहते हैं कि इंगलैण्ड की महारानी एलिजाबेथ के समय में लिखी गई यात्राओं की पुस्तकों ने अंग्रेज जनता को नवीन साहस और स्फूर्ति से भर दिया था। नये देश देखने, नये अनुभव प्राप्त करने और कठिन यात्राओं में सफलता प्राप्त करने की धुन अंग्रेज-जाति को ऐसी समाई कि वह आगे चलकर अपना एक अत्यन्त बलशाली साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हो

---

1. "Swami Satya Deva is well qualified to advise those who intend to traval extensively either in India or abroad, for he has travelled widely in different countries. He knows the needs and difficulties that occur to travellers. In this book he gives innumerable tips to intending travellers which he dare say, will be very useful to them."

—Hindu Daily, Madras

सकी । कोई और हज़ारों नवयुवकों को मल्लाह बनने का प्रोत्साहन भी ऐसे ही साहित्य ने दिया था । कौन नहीं जानता कि डेनियल डिफो (Daniel Defoe) की फर्जी यात्रा की कहानी से रोबिन्सन क्रूसो ने कितने नवयुवकों के साहस को बढ़ाया था ।"[1]

इतना लिखने के बाद परिव्राजक जी की दृष्टि कूप-मण्डूक जैसा जीवन विताने वाले अपने देशवासियों की ओर चली जाती है । हमारा देश किसी भी क्षेत्र में दूसरे देशों से कदम में कदम मिलाता हुआ आगे नहीं बढ़ सका । उसने यात्राओं के महत्त्व को नहीं समझा, उसका सारा पर्यटन या भ्रमण तीर्थ-यात्राओं तक ही सीमित रहा; वह भी अपने देश की सीमाओं के भीतर । उन्होंने अपनी यात्राओं का कोई ऐसा लिखित क्रमवद्ध वर्णन नहीं किया जिससे उनके पाठकों को यात्रा करने की रुचि उत्पन्न हो । ऐसे लोगों को सम्बोधित करते हुए वह कहते हैं—

"पुस्तकों के कीड़े न बनकर स्वयं निरीक्षण करने का अभ्यास कीजिये और जब भी फुरसत मिले तभी भ्रमण के लिए बाहर जाइए । जो ज्ञान आपको उस भ्रमण से प्राप्त होगा, वह सौ पुस्तकें पढ़ने पर भी नहीं मिल सकता । हां, यह अवश्य है कि भ्रमण उद्देश्य से ओत-प्रोत हो । वह हमारे तीर्थों पर घूमने वाले अन्धविश्वासी लोगों की तरह न हो या उन अमेरिकन सैलानियों की तरह न किया जाए, जो दस दिन में ही सारा योरोप घूम लेते हैं, और लौटकर अपने मित्रों से कह देते हैं कि वे योरोप घूम आए हैं, अथवा उन्होंने चारों धाम कर लिए, यह केवल पैसे और समय का दुरुपयोग है । भ्रमण, ज्ञान उपलब्धि के लिए किया जाना चाहिए और अपने साथ कागज़ पेन्सिल रखनी चाहिए, ताकि चुभते हुए दृश्य टीप लिए जाएं और वे भविष्य में काम आए । सहानुभूति से भरा हुआ हृदय लेकर घूमना उचित है, ताकि अजनबी दृश्य आपका स्वागत कर सके और अपने पेट की बातें बतला सके । अपने साथ कैमरा भी हो तो और भी अच्छा है । इससे इन दृश्यों को हम अपना प्रेमी बना सकते हैं और आप जब चाहें उनसे बातें कर सकते हैं ।"[2]

यात्रा की तैयारी—उर्दू के किसी कवि ने कहा है—

"सैर कर दुनिया की गाफिल ज़िन्दगानी फिर कहां ।
ज़िन्दगानी गर रही तो नौजवानी फिर कहां ।।"

यह संसार विचित्रताओं से भरा है । इन विचित्रताओं के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए पर्यटन आवश्यक है । संसार में कहां क्या हो रहा है । इस विषय में अपने घर में ही तीसमारखां बनकर रहने वाले लोग क्या कह सकते हैं ? विश्व के साहित्य का सबसे बड़ा भाग घुमक्कड़ों के द्वारा ही लिखा गया है । केवल किताबी ज्ञान पर निर्भर रहने वाले लोग रटी-रटाई, सुनी-सुनाई बातों के अतिरिक्त और कह ही क्या सकते हैं ? परन्तु यात्रा का आनन्द केवल वही लोग ले सकते हैं जो कदम-कदम पर हर मुसीबत का सामना

1. योरुप की सुखद स्मृतियां—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 2-3
2. वही, पृ० 5-6

करने के लिए तैयार रहते हैं। जो संकटों और विपत्तियों से घबराते हैं, उन्हें कभी घर से बाहर कदम नहीं निकालना चाहिए। इसलिए यात्रा की तैयारी करने से पहले यह सोच लेना चाहिए कि जिस मार्ग पर हम पदार्पण कर रहे हैं, वह कंटकाकीर्ण है। परिव्राजकजी भी यही कहते हैं—

"लाहौर के एक प्रसिद्ध यात्री—छज्जू-भगत यात्रा करने के लिए निकले। वे काबुल, कन्धार, बुखारा आदि घूमकर कुछ वर्षों के बाद लौटकर अपने स्थान पर आए। जब उनके प्रेमीजन उनसे मिलने के लिए गए और पूछा कि उन्हें यात्रा में कैसा आनन्द मिला, तो उस ईश्वर-भक्त ने मुस्करा कर जवाब दिया—

जो सुख छज्जू भगत के चौबारे।
वह न बलख न बुखारे॥"[1]

यात्री में सहनशीलता का होना आवश्यक है। कभी-कभी लम्बे सफर में दूर तक पानी नहीं मिलता, भोजन के बिना भी कभी-कभी निराहार रह जाना पड़ता है। इसलिए जो लोग भूख-प्यास सहन नहीं कर सकते, उन्हें ज़रा अपने आपको अभावों से लड़ सकने के योग्य बना लेना चाहिए। एक से एक विचित्र लोगों से मिलने का अवसर भी प्राप्त होता है, जिनका पारा बात-बात में सौ डिगरी से ऊपर चला जाता है। यात्री को ऐसे लोगों से भी निपटना पड़ता है। इसलिए उसका सहनशील होना भी आवश्यक है। सबसे बड़ी आवश्यकता तो इस बात की है कि वह मितव्ययी हो। इस सम्बन्ध में अपने अनुभव बताते हुए परिव्राजक जी कहते हैं —

"यात्रा पर जाने वाले को न तो अधिक कंजूस होना चाहिए और न अधिक खर्चीला। यदि वह मित्रों के साथ घूमने के लिए निकलता है तो उसे सदा अपना हिस्सा देने के लिए तैयार रहना चाहिए। उसका मन कभी भी ऐसा न बने कि वह दूसरों की वाकफ़ियत और मित्रता का नाजायज़ फ़ायदा उठाए और ना ही वह इस प्रकार का बने कि शेखी में आकर दूसरों को दिखाने के लिए, एक ही जगह चार-चार खर्च करे। मित व्ययी पुरुष यात्रा में सुखी रहता है और उसके पास दूसरों की सहायता के लिए साधन भी बने रहते हैं।"[2]

उपर्युक्त कथन सुनने में तो बड़ा साधारण-सा जान पड़ता है, पर इसमें जो तथ्य है, इसे कोई भुक्त-भोगी ही समझ सकता है। वास्तव में यात्री की दुर्दशा उस समय होती है जब वह अपनी असावधानी से अपनी जमा पूंजी गवां देता है। लेखक का शायद जेबकतरों से वास्ता नहीं पड़ा। यदि पड़ता तो वह उपर्युक्त अनुच्छेद में यह पंक्ति अवश्य जोड़ देता—यात्री की जमा पूंजी को अपनी ही सम्पत्ति समझने वाले उसके आस-पास ही बैठे हैं। उनकी नज़र हमेशा उसके बटुए पर लगी रहती है तो उसे उनसे सावधान रहना चाहिए।

---

1. योरुप की सुखद स्मृतियां—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 12
2. वही, पृ० 15

लेखक ने यात्रा सामग्री वाले प्रकरण में बड़ी सावधानी से काम लिया है। यात्रा में जिस जिस सामग्री की आवश्यकता है और जिसके बिना यात्रा का सारा मज़ा किरकिरा हो जाता है, उस वस्तु को उसने विस्मृत नहीं होने दिया। किस ऋतु में किस प्रकार की सामग्री होनी चाहिए, इसकी ओर ध्यान दिलाते हुए पहले लेखक ग्रीष्म-ऋतु में सफर करने वाले यात्रियों को संकेत करते हुए कहता है—

"यदि ऋतु गर्मी की हो तो बिस्तरे में अपने साथ दरी एक तकिया तीन चादर बिछाने के और तीन ओढ़ने के, दो तकिए के गिलाफ और एक बिस्तरे के ऊपर का कपड़ा रखना चाहिए। ओढ़ने की चादर ऐसी हो, जो जल्दी धुल सके और सूख जाये। पहनने के लिए भी जितने थोड़े कपड़े हों, उतना ही अच्छा है। केवल इतना ख्याल रखना होगा कि चूंकि पसीने के कारण कपड़ा जल्दी मैला हो जाता है, इसलिए अपने साथ कपड़े धोने का साबुन बराबर रखना चाहिए। अपने हाथ से कपड़ा धोने की आदत प्रत्येक यात्री रखे, तब उसे बहुत ही सुविधा रहेगी और वह नीरोग भी रह सकेगा। तीन बण्डियां, दो कुरते, दो धोती, दो टोपी, एक चाकू, छः रूमाल, एक पेन्सिल, एक तौलिया बदन पोंछने के लिए और खद्दर का एक अंगोछा हाथ पोंछने के लिए, डोरी और लाठी इतना सामान गर्मी की ऋतु में काफी है।"[1]

ग्रीष्म ऋतु की यात्रा सामग्रियों का उल्लेख करने के उपरान्त परिव्राजक जी शीतकाल में यात्रा प्रारम्भ करने वाले पर्यटकों को सम्बोधित कर कहते हैं—

"जब वर्षा शुरू हो जाए तो अधिक शीत पड़ने लगती है। उस समय अच्छे भारी लिहाफ के बिना सुख नहीं मिल सकता, तो भी जो लोग पहाड़ की यात्रा के लिए जावें, उन्हें पहनने के लिए गर्म ऊनी कुर्ता और पाजामा ज़रूर रख लेना चाहिए जो वक्त पर काम आवे। कभी-कभी वर्षा निश्चित समय से पूर्व भी शुरू हो जाती है या उसके कुछ झपाटे जून में ही पड़ जाते हैं इस कारण दूरन्देशी के तौर पर अपने साथ दो-तीन गर्म कपड़े ज़रूर रखने चाहिए। बहुत आदमी ऐसा समझ लेते हैं कि वे कम्बल ओढ़कर ही ऐसी सरदी को रोक लेंगे, लेकिन यह ठीक नहीं। कम्बल रात के ओढ़ने की चीज है दिन के समय उसे ओढ़कर चलने वाला मनुष्य बड़ा आलसी और भद्दा मालूम होता है। पोशाक ऐसी चाहिए जो मनुष्य की चुस्ती को कायम रखने वाली हो और रास्ते में किसी प्रकार के संग्राम के आ जाने पर बाधा उपस्थित न कर सके।"

जल, थल, गगन तीनों पर ही आज मनुष्य का प्रभुत्त्व स्थापित हो चुका है। यह तीनों ही उसकी यात्रा के मार्ग बन चुके हैं। परिव्राजक जी को इन तीनों मार्गों से यात्रा करने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका था। इस यात्रा में यात्रियों को जो सुझाव उन्होंने दिए हैं, वह बड़े महत्त्वपूर्ण हैं, पर वे अब समय के साथ पुराने पड़ गए हैं। इसलिए उनके विषय में कुछ न कहना ही उचित जान पड़ता है।

कहां जायें—पर्यटक के लिए जिज्ञासु होना आवश्यक है। यदि वह जिज्ञासु नहीं

---

1. योरुप की सुखद स्मृतियां—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 8

है तो वह यह भी नहीं बता सकेगा कि उसके घर के आस-पास कौन कहां रहता है। उस के सगे सम्बन्धियों की संख्या कितनी है। यदि आप उससे इस सम्बन्ध में कुछ पूछेंगे तो सीधा सा उत्तर मिलेगा—हमें क्या किसी से मतलब ? ऐसे लोगों के सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए वह कहते हैं—

"जब हम किसी नगर निवासी से उसके शहर के इर्द-गिर्द ऐतिहासिक स्थानों के विषय में पूछते हैं, या उसके जिले के किसी प्राकृतिक दृश्य के सम्बन्ध में दरियाफ्त करते हैं, तो प्रायः यही जवाब मिलता है—'हमने नहीं देखा।' ऐसे कितने स्त्री और पुरुष हैं, जिन्होंने अपना जिला छाना हो, जो अपने प्रान्त से भली-प्रकार परिचित हों और जिन्हें अपने देश की भौगोलिक परिस्थिति का पूरा ज्ञान हो। हममें जिज्ञासु भावना ही नहीं रही। घर से गए स्कूल तक या कचहरी और दफ्तर तक, सड़क नाप आए। बस, यही हमारी दिनचर्या है। खाना, पीना, नौकरी करना, बच्चे पैदा करना, सो रहना, इतना ही हम अपने लिए पर्याप्त समझते हैं। हमारा निवेदन आपसे यह है कि आप अपनी फुरसत का समय ज्ञान वृद्धि में लगाइए। हम आपको दोनों चीज़ें देंगे—तन्दुरुस्ती और ज्ञान—आप जहां रहते हैं, उसके पांच-दस मील के बीच क्या कोई चीज़ देखने लायक है ? सब कुछ है। केवल आपमें जिज्ञासु भावना चाहिए। बाहर के खेत आपको बहुत कुछ सिखा सकते हैं। जब तक दूर जाने की फुरसत न हो, तब तक इन्हीं से कुछ सीखिए। पशुओं, पेड़ों और पक्षियों के नाम जानिए। ऋतु के अनुसार उनके स्वभाव पहचानिए। जब यहां से जी भर जाए तो आगे दौड़ लगाइए। अपने जिले का नक्शा लेकर देखिए कि उसमें कौन-सी चीज़ आपको अपनी ओर खींचती है। अपने जिले का खूब भ्रमण कीजिए। भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों की आदतें, उनकी चाल-ढाल, उनका रस्मोरिवाज़, उनकी खास-खास बातें जानने का यत्न कीजिए। नदी, नाले यदि कोई हों तो उनके किनारों के सुन्दर दृश्यों के फोटो लीजिए। प्रत्येक ऋतु में दृश्यों में क्या परिवर्तन होता है तदनुसार उनका अध्ययन कीजिए।"[1]

हमारी यात्रा उन तीर्थ-यात्रियों के समान नहीं होनी चाहिए जो सारे भारत की तीर्थ-यात्रा कर आने का दावा करते हैं। पर यदि उनसे पूछा जाए कि बृज-यात्रा करते समय तुमने आगरा का ताजमहल भी देखा है, फतहपुर सीकरी भी गए, सिकन्दरा के शेखसलीम चिश्ती की मजार भी देखी तो चट कह देगा कि हम तीर्थ यात्रा करने गए थे सो कर आए। इन स्थानों में भटकने के लिए हमने यह यात्रा नहीं की। अब आप ही सोचिए कि ब्रजमण्डल की यात्रा करने के लिए घर से निकले हुए उस व्यक्ति के विषय में क्या कहा जाये, जो पड़ोस के इन ऐतिहासिक स्थानों को देखने जाना अपनी परेशानी का कारण समझता है। दूसरे शब्दों में इसे उसमें जिज्ञासु-वृत्ति का अभाव ही कहा जा सकता है। लोग बड़े-बड़े मेलों या पर्वों के अवसरों पर तीर्थों की यात्रा करते हैं पर वहां

---

1. यात्रा-मित्र—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 55-56

परेशानी के अतिरिक्त मिलता क्या है। ऐसे लोग यात्रा का क्या आनन्द उठा सकते हैं इस सम्बन्ध में परिव्राजक जी के अनुभव सुनिए—

"हमारा देश प्राचीन है। इसका अपना इतिहास है, इसकी अपनी सभ्यता, साहित्य और संस्कृति है। इसमें एक से एक बढ़कर प्राकृतिक दृश्य हैं, फिर क्या कारण है आप अपने देश में भ्रमण न करें। आए दिन रेलों में मेलों के कारण ठट के ठट लोग एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं, कुम्भ के मौके पर लाखों आदमी हरिद्वार, प्रयाग अथवा नासिक में इकट्ठे होते हैं, कितना धन रेल वालों को दिया जाता है और कितना समय और शक्ति खर्च होती है, परन्तु उन सबका परिणाम क्या ? यही मेले यदि संगठन रूप में भरे, इनका निश्चित आदर्श हो और जनता पूरा सहयोग दे तो कितना जबरदस्त काम इनके द्वारा किया जा सकता है। परन्तु दुःख यही है कि हमने अभी यात्रा के असली अभिप्राय को नहीं समझा। खाली लकीर पीटने चले जाते हैं।"[1]

यात्रा में साथी—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे अकेले रहना पसन्द नहीं है। लम्बी यात्राओं में इसीलिए साथी का होना आवश्यक है। बहुत से लोग ऐसे भी हैं जिन्हें विवश होकर यात्रा करनी पड़ती है। ऐसे लोगों को सम्बोधित करते हुए परिव्राजक जी कहते हैं—

"परन्तु एक होता है—मजबूरन काम करना और दूसरा है काम का आनन्द उठाना। अधिकतर लोग ऐसे हैं जो मजबूरी में घूमते हैं। जीवन उन्हें भार है, यात्रा उन के लिए दुःखदायी है, उन्हें उसमें कुछ रुचि नहीं। ऐसे बहुत थोड़े लोग हैं, जो अकेले यात्रा करें और उसका पूरा आनन्द भी ले सकें। यात्रा का यह श्रेष्ठतर तरीका है कि अपने साथ कोई साथी हो। कोई मित्र, साथी संगी जो यात्रा में भाग ले और मनोरंजक विषयों पर विचार परिवर्तन कर सके, अपने साथ अवश्य होना चाहिए।[2]

इस प्रकार लेखक की यह पुस्तक 'यात्री-मित्र' अपने इन गुणों के कारण अपने इस नाम को सार्थक करती है। लेखक ने अपनी इस पुस्तक में विदेश यात्रा करने की इच्छा रखने वाले भारतीय पर्यटकों को एक महत्वपूर्ण सुझाव दिया है कि वह विदेशों की यात्रा करने से पहले अपने देशों के महत्वपूर्ण स्थान एलोरा, अजन्ता और एलिफेन्टा की गुफायें, नर्मदा की संगमरमर की चट्टानें, राजपूताने के गौरवपूर्ण ऐतिहासिक स्थान, दक्षिण भारत के कलापूर्ण मन्दिर तथा अन्य प्राकृतिक रमणीय स्थल अवश्य देखें। कहीं ऐसा न हो विदेशों में वहां के लोगों से इन स्थानों की चर्चा करने पर उन्हें निरुत्तर हो जाना पड़े।

---

1. यात्रा मित्र—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 59
2. वही, पृ० 61

निष्कर्ष

प्रधानतया परिव्राजक जी की यात्रा कृतियां वर्णनात्मक शैली में लिखी गई हैं। वर्णनात्मक-शैली के अनेक प्रयोग उन्होंने यात्रा वर्णनों में किए हैं। यात्रा वर्णनों के अतिरिक्त परिव्राजक जी की 'यात्री-मित्र' यात्रा सम्वन्धी निवन्धों का अच्छा संग्रह है। इसमें उन्होंने व्यास शैली का प्रयोग किया है।

परिव्राजक जी ने अपने यात्रा-साहित्य में देश की स्थिति, उसके प्राकृतिक सौंदर्य के साथ वहां के जीवन, इतिहास पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। अमरीका की यात्रा उन्होंने अध्ययन के लिए ही की थी। फिर भी उनकी दृष्टि सभी तरफ फैली रहती है। यह देश-काल एवं वस्तुओं के विशद वर्णन के साथ स्थान विशेष के जीवन, उसके रीति-रिवाज़, त्योहारों, उत्सवों का भी सजीव चित्र प्रस्तुत करती है। वास्तव में परिव्राजक जी का यात्रा-साहित्य उनके यात्रा-स्थानों की राजनीतिक, सामाजिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक स्थिति को जानने के लिए विश्व-कोष के समान है। परन्तु परिव्राजक जी ने एक सामान्य पर्यटक की भांति इन स्थानों का वर्णन नहीं किया, अपितु एक संवेदनशील साहित्यकार तथा प्रगतिशील विचारक की भांति उन्हें देखा है। उनका यात्रा-साहित्य विवरणात्मक सूचनात्मक मात्र न होकर साहित्यिकता से सम्पन्न है। उन के यात्रा वर्णनों में स्थान-स्थान पर भावावेश, उल्लास, आत्मीयता आदि की अभिव्यक्ति पाई जाती है।

परिव्राजक जी के यात्रा वर्णनों एवं विवरणों के पीछे कलाकार का हृदय एवं विचारक का मस्तिष्क है, जो समाज के नव-निर्माण का सर्वत्र संकेत करता है। और उन का यात्रा-साहित्य समग्र जीवन की अभिव्यक्ति लिए हुए है। उनके लिए प्रकृति सजीव है, यात्रा में मिलने वाले व्यक्ति स्वजन हैं। वे देश की आत्मा का साक्षात्कार करते हैं और देश-विदेश में बिखरे इतिहास को संस्कृति, सभ्यता और समाज को चित्रित करते चलते हैं। परिणामतः यह समूचा देश अपने समस्त सांस्कृतिक परिवेश के साथ एक प्राणवान् प्रतिमा सा हमारे सामने आ खड़ा होता है। संक्षेपतः यात्रा-क्षेत्र की विविधता एवं विशुद्धता, कृतियों की परिणात्मक एवं गुणात्मक विपुलता, समाज एवं वस्तु वर्णन की यथार्थता, प्राकृतिक दृष्टि की विविधता, विचित्रता एवं भावात्मकता, वर्णनात्मक शैली की गरिमा एवं साहित्यिकता—इन सभी गुणों को अपने में संजोता हुआ परिव्राजक जी का यात्रा-साहित्य हिन्दी की अमूल्य निधि है।

षष्ठ अध्याय

परिव्राजक जी का जीवनी परक साहित्य

जीवनी परक साहित्य

मनुष्य का सर्वाधिक आकर्षण केन्द्र मनुष्य स्वयं है तथा साहित्य में इसी मनुष्य का अध्ययन होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य का लक्ष्य मनुष्य को ही स्वीकारते हैं। उनके शब्दों में—"वास्तव में हमारे अध्ययन की सामग्री प्रत्यक्ष मनुष्य है। आपने इतिहास में इसी मनुष्य की धारावाहिक जय-यात्रा की कहानी पढ़ी है, साहित्य में इसी के आवेगों, उद्वेगों और उल्लासों का स्पन्दन देखा है, राजनीति में इसी की लुका-छिपी के खेल का दर्शन किया है, अर्थशास्त्र में इसी रीढ़ की शक्ति का अध्ययन किया है। यह मनुष्य ही वास्तविक लक्ष्य है।"[1] अभिप्राय यह है कि साहित्य में मानव-जीवन की विशद विवेचना रहती है, जीवन की गूढ़ समस्याओं एवं गुत्थियों का, उसके सौन्दर्य एवं विभूतियों का उसमें अध्ययन होता है। सामान्यतः सभी प्रकार के साहित्य में मानव-जीवन का अध्ययन रहता है। किन्तु जीवनी परक साहित्य में यह अध्ययन अधिक प्रत्यक्ष एवं गहरी छाप लेकर प्रकट होता है।

विश्व में प्रत्येक व्यक्ति का अपना पृथक् अस्तित्व होता है, व्यक्तित्व एवं महत्व होता है। इस व्यक्तित्व का अध्ययन एक गूढ़ एवं रोचक विषय है। 'विलियम हेनरा हडसन' के शब्दों में—"जीवनी साहित्य का उद्गम स्थान है और व्यक्तिगत जीवन में विशेष रूप से साहित्य के गूढ़ तत्व ढूंढ़े जा सकते हैं। मनुष्य के इसी व्यक्तिगत जीवन का विशेष रूप से अध्ययन जीवनी परक साहित्य की विशिष्टता है।"[2]

जीवनी परक साहित्य के भेद :—जीवनी परक साहित्य के छः मुख्य भेद हैं।

1. जीवनी	2. आत्मकथा	3. संस्मरण
4. डायरी	5. पत्र	6. रेखाचित्र

जीवनी परक साहित्य मानव जीवन के रोचक तथा शिक्षाप्रद अंशों का क्रमबद्ध वर्णन होने के कारण मनुष्य मात्र के आकर्षण का केन्द्र रहा है। वह एक ऐसे दर्पण के समान है जिसमें वह अपने आपको देखता है। क्योंकि जिस व्यक्ति का जीवन उसके सामने है वह उससे भिन्न नहीं होता। उसके सुख-दुःख उसके अपने सुख-दुख हैं। जीवनी परक साहित्य मानव-जीवन का एक अभिन्न अंग होने के कारण अपनी लोकप्रियता चिरकाल

---

1. अशोक के फूल—आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 180
2. एन इण्ट्रोडकशन टु दि स्टडी आफ लिटरेचर—विलियम हेनरा हडसन, पृ० 14

से बनाए हुए है। आज से पहले प्रबन्ध-काव्यों के रूप में महाकाव्य तथा खण्डकाव्य के माध्यम से हमारे अध्ययन का विषय बना हुआ था और अपनी संगीतमयता के कारण आज भी वह अपनी सत्ता उसी प्रकार बनाए हुए है। गद्य के इस युग में गद्य में लिखी हुई जीवनियां और जीवन-चरित्र लोकप्रियता प्राप्त करते चले जा रहे हैं। हिन्दी साहित्य कोष में जीवनी को इन शब्दों में परिभाषित करते हुए कहा गया है—"व्यक्ति विशेष के जीवन का वृत्तान्त ही जीवनी है।"[1]

जीवनी तथा इतिहास में एक विभाजक-रेखा सुगमता से खींची जा सकती है। जीवनी का उद्देश्य अपनी जीवनी के नायक को अमरत्व प्रदान करना तथा उसके जीवन-चरित्र से पाठकों को चरित्र-निर्माण की प्रेरणा देना होता है। और इतिहास में मनुष्य को व्यक्तिगत रूप में चित्रित न करके उसका सामूहिक अथवा जातीय रूप में वर्णन किया जाता है। इतिहास में घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन होता है। और जीवनी में व्यक्ति विशेष के जीवन के महत्वपूर्ण अंशों पर ही प्रकाश डाला जाता है।

जीवनी परक साहित्य में जीवनी एक स्वतन्त्र तथा महत्वपूर्ण विधा है। वह किसी व्यक्ति विशेष को सामने लाती है, उसके विस्तृत जीवन के केवल उन्हीं अंशों को प्रकाश में लाती है, जो सार्वजनिक जीवन को चरित्र निर्माण की शिक्षा दे सकें। मनुष्य एक अनुकरणशील प्राणी है। वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसा नेतृत्व चाहता है जिसके पदचिह्नों पर चलकर वह अपने लक्ष्य तक सहज ही में पहुंच सके। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जीवनियों की रचना की जाती है। यदि आप धार्मिक क्षेत्र में क्रान्ति लाना चाहते हैं तो मर्टिन लूथर तथा दयानन्द, यदि आप राष्ट्र-निर्माता बनना चाहते हैं तो इब्राहिम लिंकन, यदि आप क्रान्तिकारी साहित्यकार बनना चाहते हैं तो निराला तथा प्रेमचन्द के जीवन-चरित आपके पथ-प्रदर्शक होंगे।

जीवन-चरित में किसी लेखक द्वारा किसी प्रसिद्ध व्यक्ति के सम्पूर्ण अथवा आंशिक जीवन वृत्तान्त का वर्णन किया जाता है। इसमें वर्णित व्यक्ति के अन्तर-बाह्य दोनों ही पक्षों का वर्णन रहता है। वह जीवनियां प्रेरणाप्रद होती हैं। महापुरुषों के जीवन में वर्णित उनकी चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन पढ़कर हम उनसे चरित्र निर्माण की प्रेरणा लेते हैं।

यह हिन्दी साहित्य का दुर्भाग्य है कि हमारे महान् साहित्यकारों के प्रामाणिक जीवन चरित आज भी उपलब्ध नहीं हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला आदि के सम्बन्ध में जानकारियां रखने वाले उनके मित्र तथा निकट सम्बन्धी धीरे-धीरे इस असार संसार से विदा होते चले जा रहे हैं। हमें उनकी जानकारियों से लाभ उठाकर इन दिवंगत साहित्यकारों की प्रामाणिक जीवनियां लिखने का प्रयत्न करना चाहिए। हो सकता है कि एक दिन हमें इन युग-पुरुषों की जीवन सामग्री को बटोरने के लिए भटकना पड़े और हमें निराशा के

---

1. हिन्दी साहित्य कोष, कैसेल, पृ० 305

अतिरिक्त कुछ न मिले।

किसी भी साहित्यकार के साहित्य को समझने के लिए उनका जीवन वृत्तान्त जानना आवश्यक है। पाश्चात्य साहित्य में तो एक ऐसी आलोचना की पद्धति का विकास हो रहा है जिसे 'बायाग्राफिकल क्रिटीसिज्म' 'अर्थात् जीवन-वृत्तान्तीय आलोचना कहते हैं। इस आलोचना पद्धति के समर्थकों का कहना है कि साहित्यकार की कृतियों का अध्ययन करने के लिए उसके जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का अध्ययन आवश्यक है।

परिव्राजक जी की जीवनी—कृतियां

गद्य की इस महत्वपूर्ण विधा पर भी परिव्राजक जी की अमर लेखनी ने हिन्दी साहित्य के गौरव को बढ़ाया है। इस सम्बन्ध में उनकी दो कृतियां उपलब्ध हैं। एक है राजर्षि भीष्म और दूसरी है विश्व वन्द्य सुकरात। यह बाबू श्यामसुन्दर जी के 'सरस्वती' के संपादन-काल में उसके अंकों में प्रकाशित हो चुकी थी। सन् 1916 में उसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। बाबू जी परिव्राजक जी के घनिष्ट मित्रों में से थे। इसीके फलस्वरूप उन्होंने श्रद्धांजलि के रूप में इन शब्दों के साथ समर्पित की है—"यह पुस्तक मैं बड़े प्रेम से अपने मित्र मान्यवर बाबू श्यामसुन्दर दासजी खत्री काशी निवासी के कर-कमलों में भेंट करता हूं, जिनकी प्रेरणा से मैंने हिन्दी लिखना आरम्भ किया था और वो मेरी सदा सहायता करने पर कटिबद्ध रहे हैं।"[1]

(क) राजर्षि भीष्म पितामह

भीष्म महाभारत के उन पात्रों में हैं, जिनका स्मरण करते ही प्रत्येक भारतवासी का मस्तक गर्व से ऊंचा उठ जाता है। उनका वास्तविक नाम 'देवव्रत' था। उनका भीष्म नाम क्यों पड़ा। इस सम्बन्ध में यह कथा प्रसिद्ध है। एक दिन उनके पिता वन में आखेट करने गए थे। वहां वह एक मछुए की रूपवती कन्या 'सत्यवती' पर मोहित हो गए। उन्होंने अपनी यह इच्छा 'सत्यवती' के पिता पर प्रकट की। वह अपनी कन्या राजा को इस शर्त पर देने के लिए तैयार हो गया कि राजा की मृत्यु के उपरान्त उसके राज्य का उत्तराधिकारी सत्यवती से उत्पन्न पुत्र ही होगा। राजा अपने पुत्र 'देवव्रत' को प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। फिर वह उसकी यह शर्त कैसे मान सकते थे। वह निराश होकर चुप-चाप लौट आए। परन्तु सत्यवती की विरहाग्नि में निरन्तर जलते रहने के कारण वह दिन प्रतिदिन कृश होने लगे। जब देवव्रत को अपने पिता के इस कष्ट का पता चला तो वह मछुए के पास गया और उन्होंने उससे अपने पिता मे सत्यवती का विवाह करने के लिए कहा। मछुए ने वही शर्त रखी। अपने पिता को सुखी बनाने के लिए 'देवव्रत' ने उसके सामने यह प्रतिज्ञा की। वह प्रतिज्ञा क्या थी इसका उल्लेख परिव्राजक जी महाभारत के 'आदिपर्व' के श्लोक की उद्धृत करते हुए इस प्रकार कहते हैं—

---

1. राजर्षि भीष्म, पृ० (प्रस्तावना)

एवमेतत्करिष्यामि यथा त्वमनुभाषसे,
योऽस्यां जनिष्यते पुत्रः स नो राजा भविष्यते। (आदि-4051)[1]

अर्थात् जैसा तू कहेगा वैसा ही करूंगा, इस कन्या की सन्तान ही राजा की उत्तराधिकारी होगी। परन्तु दास को इतने पर भी सन्तोष न हुआ। उसने इच्छा जाहिर की कि वह केवल यही नहीं चाहता कि देव ही राजगद्दी पर न बैठे वरन् वह यह भी चाहता है कि देव के पुत्र भी देव के पीछे सत्यवती के पुत्रों को मारकर राजगद्दी पर बैठ न सकें। देव असमंजस में पड़ गए। अपने बारे में तो वे निश्चित थे परन्तु सन्तान के बारे में कैसे कहें। लेकिन उन्होंने इसका भी समाधान निकाल लिया व मछुए के सामने प्रण किया—

"अद्य प्रभृति मे दासः ब्रह्मचर्यं भविष्यति।
अपुत्रस्यापि मे लोकोभविष्यन्त्यक्षया दिवि॥"

(महा० आदि० 4060)

"हे दास! आज से व्रत धारण करता हूं कि मैं सारी उम्र ब्रह्मचारी रहूंगा और पुत्र से रहित होने पर भी मुझे अक्षय द्युलोक की प्राप्ति होगी।"

भीष्म के सम्बन्ध में यहां इतना लिखने के उपरान्त परिव्राजक जी भाव-विभोर हो जाते हैं, वह भगवान् राम तथा महात्मा बुद्ध से उनकी तुलना करने लगते हैं और कह उठते हैं—

"अहा आत्म-त्याग का ऐसा नमूना कहां मिलेगा? सम्पूर्ण संसार के इतिहास के पन्ने उलट डालिए ऐसा उदाहरण अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। पिता के सुख के लिए इतनी भीषण प्रतिज्ञा। आजीवन ब्रह्मचारी रहने का संकल्प। केवल देवव्रत के ही बस की बात थी। तभी तो वे 'भीष्म' कहलाए। निःसन्देह राम ने 14 वर्षों तक वनवास किया लेकिन उन्हें पिता की ऐसी आज्ञा थी व उनका कर्त्तव्य था। भीष्म का कर्म स्वतन्त्रता पूर्वक था। राम ने 14 वर्षों तक स्त्री-संभोग नहीं किया, लेकिन वह आत्म-त्याग अल्पकालीन था, भीष्म का त्याग जीवन पर्यन्त था। बुद्ध का भी पहला आत्म-त्याग अपने सुख (मोक्ष) के हेतु था, भीष्म का आत्म-त्याग दूसरे के सुख के लिए था।[2]

लेखक ने इस पुस्तक में भीष्म के जीवन के उन महत्वपूर्ण अंशों को उभारा है जो जीवन संग्राम में अग्रसर होने वाले प्रत्येक मनुष्य का मार्ग-दर्शन करते हैं। भीष्म का चरित्र, साहस, शक्ति और शौर्य की भावना जाग्रत करने वाला जीवन है। अपनी इस विशेषता के कारण लेखक की यह पुस्तक जीवनी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

---

1. राजर्षि भीष्म—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 5-6
2. वही पृ० 7-8

(ख) विश्व वन्द्य सुकरात

इसी विधा में लेखक की दूसरी रचना है 'विश्व वन्द्य सुकरात'। यह रचना किसी पृथक् पुस्तक के रूप में प्रकाशित नहीं हुई है। प्रत्युत यह उसकी संजीवनी बूटी के द्वितीय भाग के दूसरे खण्ड में संग्रहित निबन्धों की शृंखला की एक कड़ी के रूप में उनके साथ जोड़ दी गई है।

यूनान की सुरम्य भूमि अनेक प्रतिभाशाली युग-निर्माताओं की जननी रही है। चिंतन के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न करने वाली अनेक युग विभूतियां इसी भूमि पर अवतरित हुई थीं। सुकरात, प्लेटो, अरस्तु की महात्रयी भी इसी गौरवपूर्ण भूमि की देन हैं। सुकरात इस शृंखला की पहली कड़ी है। उनका जन्म यूनान के प्रमुख नगर 'ऐथेन्स' में ईसा से 47⁾ वर्ष पूर्व हुआ।

उसका पिता संगतराश था और माता दाई का काम करती थी। कुछ समय तक वह अपने पिता के साथ संगतराशी का काम करता रहा परन्तु बाद में उसने यह धन्धा छोड़ दिया। उसके जीवन का बहुत बड़ा भाग राजनीतिक संघर्षों में बीता। वह ऐथेन्स की राजनीति से क्षुब्ध था, इसीलिए उसने उस समय के प्रचलित लोकतन्त्र की कड़ी आलो-चना की। वह कानून को ईश्वर का आदेश मानता था। उसने उसे शासक और शासित दोनों से ऊपर माना है। वह स्वतन्त्र विचारक था। इसीलिए उसने अपने शिष्यों में प्रत्येक बात को स्वतन्त्रता पूर्वक सोचने की भावना उत्पन्न की। उसकी मान्यता थी कि व्यक्ति को स्वयं सत्य और असत्य का निर्णय करना चाहिए। उसे कानून का विरोध करने का कोई अधिकार नहीं है, ऐसा करने से अव्यवस्था फैलती है।

वह कोरा विचारक ही नहीं था, प्रत्युत कार्य-क्षेत्र में आगे बढ़कर युग का नेतृत्व करने वाला सफल नेता भी था। उसने ऐथेन्स और डीलिवस के युद्ध में एक सफल सेनानी के रूप में भाग भी लिया था। पैंसठ वर्ष की अवस्था में वह ऐथेन्स की काउन्सल का सदस्य बन गया। परन्तु उसने जिस पद पर भी कार्य किया वहां उसने अपने कर्तव्य-पालन का सदैव ध्यान रखा। उसका समस्त राजनीतिक जीवन विधि-सम्मत आचरण की प्रयोगशाला थी। वह न्याय-प्रिय राज-भक्त था। उस समय के रूढ़िवादी विचारक उसे नव-युवकों को विद्रोही बनाने वाला क्रान्तिकारी बताते थे। उनके इस मिथ्या प्रचार के कारण ही उस पर राजद्रोह का मुकदमा चला।

उसकी न्याय-प्रियता और राज-भक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है—उसका मृत्यु-दण्ड को सहर्ष स्वीकार करना। अपने मित्रों तथा सहयोगियों के बार-बार कहने पर भी मृत्यु-दण्ड के विरुद्ध अपील न करना। उसे ज़हर का प्याला पीना पड़ा। अपनी मान्य-ताओं और विश्वासों पर दृढ़ रहने के कारण उसने सहर्ष मृत्यु का आलिंगन किया। यही विश्व वन्द्य सन्त सुकरात का संक्षिप्त जीवन वृत्तान्त है। जिसका परिव्राजक की की लौह लेखनी ने ओजस्वी-भाषा में चित्रण किया है। अपने सिद्धान्तों पर मर मिटने वाले इस युग-पुरुष के अमर बलिदान का जो चित्र लेखक ने चित्रित किया है, वह अत्यन्त करुण

है। ज़हर का प्याला सुकरात के होंठों को चूमने वाला था जिसे देखते ही—

"इतना कहकर वह शीघ्रता से कोठरी से बाहर निकल गया और उपस्थित लोग हक्के-बक्के बैठे रहे। तब उस अमर शहीद ने बड़े शान्त भाव से अपने प्रेमियों को दिलासा दिया, उन्हें उनके कर्त्तव्य समझाए और मानव जीवन का श्रेष्ठतम आदेश प्रभु की खोज विषय पर कुछ उपदेश दिया। तब ईश्वर का नाम लेकर उन्होंने उस हलाहल विष के प्याले को मुंह लगाया और बिना रुके प्याला खत्म कर दिया। भक्तों के शोक का ठिकाना न रहा और वे अश्रुगत करने लगे। लेकिन वह महापुरुष उसी शान्ति से खड़ा हो गया और जेलर के कथनानुसार इधर-उधर टहलने लगा।"

हिन्दी गद्य की इस विधा पर उनकी यह दो रचनाएं हमारे सम्मुख हैं, उन्हें घटनाओं का लेखामात्र ही कहा जा सकता है। इन जीवनियों के चरितनायकों के जीवन के रोचक तथा महत्त्वपूर्ण अंशों का चयन करने पर भी लेखक उन्हें साहित्यिक रूप दे सकने में सफल नहीं हो सका। इसका कारण है चरित्र चित्रण की ओर विशेष ध्यान न दिया जाना। लेखक में उपदेश देने की वृत्ति इतनी अधिक रही है कि जिसके कारण वह साहित्यकार न रहकर एक उपदेशक मात्र ही रह जाता है।

परिव्राजक जी का आत्मकथा परक साहित्य

आत्मकथा : स्वरूप-विश्लेषण

आत्मकथा अपना आत्म-चरित्र जीवनी-साहित्य का विकासशील अंग है। यही एक ऐसा माध्यम है जिसमें लेखक अपने विषय में एवं अपने व्यक्तिगत अनुभवों के सम्बन्ध में कहता है। 'हिन्दी साहित्य कोश' में आत्मकथा के स्वरूप के विषय में लिखा है—"आत्मकथा लेखक के अपने जीवन का सम्बद्ध वर्णन है। आत्मकथा के द्वारा अपने बीते हुए जीवन का सिंहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमि में अपने जीवन का महत्त्व दिखलाया जाना सम्भव है।"[1] पाश्चात्य विद्वान् 'राय पास्कल' ने आत्मकथा के स्वरूप को अधिक स्पष्ट किया है। उनके अनुसार—"आत्मकथा अपने ही ढंग का पुनर्कथित इतिहास है, साथ ही व्यक्ति के बाह्य विश्व से सम्बद्ध आत्मनिरीक्षण का प्रतिरूप है।"[2] अपनी परिभाषा की व्याख्या करते हुए वे पुनः कहते हैं—"आत्मकथा जीवन की अथवा उसके किसी एक भाग की यथार्थ घटनाओं को, जिस समय वे घटित हुईं, उन समग्र चेष्टाओं को पुनर्गठित करती है। मुख्यतः इसका केन्द्र आत्माविवेचन से सम्बद्ध होता है, बाह्य विश्व से नहीं।"[3] व्यक्तित्व को अनुपम रूप प्रदान करने के लिए बाह्य विश्व ग्राह्य भी हो सकता है। आत्मकथा बीती हुई घटनाओं से बनती हैं। इसे वैयक्तिक जीवन की कतिपय स्थितियां निर्मित कर देती हैं। साथ ही वह असंदिग्ध एवं स्पष्ट रूप से अपने एवं बाह्य विश्व के निश्चित एवं दृढ़ सम्बन्ध को प्रकट करती हैं। वेन शुमेकर (Wayne

1. हिन्दी साहित्य कोष, पृ० 89
2. डिजाइन एण्ड ट्रुथ इन आटोबायोग्राफी—राय पास्कल, पृ० 9
3. वही, पृ० 9

Shumaker) आत्मकथा को इन शब्दों में परिभाषित करते हैं,—"आत्मकथा लेखक द्वारा स्वयं लिखी गई, एक ही रचना के रूप में, उसके वैयक्तिक जीवन का आलेखन है।[1] एक ही रचना के रूप में का अर्थ है कि वह पत्र एवं दैनन्दिनी से भिन्न है। पत्रों एवं डायरियों में सुसम्बद्धता का अभाव होता है, पर आत्मकथा में सुसम्बद्धता एक अनिवार्य गुण है।

उक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि आत्मकथा में लेखक अपने ही व्यक्तित्व का निरीक्षण करता है। वह अपने अतीत-जीवन का सिंहावलोकन करता है और एक व्यापक पृष्ठभूमि में जीवन का महत्त्व प्रगट करता है। इसमें लेखक का उद्देश्य आत्म-निरीक्षण, आत्मविश्लेषण, आत्मसमर्थन एवं आत्मप्रसार रहता है और वह अतीत की स्मृतियों को पुनर्जीवित करता है। अत: आत्मकथा जीवन-चरितात्मक गद्य का वह रूप है जिसमें लेखक जागरूक होकर व्यक्तिगत जीवन का नि:संकोच रूप से, विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करता है और उसमें उसकी बाह्य विश्व से सम्बद्ध मानसिक क्रियाओं—प्रतिक्रियाओं का कलात्मक रूप में अंकन होता है।

आत्मकथा जीवनी साहित्य के अन्तर्गत होते हुए भी जीवनी से पृथक् एवं स्वतन्त्र महत्व रखती है। आत्मकथा का लेखक जीवनी-लेखक की अपेक्षा कहीं अधिक अधिकारपूर्ण निजी ज्ञान से अभिव्यक्ति का कार्य करता है। यही साधारण जीवनी से आत्मकथा की विशिष्टता है। वास्तव में एक निश्छल और निष्कपट व्यक्ति की आत्मकथा से प्रामाणिक दूसरे से लिखी जीवनी नहीं हो सकती। 'मारगेरेट वोटरल' के शब्दों में—"सच्ची आत्मकथा तभी लिखी जा सकती है जब कि इसका लेखक अपने व्यक्तिगत अस्तित्व के विषय में पूर्णतया परिचित हो तथा जीवन के सम्पूर्ण अनुभवों के मध्य अपने कार्यों की प्रवृत्ति को प्रतिविम्बित करने में समर्थ हो।"[2]

हिन्दी में आत्मकथा परक साहित्य का एक प्रकार से अभाव ही रहा है। भक्तिकाल में अर्द्धकथानक के नाम से लिखी गई—'बनारसीदास जैन' की आत्मकथा अवश्य मिलती है जो बाबू गुलाबराय के संपादकत्व में आगरा से प्रकाशित हो चुकी है। इन का परिचय देते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं—

"इन्होंने संवत् 1698 तक का अपना जीवन वृत्त अर्द्धकथानक नामक ग्रन्थ में दिया है। पुराने हिन्दी साहित्य में यही एक आत्मचरित मिलता है, इससे इसका महत्त्व बहुत अधिक है। इस ग्रन्थ से पता चलता है कि युवावस्था में इनका आचरण अच्छा न था और इन्हें कुष्ठ रोग भी हो गया था। पर पीछे से ये संभल गए। ये पहले शृंगाररस की कविता किया करते थे पर पीछे ज्ञान हो जाने पर इन्होंने वे सब कविताएं गोमती नदी में फेंक दीं और ज्ञानोपदेश-पूर्ण कविताएं करने लगे।"[3]

---

1. इंग्लिश आटोबायोग्राफी—वेन शुमेकर, पृ० 106
2. एवरी मैन ए फिनिक्स—मारगेरेट वोटरल, पृ० 8
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 213-14

वास्तव में आत्मकथा परक साहित्य गद्य की एक स्वतन्त्र विधा है। हिन्दी में गद्य साहित्य का विकास बहुत बाद में हुआ, इसलिए आत्मकथा परक साहित्य के शीघ्रता से प्रारम्भ होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। पश्चिम में इस विधा का सर्वांगीण विकास बहुत पहले हो चुका था। वास्तव में यह विधा हिन्दी को पश्चिम की ही देन है। जिस रूप में इसका विकास पश्चिम में हुआ, उस रूप में हिन्दी साहित्य में नहीं हो सका। इसका मुख्य कारण है भारतीय नेताओं का अंग्रेजी प्रेम।

स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री (पं० जवाहरलाल नेहरू) की आत्मकथा का अंग्रेजी में लिखा जाना इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के लालच में पड़कर भारतीय नेताओं ने राष्ट्रभाषा के भण्डार को अपने ग्रन्थ रत्नों से सम्पन्न करने की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू के विषय में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिन्दी में उनका समस्त साहित्य अंग्रेजी से ही अनुवाद होकर आया है। इस दिशा में भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद को अवश्य आदर से स्मरण किया जायेगा। जिन्होंने अपनी आत्मकथा को हिन्दी में लिखकर राष्ट्र-भाषा के भण्डार को श्री सम्पन्न किया था।

परिव्राजक जी की आत्मकथा : स्वतन्त्रता की खोज में

परिव्राजक जी की 'स्वतन्त्रता की खोज में' आत्मकथा परक कृति है। जो सन् 1951 में प्रकाशित हुई थी। यह 56 प्रकरणों अर्थात् अध्यायों में समाप्त हुई है। इस पुस्तक के विषय में श्री शंकरदेव विद्यालंकार लिखते हैं—

"स्वामी जी ने अपनी प्रेरणा-पूर्ण आत्म कहानी प्रोत्साहक और प्रवाहयुक्त भाषा में लिखी है। स्वदेश-विदेश में परिभ्रमण करते हुए वे सामयिक, ऐतिहासिक घटनाओं, व्यक्तियों तथा संस्थाओं के चरित्रों व कार्यों की मीमांसा खुले दिल से करते हैं। अपनी इस आत्म कहानी में स्वामी जी ने अपनी जीवन-यात्रा पर तथा भारत के पिछले 50 वर्षों की अनेक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।"[1]

इस ग्रन्थ पर 'नागपुर-टाइम्स' दैनिक-पत्र के सहायक संपादक पं० अनन्तगोपाल शेवड़े ने नागपुर रेडियो से 3 फरवरी, 1952 को समीक्षा की थी, उनके शब्दों में— "यह है तो आत्मकथा, पर किसी उपन्यास से कम रोचक नहीं। जीवन रूपी कुरुक्षेत्र में किए गए धर्म युद्ध की यह एक राजनीतिक संन्यासी के मुंह से कही गई कहानी है।··· जीवन में इतनी सिद्धि तो एक प्रखर कर्मयोगी ही पा सकता है। यह कथा इसी कर्मयोगी के प्रयोगों का इतिहास है।"[2]

परिव्राजक जी की इस पुस्तक के सम्बन्ध में बम्बई से प्रकाशित होने वाले

---

1. गुरुकुल कांगड़ी पत्रिका में शंकरदेव विद्यालंकार का लेख, फाल्गुन सं० 2008
2. नागपुर टाइम्स—(दैनिक-पत्र) में पं अनन्तगोपाल शेवड़े द्वारा प्रकाशित, 10 फरवरी, 1952

'ट्रिब्यून' नामक दैनिक पत्र ने लिखा था—

"एक प्रकार से स्वामी जी की आत्मकथा हमारे राष्ट्रीय संघर्ष का सजीव इतिहास है। इस आत्मकथा में बहुत से पृष्ठ अत्यन्त शिक्षाप्रद और नवीन स्फूर्ति देने वाले हैं।"[1]

वर्ण्य-विषय

'स्वतन्त्रता की खोज में' परिव्राजक जी के जीवन के 72 वर्ष का वृत्त है। प्रायः उनके जीवन की पूरी झांकी है। क्योंकि 'पूर्णता का अर्थ मृत्यु तक का चित्रण कदापि नहीं है।' जन्म, शैशव एवं पूर्वजों के परिचय के साथ प्रारम्भ एवं विषय के औचित्य के अनुकूल स्थायित्व ही पूर्णता है। आत्मकथा शिशु की चिल्लाहट से आरम्भ होकर वृद्ध के विश्रान्तिमय जीवन के साथ समाप्त होती है।

मनुष्य के निर्माण में उसके शैशव के छः वर्ष विशेष महत्त्वपूर्ण होते हैं। इसमें ही उसके भावी जीवन की आधारशिला रखी जाती है। 'मेरे बचपन के पहले छः वर्ष' नामक प्रकरण का आरम्भ करने से पूर्व परिव्राजक जी कहते हैं—

'बाल्यकाल के संस्कार ही मानव की प्रारम्भिक निधि है, जिन पर जीवन की इमारत खड़ी की जाती है। जो माता-पिता अपनी संतान को निरोग, सुडौल, बलिष्ठ और दीर्घायु बनाना चाहते हैं, वे बचपन के पहले वर्ष से ही उनके संस्कारों का पूरा ध्यान रखें और सदा उनके कानों में सात्विक ध्वनि ही डालते रहें।"[2]

आगे चलकर अपनी आत्मकथा के इसी प्रकरण में बचपन के पहले छः वर्ष मानव के निर्माण में कहां तक सहायक होते हैं, पर प्रकाश डालते हुए परिव्राजक जी कहते हैं—

"मैं अत्यन्त विनय और नम्रता से अपने देश के गृहस्थों को सावधान करना चाहता हूं जिससे वे लाडले बच्चों को उचित शिक्षा दे सकें। आप देखिए कि आपकी सन्तान के साथ कौन उठता-बैठता है ? आपके बच्चे कहां खेलने जाते हैं ? जिनके लड़कों के साथ वे खेलते हैं उन्हें भली-प्रकार पहचानिए, जिससे आपको अपनी सन्तान को बचाने का अवसर मिल जाए। स्वतन्त्रता बड़ी चीज है। बच्चों को खेलने की स्वतन्त्रता देनी चाहिए, परन्तु स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता में बड़ा भेद है। बच्चे अपना भला-बुरा नहीं समझते, उनमें अपने साथी चुनने की बुद्धि नहीं होती। उनका हृदय बड़ा कोमल होता है। उस पर भला-बुरा संस्कार शीघ्र पड़ जाता है। जो बच्चे होनहार होते हैं वे बुराई को जल्दी सीख लेते हैं, क्योंकि उनमें संस्कार को पकड़ने की शक्ति बड़ी प्रबल होती है।

---

1. Tribune, 24th February, 1952.
"The Swami's life is, in sense, the history of our national struggle. There are many very instructive and thaught provo-king pages in this book."
2. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 12

जो बच्चे कुन्द ज़हन होते हैं, वे जल्दी किसी संस्कार को पकड़ नहीं सकते। वे तभी बिगड़ते हैं, जब उनके पास कोई काम करने को नहीं रहता। बच्चा चाहे कुन्द जहन हो या तीव्र-बुद्धि, माता-पिता को उसकी रक्षा ऐसे ही करनी चाहिए, जैसे हम किसी छोटे पौधे की करते हैं। आपने बहुधा देखा होगा कि सड़क के किनारे पर जब वृक्ष लगाए जाते हैं तो उनके छोटे पौधों के इर्द-गिर्द ईंटों का घेरा बना देते हैं अथवा कांटों की बाड़ उनके चारों ओर खड़ी कर देते हैं जिससे कोई पशु उन्हें चर न जाए। इसी प्रकार छोटे बच्चे के इर्द गिर्द उनकी रक्षा के लिए बाड़ बनाने की ज़रूरत है, जिससे बुरे मनुष्य उन्हें खा न जायें। जिस समय वह पौधा बड़ा होकर वृक्ष हो जाता है तो उसके साथ बड़े-बड़े मस्त हाथी बांधे जा सकते हैं। ऐसे ही बच्चा जब सुन्दर संस्कारों में पलकर मनुष्य हो जाता है तो वह समाज में हिंसक पशुओं की तरह घूमने वाले स्त्री-पुरुषों को ठीक मार्ग पर ला सकता है। परन्तु प्रारम्भ में ही उसकी रक्षा का भार माता-पिता और उसके संरक्षक पर है। उस समय उसे स्वतन्त्र छोड़ देना पाप है, क्योंकि वह स्वतन्त्रता का अर्थ नहीं समझता। माता-पिता का धर्म सन्तान पैदा करना ही नहीं, बल्कि उन्हें सच्चरित्र नागरिक बनाना भी है।"[1]

यह वह युग था जब स्वामी दयानन्द सरस्वती की धार्मिक क्रान्ति संपूर्ण उत्तर भारत को प्रभावित करती चली जा रही थी. इसका प्रभाव विशेष रूप से पंजाब पर पड़ रहा था। इससे पूर्व ईसाई मिशनरी सम्पूर्ण भारत में मिशन स्कूलों तथा कालेजों का जाल बिछा चुकी थी। इन विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी तथा बाइबिल की शिक्षा अनिवार्य रूप से थी। इस प्रकार भारतवासियों को अंग्रेजियत के सांचे में ढालकर ईसाई बनाना इन शिक्षा संस्थाओं का एकमात्र उद्देश्य था। आर्यसमाज यह सब कैसे देख सकता था। महात्मा मुंशीराम तथा महात्मा हंसराज ने शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्तिकारी-युग का श्रीगणेश करके ईसाई पादरियों के प्रयत्नों को विफल कर दिया।

परिव्राजक जी अपने बाल्यकाल में ही आर्यसमाज के सम्पर्क में आ चुके थे जैसा कि वे अपनी आत्मकथा में लिखते हैं—

"इन्हीं दिनों मैंने स्वामी दयानन्द जी का अपना लिखा हुआ जीवन चरित्र पढ़ा। उसने मेरे हृदय को पकड़ लिया। संस्कृत पढ़ने और स्वामी जी के पदचिह्नों पर चलने की भावना मेरे अन्तःकरण के किसी कोने में जम गई। जब माता-पिताजी ने सबको दीपालपुर में बुला लिया तो मैंने वहीं पर आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। पिताजी के विरोध के कारण घर में कुरुक्षेत्र रहने लगा।"[2]

डी० ए० वी० कॉलेजों में शिक्षा प्राप्त करने वाला विद्यार्थी आर्यसमाज के प्रभाव से अपने आपको कैसे बचा सकता था। क्योंकि उनकी तो स्थापना ही आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार के उद्देश्य से की गई थी। उस समय के डी० ए० वी० कालेजों

---

1. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 16-17
2. वही, पृ० 32

और आज के डी० ए० वी० कालेजों में यही बड़ा भारी अन्तर था। इसलिए उन डी० ए० वी० कालेजों में शिक्षा प्राप्त करने वाला शिक्षार्थी आर्यसमाज का बहुत बड़ा प्रचारक होकर निकलता था। लाहौर के डी० ए० वी० कालेज में प्रवेश पाने से पूर्व परिव्राजक जी के हृदय पर आर्यसमाज की अमिट-छाप पहले ही लग चुकी थी। यहां आकर वह और भी सुदृढ़ हो गई।

परिव्राजक जी के परिवार वाले उनका विवाह कर देना चाहते थे इस सम्बन्ध में जो उन्होंने उत्तर दिया वह इस प्रकार है—

"विवाह तो मेरा है और मेरी मर्जी पर निर्भर है। दूसरे लोगों को अधिकार नहीं कि वे मुझे इसके लिए मजबूर करें। मेरी इच्छा घर बार छोड़कर साधु हो जाने की है।"[1]

इस प्रकार अपनी आत्मकथा में परिव्राजक जी ने यह स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि आर्यसमाज का ही प्रभाव था जिसने मुझे अपने पिताजी तथा परिवार वालों का दृढ़तापूर्वक सामना करने की शक्ति प्रदान की थी।

देखिए—"जिसने मुझे ऐसा बल दिया कि मैं अपने पिताजी के क्रोध का सामना कर सका और विवाह के फंदे से निकल सका। कितनी बार मैंने स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को हृदय से धन्यवाद दिया कि जिन्होंने मुझे अपने समाज की उन बेड़ियों को काटने का साहस दिया और मुझे स्वतन्त्रता की खोज करने वाला यात्री बनाया। यदि मैं स्वामी जी के जीवन-चरित्र को न पढ़ता तो कभी भी मुझे ऐसी आज़ादी के विचार न मिलते और मैं भी अपने स्कूल के सैकड़ों साथियों की तरह नौकरी की चक्की में पिस जाता।

अमरीकन कवि 'लांगफैलो' ने क्या ही सच कहा है—

"Lives of great men all remind us,
We can make our lives sublime,
Foot prints on the sands of time."

परिव्राजक जी के निर्माण में आर्य समाज के संस्कारों का, जो उन्होंने डी० ए०वी० कालेज के विद्यार्थी जीवन में प्राप्त किए थे उनका अमिट प्रभाव रहा। इसके अतिरिक्त अपनी माता से उसकी मधुर लोरियों के साथ जो संस्कार उन्हें प्राप्त हुए थे, वह भी उनके आजीवन पथ-प्रदर्शक बने रहे। जिसे उन्होंने अपनी आत्मकथा में 'स्वतन्त्रता के लिए पहला युद्ध' नामक प्रकरण में इन शब्दों में स्वीकार किया।

"किसी महान् राष्ट्र के कुशल राजनीतिज्ञ, उसकी शक्तिशाली संस्थाओं के निर्माता उसके आत्मज्ञान के स्तम्भ, उसके अनुभवी आचार्य और उसके त्यागी नेता, माता द्वारा दिये हुए निर्मल संस्कारों और शिक्षाओं के परिणाम होते हैं।[2]

---

1. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, 36-37
2. वही, 37

चरित्र-चित्रण

परिव्राजक जी का व्यक्तित्व एवं चरित्र उनकी स्वतन्त्रता की खोज में सर्वत्र अनुस्यूत है। उनकी आत्मकथा का महत्व उनके चरित्र में आने वाले परिवर्तन की अभिव्यक्ति के कारण है, घटना विशेष के कारण नहीं। वह मानव है, निरन्तर गत्यात्मक रूढ़ियों को अनवरत तोड़ने में संलग्न एवं सतत् सत्यान्वेषी, प्रयोगशाली है। परिव्राजक जी की इन पंक्तियों को देखिए—

"मनुष्य भी कैसा स्वार्थी है। अपने व्यक्तिवाद में फंसा हुआ वह केवल एकांगी दृष्टिकोण ही रखता है। वही उसके जीवन स्तर का एकमात्र माप है। यही कारण है कि मानव समाज दुःखों से परिपूर्ण रहता है। यदि हम अपना दृष्टिकोण सर्वांगपूर्ण बना लें और दूसरों के भले में अपना भला निहित कर लें, तो संसार का नक्शा बदल जाए। प्रत्येक काम करते समय हमें यह देख लेना चाहिए कि क्या हमारे इस काम से दूसरों की हानि तो नहीं होती---जीवन को पवित्र बनाने की यही कसौटी है।"[1]

परिव्राजक जी की आत्मकथा एक ऐसे व्यक्तिपूर्ण मानव की कथा है, जो बहुविध है, अनेकोन्मुखी है, विराट् है। वह बन्धन की परिधि को सर्वत्र नकारता है। वह यायावर है, जिसने बचपन से ही यायावरी—धर्म में दीक्षित होकर आजीवन इस धर्म का निर्वाह किया, जिसके लिए 'नान्यः पन्थः विद्यतेऽयनाय' की उक्ति सार्थकता प्राप्त करती है। इस यायावर ने देश-विदेश का पर्यटन कर घुमक्कड़ी-धर्म का तो निर्वाह किया है, साथ ही लेखनी द्वारा यात्रा-साहित्य को भी विकास प्रदान किया और 'यात्री-मित्र' जैसी रचनाएं लिखकर तरुणों को घुमक्कड़ी की शिक्षा भी दी। वह दार्शनिक था उसने स्वामी दयानन्द सरस्वती को अपना पथ-प्रदर्शक बनाया था। वह राजनीतिज्ञ है, जिसने गांधी जी के असहयोग आन्दोलन के माध्यम से राजनीति में प्रवेश किया। विविध धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बन्ध जोड़ तोड़ कर वह अन्त में नास्तिक हो गया और क्रान्तिकारी रूढ़िवादियों एवं सत्यान्वेषी के रूप में प्रख्यात हुआ।

बनारसीदास चतुर्वेदी आत्मकथा के चरितनायक के विषय में लिखते हैं, "दूसरे के जीवन में स्फूर्ति उत्पन्न करने वाला आत्मचरित लिखना किसी सजीव व्यक्तित्व वाले पुरुष का ही काम है।[2]" स्वतन्त्रता की खोज में का नायक इसी प्रकार का सजीव व्यक्तित्व सम्पन्न क्रान्तिकारी पुरुष है।

"आत्मकथा, लेखक का इतिहास-निर्माण में महत्वपूर्ण योग होता है। अतः वह प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, धार्मिक नेता अथवा समाज सुधारक होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति के विचार सुनने के लिए सामान्य जन-लालायित रहते हैं।[3] परिव्राजक जी की आत्मकथा

---

1. स्वतन्त्रता की खोज में, पृ० 175
2. आत्मकथा रामप्रसाद बिस्मिल—बनारसीदास चतुर्वेदी (सम्पादकीय से)
3. डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर-टी शिप्ले, पृ० 61

ऐसे मानव की आत्मकथा है, जो विभिन्न क्षेत्रों से सम्बद्ध है। एक ही पुरुष में विभिन्न रूपों को समाहित किए हुए है। 'स्वतन्त्रता की खोज में' का महान् पुरुष अपने में गति-शील सामूहिक चेतना प्रवाह को लिए हुए है, जिसकी विशालता एवं सौंदर्य पाठक को अभिभूत किए बिना नहीं रह सकते।

"आत्मकथात्मक कृति में चित्रांकन सहज नहीं होता। अपने बारे में लिखते समय लेखक का एकदम तटस्थ और निष्पक्ष रहना अत्यन्त कठिन हो जाता है। आत्मश्लाघा एवं शील संकोच की प्रवृत्ति इसमें बाधक है।"[1] "आन्द्रे मारवा" लज्जा संकोच की भावना को आत्मकथा लेखक के लिए सबसे बड़ी कठिनाई मानते हैं। निष्पक्ष भाव से अपने गुणों और दोषों की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए आत्मकथा लेखक में मन और चरित्र की विशेष शक्तियां अपेक्षित हैं। 'स्वतन्त्रता की खोज में' परिव्राजक जी ने तटस्थ होकर 'स्व' का विश्लेषण किया है। उनका गत्यात्मक व्यक्तित्व उसमें अंकित है जिससे पाठक उनके हृदय, भाव और अनेक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से अवगत हो जाता है। अपने चरित्र की सफलताओं के साथ वे उसके दुर्बल पक्ष का भी उद्घाटन करता है।

चारित्रिक दुर्बलताओं एवं अभावों की तरह परिव्राजक जी ने अपने गुणों का अपनी मान्यताओं एवं रुचियों-अरुचियों का संयमित एवं सचेत रूप से वर्णन किया है।

इस प्रकार परिव्राजक जी आत्म चरित्रांकन के प्रति सर्वत्र सजग प्रतीत होते हैं। उन्होंने शील संकोच एवं आत्म-श्लाघा की प्रवृत्ति में सन्तुलन स्थापित रखते हुए अपने गुण दोपों का सजीव एवं यथार्थ रूप से विश्लेपण किया है। वहां न दुराव छिपाव है, न स्वयं को महामानव घोषित करने की लालसा।

अन्य पात्र—आत्मकथा का प्रमुख पात्र लेखक स्वयं होता है। पर साथ ही वह उन व्यक्तियों का भी चित्रण करता है जो उसके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, जिन से वह स्नेह प्रेम प्राप्त करता है तथा जिनसे वह प्रभावित होता है। चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत अपने गुण-दोष वर्णन के साथ अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में यथार्थ मत प्रकाशन का साहस भी अनिवार्य है। जीवन-यात्रा में घनिष्ठ सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति जीवन को मधुर बना देते हैं। उनकी मधुर स्मृतियों को आत्मकथा लेखक स्वयं ही अंकित करता है।

देखिए—"इलाहाबाद में पं० मदनमोहन मालवीय जी ने मुझे अपने पास बुलाया। वे इन दिनों हिन्दी यूनिवर्सिटी बना रहे थे। वे थे देश के लब्ध प्रतिष्ठित लीडर और मैं था एक बिलकुल नया अमरीका से लौटा हुआ नौजवान। उनकी मेरी इस प्रकार बातें हुई—

मालवीय जी – 'सत्यदेव' तुमने अमरीका के विश्वविद्यालय देखे हैं और उनमें विद्याध्ययन किया है, तो मुझे यह बतलाओ कि मैं जो यूनिवर्सिटी बना रहा हूं उसमें

---

1. मेरी कहानी—जवाहरलाल नेहरू, पृ० 9

क्या-क्या विशेषताएं होनी चाहिए ?

मैं—मालवीय जी महाराज, मैं तो वर्तमान काल में इस देश में कोई विश्व-विद्यालय स्थापित करना नहीं चाहता। मुझे करनी है क्रान्ति, अतएव मैं तो देश के लोगों को साक्षर बनाना चाहता हूं।

मालवीय जी (हैरानी के लहजे में)—तुम विश्वविद्यालय के विरोधी ! तुमने अमरीका और योरोप घूमकर बड़े-बड़े विश्वविद्यालय देखे हैं, भला विश्वविद्यालय के बिना किसी देश का उत्कर्ष हो सकता है ?"

मैं (बड़ी नम्रता से) - पंडित जी महाराज, समय-समय की बात है। हमें तो इस देश में आजादी का सन्देश फैलाना है। हमें चाहिए कि गांव-गांव, कस्बे-कस्बे में पाठशालाएं खोल दें और पेड़ों के नीचे बैठकर लोगों को पढ़ावें, जिससे करोड़ों नर-नारी समाचार-पत्र पढ़ सकें और नेताओं के सन्देश समझ सकें। यदि हम विश्वविद्यालय बनाकर अपनी शक्ति केन्द्रीभूत कर देंगे तो विदेशी सरकार हम पर सहज में ही गोले-गोलियां छोड़ सकेगी। क्रान्ति करने वाले देश में शक्ति को केन्द्रित नहीं करना चाहिए बल्कि अपना व्यापक प्रचार रखना उचित है।"[1]

परिव्राजक जी राष्ट्रीय आन्दोलन के एक सक्रिय सेनानी थे। नेहरू-परिवार के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था। इसका उल्लेख उन्होंने अपनी आत्मकथा में विस्तारपूर्वक किया है। वह पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा पं० मोतीलाल नेहरू दोनों के सम्पर्क में आ चुके थे। वह अपनी आत्मकथा में इस प्रकार लिखते हैं—

"पंडित जवाहरलाल जी बड़े भावुक, सरल हृदय और ईमानदार व्यक्ति हैं। पं० मोतीलाल जी जिक्र करते थे कि एक बार योरोप यात्रा में मिसेज बीसेंट भी उसी अग्निबोट पर थीं, जिस पर वे जा रहे थे। जवाहरलाल जी ने पहले उन्हें नहीं देखा था। उस समय वे बालक ही थे। मिसेज़ बीसेंट के सामने बालक जवाहर हाथ जोड़कर खड़े हो गए और उस विदुषी रमणी का उनके हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। जब गांधी जी का सितारा चमका और जवाहरलाल जी उनके सम्पर्क में आए, तो वे कट्टर गांधी भक्त ही हो गए। लेकिन जब 1927 में भारतवर्ष के पोलीटिकल नेता पंडित जवाहरलाल जी सोवियत सरकार के निमन्त्रण पर अपने पूज्य पिता के साथ रूस गए और वहां क्रेमलिन में लेनिन की मूर्ति के सामने खड़े हुए तो इन्होंने वहां भी आत्मसमर्पण कर दिया। भारत-वर्ष का यह नेता अजीब मस्तिष्क रखता था। इसमें भावुकता की अधिकता है और कमी है विवेक की। जब इन्हें देवी बसन्ती से साक्षात्कार हुआ तो वे उसी के वश में हो गए, जब गांधी जी से भेंट हुई तो इन्होंने अहिंसात्मक आन्दोलन अपना लिया और जब लेनिन की मूर्ति के दर्शन हुए तो इनका झुकाव 'कम्यूनिज्म' की तरफ हो गया। जवाहरलाल जी में (Sentimentalism) अर्थात् भावुकता की प्रधानता है और वे इसीलिए आवेश में आकर अपना सन्तुलन खो देते हैं। जिस किसी बड़े आदमी के सम्पर्क में वे आते हैं उस

1. आत्मकथा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 138-39

का प्रभाव इन पर पड़ने लगता है। अपनी स्वतन्त्र सोचने और मौलिक सम्मति बनाने की उनकी प्रवृत्ति नहीं।"[1]

पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा का आरम्भ 'अब्राहम कारली' का उद्धरण देते हुए इस प्रकार किया है—

"अपने बारे में खुद लिखना मुश्किल भी है और दिलचस्प भी क्योंकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना खुद हमें बुरा मालूम होता है, और अगर अपनी तारीफ करें, तो पाठकों को उसे सुनना बागवहार मालूम होता है।"[2]

वस्तुतः परिव्राजक जी भारतीय संस्कृति के प्रतीक चरित्र हैं, जिनमें सर्वग्राहकता व गुण-ग्राहकता विशेष रूप से विद्यमान है। उन्होंने 'स्वतन्त्रता की खोज में' सर्वत्र अपना मत प्रस्तुत किया है, विपरीत विचारों वालों के मत का खण्डन भी किया है। परन्तु विरोधियों के प्रति कहीं हल्के शब्दों का प्रयोग नहीं है, प्रत्युत उनके गुण एवं दोष दोनों को स्पष्ट किया है। परिव्राजक जी ने अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण में पर्याप्त ईमानदारी से काम लिया है, जो 'आन्द्रे मारवा' के शब्दों में आत्मकथा के लेखक के लिए अत्यन्त कठिन कार्य है।

वातावरण-सृष्टि

वातावरण उन समस्त परिस्थितियों का संकुल नाम है, जिनमें आत्मकथा लेखक को जीवन-संघर्ष करना पड़ता है। डॉ० रामअवध द्विवेदी के शब्दों में—"किसी व्यक्ति को हम देश और काल से अलग नहीं कर सकते, क्योंकि उसका जीवन सामयिक और स्थानिक प्रभावों के संघात से ही विकसित होता है। आत्मकथा के लिए कालक्रम का निर्वाह भी अपेक्षित है।[3] आत्मकथा में देश काल का चित्रण वर्ण्य विषय की अभिव्यक्ति एवं चरित्रांकन के लिए प्रयोज्य है।

परिव्राजक जी की आत्मकथा में देश काल और वातावरण का तत्त्व विशेष रूप से उभरा है। उसमें विविध देशों की राजनीतिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों का यथार्थ अंकन हुआ है। उन्होंने अपनी जीवन-यात्रा में आए अनेक देशों एवं राष्ट्रों का सजीव वातावरण अंकित किया है। वस्तुतः उनकी जीवन-यात्रा देश-विदेश की राजनीतिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों से उत्पन्न वातावरण का वास्तविक विश्व-कोश है।

परिव्राजक जी की 'स्वतन्त्रता की खोज में' सन् 1879 से लेकर सन् 1950 तक के भारत, अमरीका तथा यूरोप के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिवेश का अंकन है। इसमें उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत के वातावरण के सुन्दर चित्र

---

1. आत्मकथा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 287
2. मेरी कहानी—पं० जवाहरलाल नेहरू—(इंगलिश) पृ० 1-2
3. साहित्य का रूप डॉ० रामअवध द्विवेदी—पृ० 133

हैं। सामाजिक स्थिति के अंकन में परिव्राजक जी ने भारतीय जन-जीवन में व्याप्त सामाजिक वैशम्य, जातिगत भेदभाव, सामाजिक रूढ़ियों एवं परम्पराओं के प्रति अन्ध-विश्वास, रीति-रिवाज, आदि का चित्रण किया है।

इस प्रकार परिव्राजक जी की आत्मकथा को हम उस समय के रूढ़िवादी भारत की बोलती-डोलती हुई तस्वीर कह सकते हैं। यह वह समय था, जब संस्कृत के अध्ययन और अध्यापन पर जन्मजात ब्राह्मणों का ही एकाधिपत्य समझा जाता था। फिर काशी के तो रूढ़िवादी पुराणपन्थियों का कहना ही क्या? ज्ञान की पिपासा परिव्राजक जी को काशी ले गई। वहां उन्हें रूढ़िवादी संस्कृतज्ञ ब्राह्मणों से लोहा लेना पड़ा। बड़ी-बड़ी कठिनाइयां सामने आईं, जिनका उल्लेख परिव्राजक जी ने अपनी आत्मकथा में इस प्रकार किया है—

"काल ने भारतवर्ष के इतिहास में भीषण कलाबाजियां करके दिखलाईं, भयंकर उथलपुथल हो गई, किन्तु काशी का पण्डित समुदाय टस से मस नहीं हुआ वह अपनी उसी पुरानी रूढ़िवादी चाल से चला जा रहा था। उसने शिक्षा का अभिप्राय यही समझा था कि ब्राह्मणों में संस्कृत का प्रचार बराबर बना रहे, समाज में फैले हुए कुसंस्कार दूर न होने पाएं, ब्राह्मणों का हिन्दू-समाज पर आधिपत्य बराबर बना रहे और प्राचीन दर्शनशास्त्रों की श्रद्धा वैश्य-समाज में वृद्धि पाए, जिससे प्राचीनता की अविरल धारा बहती रहे और आज का 'काशी का मुक्ति द्वार' हिन्दू जन-साधारण को अपनी ओर आर्कषित करता रहे--बस इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए काशी के विद्वान् सदा पुरुषार्थ करते रहे हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी उनकी यह भावना निरन्तर काम करती रही है। देश की राजनीति उसका अभ्युत्थान-पतन, उसकी भुखमरी, उसका जीवन-संग्राम और विदेशी समस्याओं ने कभी इन पण्डितों को चिन्ताग्रस्त नहीं किया। हिन्दुओं की राजनीतिक दासता को दृढ़ बनाने में पण्डित लोग मजबूत स्तम्भ सिद्ध हुए हैं।"[1]

सन् 1818 भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रथम विश्व-युद्ध में भारतीय जनता ने दिल खोलकर तत्कालीन ब्रिटिश शासकों की सहायता की थी। यहां के नौजवानों ने ब्रिटिश सेना में भर्ती होकर बड़ी वीरता से जर्मन सेनानियों का डटकर मुकाबला किया, फलस्वरूप विजयश्री अंग्रेजों को प्राप्त हुई। पर इसके बदले में मिला क्या?

रायल एक्ट जिसमें जन-अधिकारों का हनन किया गया था, थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता जो उस समय प्राप्त थी, उसे भी छीना जा रहा था। इसके विरोध में भारतीय जनता विद्रोही हो उठी। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक जैसे क्रान्तिकारी नेताओं के शब्दों में जनता कह उठी कि 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है।' जनता के ये शब्द तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्य को एक चुनौती थी। सन् 1857 में जो स्वतन्त्रता की आग अचानक भड़ककर शान्त हो गई थी, वह भी सर्वथा बुझने नहीं पाई थी। उसकी

---

1. स्वतन्त्रता की खोज में—पृ० 102-3

चिनगारियां अभी राख में दबी हुई थीं, वह समय पाकर भड़क उठीं। इसका भयानक रूप जलियांवाला बाग में देखने को मिला। इसका उल्लेख परिव्राजक जी ने इन शब्दों में किया है —

"जलियांवाला बाग में जो घटनाएं घटीं उनका असली रूप देश के नेताओं को मालूम हुआ तो उनका हृदय करुणा से भर गया। अंग्रेज़ी राज्य में ऐसा वीभत्स काण्ड हो सकता है, इसकी कल्पना उन्होंने कभी नहीं की थी। इंग्लैंड के प्रजासत्तात्मक राज्य-प्रबन्ध की प्रशंसा करते हुए हमारे लीडर अघाते नहीं थे और गांधी जी भी अंग्रेज़ों के गुणनुवाद गाने में सबसे आगे बाजी ले जाते थे, किन्तु अमृतसर की पाशविक घटनाओं ने सबके दिल दहला दिए और उन्हें पता लगा कि क्रुद्ध अंग्रेज का दिमाग न्याय को कितनी शीघ्रता से छोड़ देता है। सन् 1857 के अत्याचारों की बातें तो केवल-सुनी सुनाई, विदेशियों द्वारा लिखी-लिखाई पक्षपातपूर्ण मानी जाती थीं, किन्तु पंजाब के हत्याकांडों का नजारा इन अंग्रेज़ी पढ़े लिखे नेताओं के सामने आ गया, तब इनकी आत्मा भय से कांप उठी। अब तक जो अंग्रेज़ी सभ्यता, उनकी संस्कृति, उनका शिष्टाचार और उनकी पार्लियामेंटरी राज्य-व्यवस्था के पुल बांधते हुए नहीं थकते थे, अमृतसर के अमानुषिक कुकृत्यों ने उनकी आंखें सदा के लिए खोल दीं, उन्हें अब पता लगा कि पंजाब के जिन बहादुर वीरों ने योरोपीय महासागर में जाकर फ्रांस के मैदानों में कड़कड़ाते जाड़े में ब्रिटिश साम्राज्य की लाज रखी थी और जिनको इंग्लैंड ने उनकी सेवाओं के लिए अति उत्तम पुरस्कार देने का वचन दिया था, युद्ध जीतने के बाद अपना काम निकल जाने पर उसी इंग्लैंड ने अपने वायदों पर टनों खाक डाल दी और पंजाब की भूमि को रक्त रंजित कर उसमें अपना गौरव मानने लगा। इस भयंकर परिवर्तन ने भारतीय आत्मा को अत्यंत धूमिल कर दिया और वह लहू-लुहान होकर तड़पने लगी।"[1]

जलियांवाले बाग के हत्याकाण्ड की एक झलक दिखाने के उपरांत परिव्राजक जी अपनी आत्मकथा के इसी पृष्ठ पर राष्ट्र के लिए दिए जाने वाले बलिदानों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए देश की उन हुतात्माओं का स्मरण करते हैं जिनके बलिदानों ने नव-जागरण के युग का आरम्भ किया था। ऐसे अमर बलिदानियों को स्मरण करते हुए परिव्राजक जी देश की नई पीढ़ियों से कहते हैं :—

"बलिदान, जीवन ज्योति का स्रोत है। यदि आप समाज तथा राष्ट्र को उन्नति की ओर ले जाना चाहते हैं तो देश के प्रत्येक नागरिक में बलिदान की भावना भरिए। संसार में जो कुछ सर्वोत्कृष्ट है, जो स्फूर्तिदायक ग्रन्थ है, तथा जो सौन्दर्य से परिपूर्ण है, उसकी उत्पत्ति का मुख्य कारण बलिदान है।"[2]

विदेशों में शिक्षा प्राप्त किए हुए नवयुवक उस समय बड़े सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। तत्कालीन नेताओं की धारणा थी कि स्वतन्त्रता के उन्मुक्त वातावरण में

---

1. स्वतंत्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 216
2. वही—पृ० 217

शिक्षा प्राप्त करके आए हुए ये नवयुवक स्वतन्त्रता आंदोलन में उनके सहयोगी बनकर क्रांति का आह्वान करने में उनके सहायक होंगे। परिव्राजक जी ऐसे ही नवयुवकों में से एक थे। उस समय ब्रिटिश साम्राज्य के तत्त्वावधान में चलने वाली शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार जोर पकड़ रहा था। अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय भी नए विचार के मुसलमान-विचारकों के विद्यार्थियों की एक ऐसी संस्था थी, जहां उनके स्वतन्त्रता की भावना धीरे-धीरे पनप रही थी इस चिनगारी को सुलगाने के लिए किसी उन्हीं जैसे नवयुवक नेता की आवश्यकता थी।

महात्मा गांधी ने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए राष्ट्र के प्रति उनके कर्त्तव्य का ज्ञान कराते हुए स्वतन्त्रता-संग्राम में उनका आह्वान किया। किन्तु उनके व्याख्यान से यथेष्ट प्रभाव न पड़ा। विद्यार्थियों ने उनकी एक बात नहीं सुनी, तब मौलाना मोहम्मद अली जी उस समय स्वतन्त्र-संग्राम के एक बड़े सेनानी थे परिव्राजक जी के पास आए और बोले—"स्वामी जी आज हमारी लाज आपको रखनी होगी, आप विद्यार्थियों को ऐसी बातें सुना सकते हैं, जो उनके दिलों को हिला दे। मैंने उनकी बात मान ली और व्याख्यान प्रारम्भ किया।"[1]

"मेरे प्यारे विद्यार्थियो ! आज हम लोग आपके बीच में आजादी का बिगुल बजाने के लिए आए हैं। हमें ब्रिटिश जाति पर बड़ा विश्वास था और उसे ईमानदार तथा सच्चा समझते थे। इस योरोपीय जंग में हिन्दू-मुसलमान सिपाहियों ने अपना खून बहाकर इंग्लैंड की हिफाजत की है, लेकिन उसका बदला इंग्लैंड ने हमें क्या दिया— 'रौलेट एक्ट और जलियांवाला बाग ?' मुसलमानों ने हमेशा अंग्रेज सरकार की वफादारी से खिदमत की है, हिन्दुस्तानी मुसलमानों की केवल एक मांग थी—तुर्की के साथ हमदर्दी का सलूक ब्रिटिश प्रधानमन्त्री लार्ड जार्ज ने मुसलमानों की मांग को पूरा करने का वचन दिया था, लेकिन जब लड़ाई जीत ली गई, तो उन्होंने अपने वायदे पर टनों खाक डाल दी और तुर्की को नीचा दिखलाया। अब तुम्हीं सोचो कि क्या हम ऐसी सरकार के साथ सहयोग कर सकते हैं ? यदि हमारे में ज़रा भी आत्म-सम्मान का मादा है, तो सब प्रकार की कुर्बानी कर इस गुलामी के बन्धनों को काटना चाहिए।"

निष्कर्ष

इस प्रकार देश-काल एवं वातावरण के सजीव चित्रण परिव्राजक जी के साहित्य की प्रमुख विशिष्टता है। उनकी जीवन-यात्रा में इसका सजीव एवं स्वाभाविक समावेश उनकी रचना के महत्व का प्रतिपादक है। आत्मकथा-परक रचनाएं मूलतः इतिहास परक होती हैं। देश-काल के चित्रण द्वारा परिव्राजक जी इतिहास तत्व को उभार सके हैं। वातावरण के अंकन द्वारा वे स्वातन्त्र्यपूर्व एवं स्वातन्त्र्योत्तर भारत, यूरोप तथा अमरीका का सजीव इतिहास प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। वस्तुतः 'स्वतन्त्रता की खोज में' इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों के लिए पर्याप्त एवं प्रामाणिक सामग्री संग्रहीत है।

---

1. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 231

सप्तम अध्याय

परिव्राजक जी की कहानियां

इस युग में गद्य की लोकप्रिय विधा कहानी है। हिन्दी साहित्य की यह नई विधा बंग-भाषा के साहित्यकारों की देन कही जाती है। बंग-भाषा में गल्प के नाम से प्रसिद्ध ये कहानियां जब लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी थीं तो हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान साहित्य की इस नई विधा की ओर गया। हिन्दी में इस नई विधा को लाने वाले सभी साहित्यकार बंग-भाषा से परिचित थे। उनकी कहानियों के रूप-सज्जा बंगाली साहित्य की कहानियों जैसी ही होती थी। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की कहानियों का प्रारम्भ श्री गिरजा-कुमार घोष तथा बंग महिला की कहानियों से होता है। श्री घोष 'सरस्वती' में 'पार्वती नंदन' के नाम से कहानियां लिखा करते थे। जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इन शब्दों में स्वीकार किया--

"बंगभाषा से अनुवाद करने वालों में इंडियन प्रेस के मैनेजर बाबू गिरजाकुमार घोष, जो हिन्दी कहानियों में अपना नाम 'लाला पर्वतीनंदन' देते थे, विशेष उल्लेख योग्य हैं। उसके उपरान्त 'बंग महिला' का स्थान है जो मिरजापुर निवासी प्रतिष्ठित बंगाली सज्जन बाबू रामप्रसन्न घोष की पुत्री और बाबू पूर्णचन्द्र की धर्मपत्नी थीं, उन्होंने बहुत-सी कहानियों का भी बंगला से अनुवाद तो किया हो, हिन्दी में कुछ मौलिक कहानियां भी लिखीं जिनमें एक थी—'दुलाई वाली' जो सं० 1964 की 'सरस्वती' (भाग 8 संख्या 5) में प्रकाशित हुई।"[1]

सरस्वती में प्रकाशित हिन्दी की वे कहानियां, जिनसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी के आधुनिक कथा-साहित्य का युगारम्भ माना है बंगाली साहित्यकारों की कहानियों की रूप सज्जा से पूर्णतः प्रभावित जान पड़ती हैं। 'सरस्वती' में प्रकाशित इन कहानियों के विवरण आचार्य शुक्ल ने इस प्रकार दिया है—[2]

इन्दुमती	(किशोरीलाल गोस्वामी)	सं० 1957
गुलबहार	(,, ,,)	,, 1959
प्लेग की चुड़ैल	(मास्टर भगवानदास, मिरजापुर)	,, 1959
ग्यारह वर्ष का समय	(रामचन्द्र शुक्ल)	,, 1960

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास—छोटी कहानियां, पृ० 480
2. वही ,, ,,

पंडित और पंडितानी (गिरिजादत्त वाजपेयी) ,, 1960
दुलाई वाली (बंग महिला) ,, 1964

आश्चर्य है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'सरस्वती' में प्रकाशित हिन्दी की जिन आरम्भिक कहानियों का उल्लेख अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में किया है, उसमें परिव्राजक जी की इसी पत्रिका के अप्रैल सन् 1908 से लेकर जुलाई 1900 तक प्रकाशित होने वाली कहानी 'आश्चर्यजनक घण्टी' का कहीं उल्लेख नहीं किया। क्या इसका कारण यह तो नहीं है कि आचार्य जी अपने आपको हिन्दी का सर्वप्रथम कहानी लेखक लिखने की धुन में परिव्राजक जी को भूल बैठे, क्योंकि उन्होंने इन कहानियों का परिचय देते हुए अपने इतिहास में स्पष्ट लिख दिया है—

"यदि मार्मिकता की दृष्टि से भाव-प्रधान कहानियों को चुनें तो तीन मिलती हैं –'इन्दुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाई वाली'। यदि 'इंदुमती' किसी बंगला कहानी की छाया नहीं है तो हिन्दी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उप-रान्त 'ग्यारह वर्ष का समय' फिर 'दुलाई वाली' का नम्बर आता है।"[1*]

उपर्युक्त अवतरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी अपने आपको ही हिन्दी प्रथम कहानी लेखक सिद्ध करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने 'इन्दुमती' पर बंगला कहानी की छाया होने का सन्देह प्रकट कर दिया है। शुक्ल जी के संदेह पर आंख मींचकर विश्वास करने वाले यह कैसे स्वीकार कर लेंगे कि 'इन्दुमती' हिन्दी की पहली कहानी है।

परिव्राजक जी की कहानियां भी इसी प्रकार युगारम्भ की देन हैं। आज का कहानी-साहित्य बहुत उन्नत हो चुका है। जिसके सामने ये कहानियां अत्यन्त हलकी जान पड़ती हैं। भले ये कहानियां उस समय के प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं 'सरस्वती' 'माधुरी', 'विशाल भारत' में प्रकाशित हो चुकी हों—पर आज ये कहानियां तुलना में वर्तमान कहानी-लेखकों की अपेक्षा हल्की जान पड़ती हैं। अपने एकमात्र कहानी-संग्रह 'देवचतुर्दशी' की भूमिका में परिव्राजक जी लिखते हैं—

"उसी समय फ्रांस के प्रसिद्ध गल्प-लेखक 'डीमुपाजां' की अत्यन्त रोचक 'माला' नाम की कहानी का भावानुवाद मैंने सरस्वती में छपवाया। इसी प्रकार 'आश्चर्यजनक घण्टी' का भी जन्म हुआ। 'कीर्ति-कालिमा' में मैंने उस समय के भारतीय मज़दूरों की दुर्दशा का चित्र खींचा। ये मजदूर संयुक्तराज्य अमरीका के पैसेफिक कोस्ट पर सताए जा रहे थे। इन तीन कहानियों ने 'सरस्वती' के पाठकों को मेरे साथ भली प्रकार

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० 481
* हमने इन्दुमती कहानी को पढ़ा है, जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि वह बंगला कहानी का अनुवाद तो नहीं है पर शैक्सपीयर के नाटक "टैम्पसट' के कथानक के आधार पर लिखी जाने के कारण मौलिक भी नहीं कही जा सकती।

परिचित करा दिया और मैंने हिन्दी गल्प-संसार में प्रवेश किया।"[1]

इसी प्रकार अपनी अन्य कहानियों के प्रकाशन के विषय में परिव्राजक जी इसी पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—

"इस पुस्तक में चौदह कहानियां हैं और सभी अपने ढंग की निराली हैं। सबसे बड़ी कहानी 'फ्रांसीसी फन्दे' मैंने नई दिल्ली में बैठकर लिखी है। इसमें राहिन लैण्ड में जो अत्याचार फ्रांसीसी शासन द्वारा हो रहा था, उसकी झलक दिखलाई गई है।" 'साइबेरिया के जेल से सरहदी जेल में', 'लंगोटिया यार' और 'पंजाबिन माई'—ये तीनों कहानियां 'विशाल भारत' में निकल चुकी हैं। 'गंगा कहार' 'माधुरी' के विशेषांक में छप चुकी है, जिसे लोगों ने बहुत पसन्द किया था। 'फ्रान्सीसी फन्दे' 'महापुरुष के दर्शन','मेरी बेचैनी', 'भेंट का भंवर', 'शिकार के दाव 'पेंच' और 'हिन्दुत्व की चिनगारी'—ये नई कहानियां हैं।"

उनकी कहानियां उनके शब्दों में :—परिव्राजक जी का देवचतुर्दशी नामक एकमात्र संग्रह हमारे सामने है, जिसमें कुल मिलाकर चौदह कहानियां हैं।

साइबेरिया के जेल से सरहदी जेल में, लंगोटियां यार, महापुरुष के दर्शन, आश्चर्यजनक घण्टी, कीर्ति-कालिमा, माला, गंगा कहार, मेरी बेचैनी, हिन्दुत्व की चिनगारी, पार्टी-पौलिटिक्स के पाप, पंजाबिन माई, फ्रांसीसी फन्दे, शिकार के दाव-पेंट, भेंट का भंवर।

अपनी कहानियों के विषय में परिव्राजक जी स्वयं कहते हैं—-

"इस प्रकार यह संग्रह एक नई चीज है, क्योंकि जहां तक मुझे मालूम है, हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की विविध विषयक कहानियां आज तक नहीं लिखी गई, क्योंकि मेरा अनुभव विदेश का बहुत अधिक है। इस कारण मैं अपने अनुभवों को गल्पों का रूप देकर हिन्दी-पाठकों के सामने रखूंगा। गल्प द्वारा अत्यन्त कठिन विषय भी बड़ी आसानी से जन-साधारण को समझाया जा सकता है। हमारे जो अध्यात्मवाद के जटिल विषय हैं, मैं उन्हें गल्पों द्वारा अपने लोगों के सामने रखना चाहता हूं ताकि जनता उनका लाभ ले सके। मैं मौलिक कहानियां ही लिखूंगा। 'माला' और 'आश्चर्य जनक घण्टी' 'को छोड़कर बाकी सब कहानियां मेरे अपने मस्तिष्क की रचनाएं हैं। मुझे आशा है कि मेरा यह संग्रह साहित्य-सेवियों को पसन्द आएगा।

हिन्दी-कहानी के युगारम्भ में लिखी गई ये कहानियां फिर भी अपना महत्त्व इसलिए रखती हैं कि हम इन्हें पढ़कर तत्कालीन लोक-रुचि को जान सके। यद्यपि सरस्वती, माधुरी और विशाल भारत जैसे पत्र-पत्रिकाओं में किसी लेखक की रचनाओं का छपना उसकी श्रेष्ठता का प्रमाणपत्र नहीं हो सकता। ये तो संपादक का अपना दृष्टिकोण होता है कि वह किसी रचना को प्रकाशित करने योग्य समझे या उसे वापस लौटा दे। यदि ऐसा न होता तो प्रसाद जी की बहुत सी कहानियां सरस्वती के कार्यालय

1. देवचतुर्दशी—(भूमिका से)

से सधन्यवाद वापस न लौटा दी जातीं। हम परिव्राजक जी की कहानियों को इसलिए महत्त्व नहीं दे रहे हैं कि यह उस समय की सर्वश्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं हमें तो केवल यही देखना है कि हिन्दी के उस काल में कहानी-कला का क्या रूप था।

यहां हम उनकी सभी कहानियों की समीक्षा उनके प्रकाशन क्रम के अनुसार करेंगे :—

(1) साइबेरिया की जेल से सरहदी जेल में

इस कहानी के साथ दो कहानियां जुड़ी हुई हैं। एक कहानी है इंग्लैण्ड से डाक्टरी परीक्षा पास करके लौटकर आए हुए 'हीरालाल' नामक युवक की। जो अपने अध्ययन-काल में एक गौरांग रमणी के प्रेमपाश में फंस जाता है और उसी से विवाह करने का निश्चय कर लेता है। उसका पिता परिव्राजक जी से अपनी करुण कहानी कहता हुआ प्रार्थना करता है—जैसे भी हो परिव्राजक जी उसके युवा पुत्र को उस गौरंग रमणी के प्रेमपाश से मुक्ति दिला दें। परिव्राजक जी उस युवक को 'साइबेरिया के जेल से सरहदी जेल में' की कहानी सुना कर उसका हृदय परिवर्तन कर देते हैं। इसके वाद दूसरी कहानी आरम्भ होती है।

कहानी का आरम्भ इस प्रकार होता है—जारशाही का अन्त करके लेनिन और उसके साथी समस्त रूप से साम्यवाद का लाल झण्डा फहरा देते हैं। साम्यवादियों द्वारा लाई गई यह जन-क्रान्ति रूस की जनता के लिए अभिशाप बन जाती है। इस कारण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण कर कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक एक शब्द भी किसी से नहीं कह सकता था। ऐसा कहने वाले को राज्य का गुप्तचर विभाग गोली मार देता था। ऐसे समय में सड़क के किनारे खड़ी हुई वीस वर्षीय लड़की 'लीली अपने दुर्भाग्य पर आंसू वहा रही है। उसकी भेंट अचानक अपनी एक सहेली 'नैनो' से हो जाती है। वह 'लीली' को अपने घर ले जाती और उसे चाय पिलाती है। दोनों में वार्तालाप होता है, जिसमें 'लीली' ठण्डी सांस भरकर कहती है—

"क्या पूछती हो नैना ! हमारा देश बर्वाद हो गया है। शताब्दियों की पुरानी संस्कृति नष्ट हो गई। मैं तो अपने आपको भाग्यवती समझती हूं, जो मेरे घर के सब प्राणी वचकर किसी प्रकार यहां से निकल गए। अव स्विटजरलैण्ड हमारा घर है और मेरे पिता ज्यूरिच में रहते हैं। मैं अपनी दो बहनों की खोज में आई थी। ईश्वर की कृपा से उनको भी पा गई और वे भी यहां से निकलकर ज्यूरिच की ओर चली गई हैं। अब तुम अपनी सुनाओ।"[1]

इसके उत्तर में 'नैना' दुःख भरे स्वर में कहती है—

"क्या पूछती हो वहन ! इस बोलशेविक आंधी में मेरे सब सम्बन्धी मारे गए। मैं बोर्डिंग हाऊस में थी यह तो तुम्हें मालूम ही है, इसी कारण में बच गई। अब यहां

1. देवचतुर्दशी, पृ० 6

क्या रखा है ? मैं भी तुम्हारे साथ पश्चिमी योरोप की ओर चल दूंगी और मेहनत-मज़दूरी करके दिन काटूंगी।"[1]

यहां से कहानी एक नया मोड़ लेती है। उस समय भारत में अंग्रेज शासन करते थे। उन्हें इस बात का पता लगा कि हिज़रत करने वाले कई मुसलमान नवयुवक मास्को पहुंच गए हैं और वहाँ के उपदेशक स्कूल में बोलशेविज्म की तालीम पा रहे हैं। इससे अंग्रेज सावधान हो गए। उन्होंने मास्को में रहने वाले हिन्दुस्तानियों का पता लगाने का निश्चय किया। मुहम्मद हुसैन नामक एक नवयुवक को इस काम के लिए चुना गया, जो छः फिट का लम्बा तथा मजबूत जवान था। लेकिन था रंग का काला। रूसी गुप्तचरों ने उसे पकड़ लिया और अदालती नाटक रचकर उसे साइबेरिया की जेल में भेज दिया। वहां की शरीर को चीरने वाली ठण्डी हवा के झोंके खा-खाकर वह अपने दुर्भाग्य पर आंसू बहाने लगा। जो भाग्य में होता है वह होकर ही रहता है, यही 'लीली' के साथ भी हुआ।

सन् 1917 की प्रलय-आंधी, जिसने लाखों रूसी घरों के दीपक बुझा दिए थे, मास्को के लिए कुछ कम संहारकारिणी नहीं हुई थी। रूस का समाज बिलकुल छिन्न-भिन्न हो चुका था। उसके ढेर पर बोलशेविक लोग नए समाज की रचना करने में लगे हुए थे। ऐसी परिस्थिति में पुराने परिचितों का पता ठिकाना भला कहां मिल सकता था, लेकिन लीली बड़े धैर्य से पुलिस की आंख बचाकर, अपना काम करती रही, पर एक दिन भावी ने उसे आ ही घेरा।"[2]

मास्को में बोलशेविक गुप्तचरों का जाल बिछा हुआ था जब लीली एक चौराहे को पार करके अपने कमरे के निकट जाने वाली थी तब किसी अधेड़ आयु वाले व्यक्ति ने उसे रोककर अंग्रेजी में यह प्रश्न किया कि कृपया आप मुझे यह बताइए कि स्टेशन को कौन-सा रास्ता जाता है। लीली अंग्रेजी, फ्रैंच, और जर्मन भाषाओं में खूब निपुण थी। उसने उसे स्टेशन का रास्ता बता दिया। वह आदमी भी एक बोलशेविक गुप्तचर था जिसने उसका रहस्योद्‌घाटन कर दिया। वह पकड़ी गई। जज ने निर्णय दिया कि इस बदमाश लड़की को साइबेरिया में ले जाओ। साइबेरिया का नाम सुनकर लीली कांप उठी। बोली कि क्या बोलशेविकों के राज्य में भी 'साइबेरिया का दण्ड दिया जाता है।"[3]

ताने के लहजे में हाकिम ने कहा 'अब तुम्हें अपनी जबान भी मिल गई। गूंगो के लिए साइबेरिया ही अच्छी दवा है।' लीली क्रुद्ध होकर बोली—'आप मेरे सवाल का जवाब तो दीजिए। ऐसे ही अत्याचारों के कारण तो बोलशेविक लोग जारशाही को बदनाम किया करते थे और अब वे स्वयं भी वही कुकर्म कर रहे हैं।'

---

1. देवचतुर्दशी, पृ० 7
2. वही, हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० 9
3. वही, पृ० 13

दूसरे दिन वह और कैदियों के साथ पुलिस के पहरे में रेल द्वारा साइबेरिया भेज दी गई। वहीं उसकी भेंट 'मुहम्मद हुसैन' से होती है। मुहम्मद हुसैन के दिन जेल में कटने लगे। 'लीली' से दो-चार वार आमना-सामना तो हुआ, परन्तु कोई अपने हृदय की बात एक दूसरे से नहीं कह सका।

अन्त में उसने लीली से कह दिया कि वह उसके प्रेम का भिखारी है। वह हिन्दुस्तान का रहने वाला है। यह नाम कैसा प्यारा है। बचपन से उसके पिता हिन्दू फिलासफी की बातें सुनाया करते थे, तभी से इस प्राचीन देश की संस्कृतिक के लिए उसके हृदय में बड़ी श्रद्धा थी। इस अजीव देश को देखने की प्रबल लालसा उसके मन में बनी हुई थी। क्या वह स्वप्न सच्चा सिद्ध होगा? यही वह सोचने लगी। मुहम्मद हुसैन खां के प्रति उसके हृदय में दया, करुणा और सहानुभूति के भाव जाग उठे, लेकिन उनमें प्रेम का अंश नहीं था। वह सोचने लगी और गम्भीर-भाव से सोचने लगी।

मुहम्मद हुसैन लीली के पैरों पर गिरकर प्रेम की भिक्षा मांगने लगा—

"रमणी का हृदय बड़ा कोमल होता है। दया उसकी आत्मा का भूषण है। वह अपने आन्तरिक भावों का बलिदान कर दया करना जानती है। पापी पुरुष उसके इस दैवी-गुण को रमणी की निर्बलता कहते हैं और इसीलिए उसका नाजायज़ फायदा उठा-कर अपने मनुष्यत्व को कलुषित करते हैं। लीली ने अपने भावों को प्रकट कर दिया कि उसने मुहम्मद हुसैन की वात मान ली है। दोनों अपने-अपने काम पर चले गए।"[1]

यह सन् 1922 की बात है। मार्च का महीना था। साइवेरिया में बर्फ के टीले खड़े हो गए थे। कैदी बेचारे अपनी-अपनी कोठरियों में ठिठुर रहे थे। यद्यपि उन्हें कम्बल और जलाने के लिए लकड़ी मिलती थी, पर उससे साइवेरिया का भयंकर जाड़ा नहीं जाता था। मुहम्मद हुसैन अपनी कोठरी में ज़मीन पर कम्बल बिछाए हुए बैठा था। इतने में जेलर ने उसकी कोठरी का दरवाज़ा खोला। कैदी फौरन खड़ा हो गया और जेलर को सलाम किया। जेलर हंसकर बोला 'तेरी सरकार ने आखिर तुझे छुड़ा लिया।"[2] अब तू तैयार हो जा। मास्को की गाड़ी जाने में एक घंटे की देरी है। थोड़ी देर के बाद मैं लौटकर आता हूं।

मुहम्मद हुसैन ने घुटने टेककर खुदा से दुआ मांगी तू बड़ा रहमी है परवर्दिगार। तूने मेरी अर्ज कबूलकर ली, तू गुनाहगारों को भी माफ करता है। सचमुच यह रिहाई तूने उस लड़की लीली की खातिर ही दी है। मैं उसका एहसान कभी न भूलूंगा। जब तक जिऊंगा, उसे अपनी जान से अजीज़ रखूंगा और कभी उसकी मर्जी के बरखिलाफ कोई काम नहीं करूंगा।"[3]

मुहम्मद हुसैन को साइवेरिया छोड़े हुए चार महीने हो चुके थे, लीली को उसकी

---

1. देवचतुर्दशी, पृ० 14
2. वही, पृ० 15
3. वही, पृ० 15

रिहाई का हाल मालूम था और यह भी विश्वास था कि वह मुझे छुड़ाने में कोई कसर नहीं रखेगा, एक दिन जेलर ने उससे पूछा कि क्या तू उस काले हिन्दुस्तानी को चाहती है ? लीली ने कुछ उत्तर नहीं दिया, वह जेलर का मुंह ताकती रही। जेलर ने फिर कहा--'वह हिन्दुस्तानी कैदी तुझसे मुहब्बत करता है, यह मैं समझ सकता हूं, क्योंकि तुझसे कौन मुहब्बत नहीं करेगा, लेकिन क्या तू भी उससे मुहब्बत करती है ? मैं बड़ी खुशी से तेरे साथ शादी करने को तैयार हूं। मेरे जैसे अपने देशवासी को छोड़कर तू उस काले आदमी को कैसे प्यार कर सकती है।"[1]

"एक युवा रमणी अपनी छोटी लड़की के साथ इस जहाज पर थी। लड़की का नाम था अतिया। यह नाम सुनकर मैं चौंक पड़ा। उस प्यारी लड़की के साथ मैं बराबर खेला करता। इसी वजह से उसकी माता के साथ भी मेरी जान-पहचान हो गई। मुझे पता लगा कि वह रूस की रहने वाली है, और उसने एक भारतीय मुसलमान से विवाह कर लिया है। जिसके फलस्वरूप यह लड़की है।"[2]

कई वर्ष बाद पेशावर की युवक सोसायटी ने मुझे भाषण देने के लिए बुलवाया—

"अपना दौरा समाप्त कर मैं लौट आया। कुछ दिनों बाद मुझे मालूम हुआ कि लीली की दशा सचमुच बड़ी करुणाजनक है। लीली ने एक पत्र बम्बई के स्विस सौदागर को भी लिखा था और इस बात की अपील की थी कि वह उसे इस कैदखाने से मुक्ति दिलावे। उस पत्र को लेकर वह बम्बई पुलिस कमिश्नर के पास गया, जिसने उसे सलाह दी कि वह उस बखेड़े में न पड़े, क्योंकि उस लड़की ने अपनी इच्छा से मुस्लिम के साथ विवाह किया है, गवर्नमेंट इसमें हस्तक्षेप नहीं करेगी। वह बेचारी अपने योरोपीय अधिकार खो चुकी है, क्योंकि उसने एक मुसलमान के साथ विवाह कर लिया है। निराश होकर वह बेचारा चुप बैठ गया।"[3]

कहानी कला की दृष्टि से इस कहानी को यहीं समाप्त हो जाना चाहिए था। कहानी का अन्त ऐसे स्थान पर होना चाहिए जहां पाठक के हृदय में हर्ष, शोक, करुणा, दया, ममता, स्नेह आदि मनोविकारों में से किसी एक की 'अनुभूति जागृत' होकर उसके हृदय में पात्रों या पात्र विशेष के प्रति गहरी अनुभूति जागृत कर दे। पर यहां ऐसा नहीं हो सका।

लेखक पिछली कहानी का सम्बन्ध इस कहानी से जोड़ने के लिए फिर पिछली कहानी की ओर मोड़ लेता हुआ कहता है—

"मुझे उन अभागी योरोपियन लड़कियों पर बड़ी दया आती है, जो अज्ञानवश जोश में आकर हिन्दुस्तानी नवयुवकों के साथ अपना घर बार छोड़कर चल देती हैं।

---

1. देवचतुर्दशी, पृ० 17
2. वही, पृ० 20
3. वही, पृ० 22

भारत की सामाजिक दशा का उन्हें ज्ञान नहीं होता और न उन्हें यहां के मजहबी भेदों का ही पता होता है। योरोपीय समाज ऐसे विवाहों को किस घृणा की दृष्टि से देखता है, इसकी जानकारी भी उन्हें नहीं होती। भावुकतावश वे भारत की ओर चल देती हैं और पीछे अपने किए पर पछताती हैं।"[1]

इस प्रकार कहानी यहां एक नया मोड़ लेकर लेखक के कहानीकार पर आवरण डाल देती है। वह कहानीकार न रहकर एक उपदेशक मात्र रह जाता है। उपदेश की यह वृत्ति उस युग के सभी कहानी लेखकों में थी। प्रेमचन्द, श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा, श्री सुदर्शन आदि की कहानियां इसकी साक्षी हैं। फिर आगे चलकर लेखक कहता है—

"लेकिन लीली की कथा तो लेखक की अनुभव चीज़ है। यह एक चेतावनी उन नवयुवकों के लिए है, जो विदेश में जाकर अबोध लड़कियों को बहका कर ले आते हैं, जो अपने विषय-भोग की लालसा से उन लड़कियों की जिन्दगियों को बर्बाद करते हैं। जब तक भारत स्वतन्त्र न हो, यहां की सामाजिक अवस्था न सुधरे, भारतीय संस्कृति का प्रचार योरोप में न हो जाए, तब तक अन्तर्राष्ट्रीय-विवाह केवल दुःखान्त होने के और कोई परिणाम पैदा नहीं कर सकते।"[2]

पाठक तो केवल इतना ही जानना चाहता था कि एक विदेशी से विवाह करके 'लीली' को किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। ये इतना लम्बा-चौड़ा भाषण जो पाठकों को सुनाया गया उसका न तो कहानी से कोई सम्बन्ध है और न पाठकों का ही उसके प्रति कोई आकर्षण है, क्योंकि उनकी जिज्ञासा का अन्त तो वहीं हो जाता है।

श्रेष्ठ कहानी की विशेषता तो पाठक के हृदय में आगे क्या हुआ की जिज्ञासा जागृत करना ही होती है। यदि इस प्रकार की जिज्ञासा जागृत न हो तो कहानी को आगे पढ़ेगा कौन ? इसके उपरान्त लेखक कहानी को समाप्त करते हुए कहता है—

"हीरालाल के सामने जब मैंने अपने इन अनुभवों को कहा तो उसने अंग्रेज युवती के साथ विवाह करने का अपना इरादा छोड़ दिया और प्रतिज्ञा की कि वह हिन्दू लड़की से ही विवाह करेगा। कुछ महीनों बाद मेरे पास उसके परिवार की ओर से धन्यवाद सूचक पत्र आया कि हीरालाल ने बम्बई में एक सुयोग्य ब्राह्मण कन्या के साथ शादी कर ली है।"[3]

कहानी तो स्वयं अपने में ही उपदेश होती है। सफल कहानी लेखक कहानी के माध्यम से जो अमिट प्रभाव पाठक के हृदय पर छोड़ जाते हैं, उसमें उनका उपदेश मुखर हो उठता है। प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्दयुगीन लेखकों की यही विशेषता थी कि वह स्वयं उपदेश न देकर कहानी के माध्यम से ही कुछ ऐसा प्रभाव पाठक के हृदय पर छोड़ जाते

---

1. देवचतुर्दशी, पृ० 23
2. वही, पृ० 23
3. वही, पृ० 24

हैं, जो उसके लिए मार्ग-दर्शक का काम करता था।

(2) लंगोटिया यार

यह इस संग्रह की दूसरी कहानी है। साहित्यकार जो लिखता है सभी स्थायी नहीं होता। उसमें कुछ ऐसा भी होता है जो अपने देशकाल की एक ऐसी तसवीर को सामने लाता है जो समय के साथ-साथ पुरानी भी पड़ जाती है। इसका कारण है लेखक का उस काल की उन परिस्थितियों से घिरे रहना, जो समय की आंधी से इस प्रकार उड़ जाती हैं कि फिर कभी उनका पता नहीं चलता। कहानी का शीर्षक 'लंगोटिया यार' अवश्य कुछ ऐसा है जो पाठक के मन में कौतूहल और जिज्ञासा को जागृत कर देता है। क्योंकि लंगोटिया यार हर किसी के लिए नहीं लिखा जाता, केवल उसी व्यक्ति के लिए इसका प्रयोग किया जाता है जो एक ऐसा मित्र बनकर रहा हो जो जीवन की गुप्त रहस्यों से परिचित हो। खैर, जो भी हो परिव्राजक जी अपने एक ऐसे ही मित्र की चर्चा इस कहानी में करते हैं। कहानी का सम्बन्ध हिन्दी प्रचार से है। इसके नायक हैं स्वामी शिवानन्द। इसमें उन्होंने अपने एक सहपाठी मित्र की चर्चा एक डिप्टी कमिश्नर के दफतर में लिपिक का काम करने वाले अपने एक भक्त से इस प्रकार की है—"इस वार के दौरे में मुझे अपने एक लंगोटिये यार से मिलने का अवसर मिला कि उसके मिलने से मेरे दिल पर गहरी चोट लगी। आपसे चूंकि मेरा घनिष्ट सम्बन्ध है इस कारण आपको पूरा ब्यौरा वतलाने में हर्ज नहीं। जब मैं एंट्रेंस में पड़ता था तो मेरे साथ मेरी क्लास में एक कश्मीरी ब्राह्मण लड़का था, हम दोनों पक्के दोस्त थे। लंगोटियार ही समझिए। लेकिन उसमें स्वार्थ की मात्रा बहुत अधिक थी और वह डरपोक भी अव्वल दर्जे का था। हम दोनों मैट्रिकुलेशन में पास हो गए। वह गवर्नमेण्ट कालेज में चला गला और मैं डी० ए० वी० कालेज में दोनों जुदा हो गए। स्नेह बराबर बना रहा। मैंने किसी आकस्मिक कारणवश कालेज छोड़ दिया और संस्कृत पढ़ने के लिए कानपुर चला आया। सालों बीत गए जीवन धाराओं ने अलग-अलग रास्ता पकड़ा। मुझे अपना बाल्यकाल भूल-सा गया। विद्यार्थी जीवन भी कैसा अलबेला होता है, उस समय के यार-दोस्त जीवन का अंग बन जाते हैं, उस काल की स्मृतियां कैसी मधुर होती हैं। एक पंजाब के दौरे में मुझे अपने बाल्यकाल के कई स्थल देखने को मिले। वह काश्मीरी लड़का अपने बाप के पास जब अमृतसर गया था तो मैं उससे मिलने अमृतसर गया। वहां भी उसने अपनी स्वार्थपरता का परिचय दिया।

"सनातन-धर्म के अहाते में मेरे व्याख्यान हुए, खूब जनता टूटी। पंजाबियों में अपने धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा होती है। एक संध्या को व्याख्यान के बाद विद्यार्थियों के आग्रह पर मैं खालसा कालिज चला गया वहां पर मुझे अचानक यह बात मालूम हो गई कि मेरा वह लंगोटिया यार इस कालेज में साइन्स का प्रोफेसर है। मैंने विद्यार्थियों से कहा कि

1. विशाल भारत—सितम्बर, सन् 1931, पृ० 291-95

मेरे भोजन आदि का प्रबन्ध न करें। मैं अपने मित्र के यहां, आज की रात रहूंगा। मेरा मित्र कालेज के अहाते में रहता है, एक विद्यार्थी मुझे वहां तक पहुंचाने के लिए आया। मैंने दरवाज़ा खटखटाया। दरवाज़ा खुला और मेरे बाल्यकाल का मित्र मेरे सामने खड़ा था। दाड़ी-मूंछ सफाचट, वैसा ही दुबला-पतला शरीर, सूखा चेहरा उसके चेहरे पर मानो हवाइयां उड़ रही थीं। मुझे देखकर वह डर गया। मैंने पूछा कहो मित्र क्या हाल-चाल है? उसने ज़रा खांसकर कहा, अच्छा हूं ग्रेजुएट होने के बाद आकर मैंने साइन्स की प्रोफेसरी कर ली, मजे से गुज़र रही है। कुछ देर तक हम लोग चुप रहे।

"पुराने बचपन के दृश्य मेरे सामने एक-एक कर आने लगे। मैं सोचने लगा सत्रह वर्ष के बाद अपने सहपाठी से मिलने आया हूं। मैंने इसके लिए कितने कष्ट सहे हैं। इस भले मानस ने मेरा साधारण आतिथ्य सत्कार भी नहीं किया। भोजन तक के लिए भी नहीं कहा। इस प्रकार के संकल्प-विकल्प मेरे मन में उठ रहे थे। आखिर मैंने कहा। घड़ी में कै बजे होंगे, उसने घड़ी देखकर उत्तर दिया अभी बहुत देर नहीं हुई केवल 9-30 बजे हैं। इतना कहकर वह चुप हो गया। मैं सोच में पड़ गया कि वह मुझे चले जाने का इशारा करता है, बड़ा बेहया है। क्यों इसने मेरे साथ इस प्रकार का व्यवहार किया। मैं रस्सी का दूसरा छोर देख लेना चाहता था इसीलिए मैंने कहा—आज रात को मैं तुम्हारे यहां सोऊंगा। बहुत वर्षों के बाद मिले हैं, वर्षों की कसर निकालेंगे। मेरे प्रोफेसर मित्र का चेहरा फक हो गया। इसके बाद उसने दृढ़ता से कहा—मैं आपको नहीं ठहरा सकता। मुझे पुलिस से डर लगता है। आपके यहां ठहरने से मुझे खुफिया पुलिस हैरान करेगी, क्योंकि आप भी हिन्दी भाषा का प्रचार करते फिरते हैं। मैं दरवाज़ा खोलकर बाहर निकल गया।

स्वामी शिवानन्द जी इतना कहकर चुप हो गए। इसके बाद ठण्डी सांस लेकर उन्होंने कहा—पंजाब की वीर-भूमि और यह दशा।"

कहानी को पढ़कर लगता है कि जैसे शिवानन्द का मुखौटा लगाकर परिव्राजक जी ही कथाभूमि पर नायक के रूप में अवतरित हुए हों। कहानी कला की दृष्टि से कैसी है इसकी मीमांसा तो हम पीछे करेंगे, किन्तु पहले हम यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि यह कहानी उस समय के सुप्रसिद्ध पत्र 'विशाल भारत' में प्रकाशित हो चुकी है। प्रतिष्ठा प्राप्त पत्रों में किसी कहानी, लेख अथवा कविता का छप जाना ही यदि उस पर श्रेष्ठता की मोहर लग जाना मान लिया जाय तो इसे निःसंकोच श्रेष्ठ कहानियों में स्थान दिया जा सकता है।

हमारी दृष्टि में इस कहानी में ऐसी विशेषता है जो पाठक के हृदय पर अपना ऐसा प्रभाव छोड़ दे, जिसे वह भुला न सके।

कहानी में जीवन-दर्शन का भी एक प्रकार से अभाव है। जीवन की लम्बी यात्रा में अनेक लोग मिलते रहते हैं। वह अपना भला-बुरा प्रभाव हमारे हृदय पर छोड़ जाते हैं। कुछ स्वार्थी लोग अवश्य ऐसे मिल जाते हैं जिनके कारण हमें कभी-कभी ऐसी क्षति उठानी पड़ती है, जिसकी पूर्ति कभी नहीं हो पाती। वह हमें ऐसा ज्ञान सिखा जाते हैं जिसे

जीवन-भर भी नहीं भूल पाते। इस प्रकार की घटना को लेकर यदि कहानी लिखी जाती है तो वह अवश्य ही अपना प्रभाव पाठक के हृदय पर छोड़ जाती है। फिर भी कहानी की यह विशेषता है कि वह हिन्दी-प्रचार में अपना जीवन खपाने वाले राष्ट्रभाषा के प्रेमियों और प्रचारकों के जीवन में आने वाली उन परिस्थितियों को लाकर रख देती है जिनका सामना उन्हें अंग्रेजी सभ्यता के रंग में रंगे हुए हिन्दी-विरोधियों के कारण करना पड़ा। यदि परिव्राजक जी स्वामी शिवानन्द का मुखौटा लगाकर यह कहानी नहीं सुनाते तो अवश्य ही हमारे सामने यह समस्या आकर खड़ी हो जाती कि हम इसे कहानी कहें या संस्मरण। परिव्राजक जी का स्थान स्वामी शिवानन्द जी के ग्रहण कर लेने पर यह कहानी संस्मरण न रहकर कहानी का रूप ले लेती है। फिर भी इसमें कहानी के तत्त्वों का एक प्रकार से अभाव है।

(3) महापुरुष के दर्शन

इस संग्रह में परिव्राजक जी की तीसरी कहानी है महापुरुष के दर्शन। यह परिव्राजक जी की कहानी उन्हीं की जवानी सुनने को मिली है। कहानी उस समय की है जब इग्लैण्ड में गोलमेज़ कान्फ्रेंस के लिए भारत के प्रतिनिधियों को तत्कालीन सम्राट की ओर से निमन्त्रित किया गया था। दूसरे विश्वयुद्ध की भूमिका बांधी जा रही थी। संसार प्रथम विश्वयुद्ध के विनाशकारी रूप को देख चुका था। इस दूसरे विश्वयुद्ध के विरुद्ध सभी देशों की पत्र-पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित हो रहे थे। युद्ध-विरोधी भाषण दिए जा रहे थे। इस पृष्ठभूमि पर कहानी का आरम्भ इस प्रकार होता है—

"बर्लिन के कुछ क्वेकर मित्रों ने मेरे पास निमन्त्रण भेजा और आग्रह किया कि मैं जर्मनी आकर युद्ध के विरुद्ध कुछ व्याख्यान दूं। संसार में शान्ति की स्थापना और युद्ध को सदा के लिए बन्द करने के उद्देश्य से आजकल कई एक भद्रपुरुष और महिलाएं अपनी सारी शक्ति योरोप की जनता को यह पवित्र शिक्षा देने में लगा रही हैं।"[1]

जर्मनी में बहुत से लोग युद्ध-विरोधी विचारों के भी थे। क्वेकर लोग सदियों से युद्ध के विरुद्ध व्यापक प्रचार कर रहे थे। इन्हीं लोगों ने परिव्राजक जी के पास निमन्त्रण भेजकर आग्रह किया था कि जर्मनी की अंग्रेजी जनता के सामने अपने विचार प्रकट करें, जो बाद में अनुवाद करके समाचार पत्रों में छपवा दिए गए। अपनी राम कहानी सुनाते हुए परिव्राजक जी आगे चलकर कहते हैं—

"मैंने चूंकि उस समय न्यूयार्क में एक व्याख्यान-माला प्रारम्भ की हुई थी इसलिए अपने मित्रों को उत्तर लिख भेजा कि व्याख्यान-माला पूरी होते ही मैं अटलांटिक महासागर को पार करूंगा। जब व्याख्यान-माला समाप्त हुई तो मैंने योरोप जाने की तैयारियां की। आजकल की तैयारियां भी क्या हैं? मामूली सामान लेकर यात्री अमरीका

---

1. विशाल भारत—सितम्बर, सन् 1931, पृ० 37

से योरोप और योरोप से अमरीका जाते-आते रहते हैं।"[1]

परिव्राजक जी आगे चलकर कहते हैं—"मेरे व्याख्यान शहर के क्लबों में हुए। लोगों में युद्ध के विरुद्ध अच्छी जागृति देखकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। मैं अपने व्याख्यान के प्रोग्रामों में लगा हुआ था कि समाचार पत्रों में यह खबर छपी—मिस्टर गांधी लन्दन के लिए रवाना हो गए हैं। मैं तो खुशी के मारे उछल पड़ा। मेरे पास महात्मा गांधी जी का एक पत्र पहले ही आ चुका था। मैं महात्मा गांधी से भेंट करने वहां पहुंचा, जहां उन्हें सबसे पहले हालैण्ड की भूमि पर पैर रखना था। सितम्बर के शनिवार की वह सुबह मेरे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इंग्लैण्ड चैनल को पार करने वाले स्टीमर की इन्तज़ार में मैं उस प्रातःकाल 'फोकस्टोन' के बन्दरगाह पर खड़ा था। मैं सरकारी अधिकारी के साथ बातें कर रहा था। ब्रिटिश सरकार ने पुलिस का एक दस्ता महात्मा गांधी की रक्षार्थ भेजा था। मैं उन्हीं के अफसर के साथ बातें करने में मशगूल था। हम लोग पहले तो इधर-उधर के विषयों पर बातचीत करते रहे, अचानक ही उसने अपना हाथ उठाया और इशारा करके कहने लगा—"क्या आप उस ज़मीन के टुकड़े को देखते हैं। वह जो सफेद पहाड़ियों के पास उत्तर की ओर 'डोवर' की तरफ है। यह वह स्थान है जहां पर विख्यात रोमन विजेता 'जूलियस सीजर' अपनी फौजें लेकर ब्रिटेन फतह करने के लिए आया था।" उसके इन शब्दों के साथ भारत के इस घुमक्कड़ संन्यासी की विचारधारा एक नया मोड़ लेती है जो कहानी-कला की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती है। यह मोड़ कहानी को ऐसा भावात्मक रूप दे देता है जिसके कारण लेखक की यह रामकहानी कला के सांचे में ढलकर उसकी अपनी कहानी न रहकर तत्कालीन ब्रिटिश शासन में सांस लेने वाले प्रत्येक पददलित और पदाक्रान्त भारतवासी की रामकहानी बन जाती है। महात्मा गांधी का योरोप में वह पदार्पण किसी भी इतिहास के भारतीय विद्यार्थी को सोचने के लिए विवश कर सकता था। परिव्राजक जी के शब्दों में उसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है—

"इंगलिस्तान को विजय करने के लिए! यह शब्द मेरे कान में गूंजने लगे। मेरे सामने रोमन इतिहास का वह चित्र खिंच गया, जब सीजर अपनी दुर्दमनीय सेना के साथ इंग्लैण्ड की भूमि पर उतरा था। उसकी बीसवीं रेजीमेण्ट इस भूमि पर तीन सौ वर्ष तक पड़ी रही और इंग्लैण्ड के लोगों पर शासन किया। वह चित्र उस रोमन विजेता का मेरी आंखों के सामने कुछ मिनटों तक रहा। इसके बाद एक दूसरा पर्दा उठा। सीजर के एक हज़ार वर्ष के बाद दूसरा विजेता इंग्लैण्ड की भूमि पर अपनी सेना लेकर आया—नौमंडी का वह वीर सेनापति विजयी विलियम प्रथम जिसने इंगलिस्तान के निवासियों को पराजित कर यहां पर अपना उपनिवेश कायम किया। यह विजेता फौक्सटोन से कुछ मील दक्षिण की ओर पैन्सकाई में उतरा था और यहां के सैम्सन लोगों को उसने बड़ी

1. विशाल भारत—सितंबर, सन् 1931, पृ० 38

विकट पराजय दी थी। एक हज़ार वर्ष और बीत गए। इंगलिस्तान के लिए, विजयी विलियम की, पराजय-कथा मात्र रह गई।[1]

"अब एक तीसरा आक्रमणकारी एक हज़ार वर्ष के बाद फिर इंगलिस्तान की भूमि पर उतरता है। उसका स्टीमर कुछ ही मिनटों में इस बन्दरगाह पर आ लगेगा। उसके पास कोई फौज नहीं। वह अपने साथ कोई भयंकर हथियार मनुष्यों का संहार करने के लिए नहीं लाया। वह किसानों के लहलहाते खेतों, सुरम्य उद्यानों, घने जंगलों और बसते हुए नगरों को उजाड़ने के लिए नहीं आया। उसका मिशन घृणा का नहीं और न वह किसी से द्वेष रखता है। वह प्रेम का सन्देश देने के लिए आया है। उसका हथियार अहिंसा है, जो सब प्राणियों को अभयदान देना है। पिछले दो विजेता इंग्लैण्ड को पैरों तले रौंदने के लिए आए थे, उसका मान मिटाने के लिए आए थे, और उस पर शासन करने के लिए उन्होंने शस्त्रों का प्रयोग किया था। परन्तु यह विजेता अपने ढंग का निराला है, जो संसार के इतिहास में एक नया युग लाने वाला है। यह मनुष्यों के हृदय पर विजय पाता है। इस तूफानी इंगलिश चैनल को पार करने वाला वह विजेता इंगलैण्ड को एक बड़े खतरे से बचाने के लिए आ रहा है—वह खतरा जो प्रत्येक साम्राज्यवादी राष्ट्र को होता है। वह चाहता है कि इंगलैण्ड रोमनों की तरह मिट न जाए, बल्कि अपना अस्तित्व कायम रख संसार के ज्ञान के भण्डार की वृद्धि करे।"

परिव्राजक जी की इस कहानी में चित्रोपमता भी दर्शनीय है। महात्मा गांधी का जो शब्द-चित्र उन्होंने अपनी इस कहानी में चित्रित किया है, वह हमारी आंखों के सामने उनका व्यक्तित्व भी लाकर रख देता है। गांधी जी का शब्द-चित्र उन्होंने इस प्रकार चित्रित किया है—

"रैगीमौल्ड रैन्ल्ड्स—जो महात्मा गांधी के साथ उनके आश्रम में कुछ समय तक रहा था और जिसको गांधी जी ने अपनी डांडी-यात्रा से पहले वायसराय के पास चिट्ठी देकर भेजा था. उसी चिट्ठी ने रैन्ल्ड्स का नाम प्रसिद्ध कर दिया। गांधी जी की टांगें नंगी थीं, उनका शरीर खद्दर की शाल से ढका हुआ था। उनका सिर और कन्धे आगे की ओर झुके हुए थे, ताकि वे रैन्ल्ड्स की बातें अच्छी तरह सुन सकें। एक नंगी लम्बी और पतली भुजा ने रैन्ल्ड्स के हाथ से एक कागज ले लिया। दोनों के बीच बड़ी शीघ्रता से कुछ वार्तालाप हुआ, तब मैंने गांधी जी के चेहरे पर मधुर मुस्कराहट देखी और रैन्ल्ड्स की मुलाकात खतम हुई।"[2]

गांधी जी से परिव्राजक जी की भेंट हुई। जब उनसे मिलने के लिए उन्होंने छोटे से केबिन में प्रवेश किया तब वे उसी समय खड़े हो गए और स्कूल के छात्र की तरह उछलकर नीचे उतरे और आगे बढ़कर उन्होंने परिव्राजक जी से हाथ मिलाया। परिव्राजक जी कहते हैं—

"मैंने अनुभव किया कि मेरा हाथ एक मजबूत पंजे ने पकड़ लिया है, जिसे मैं

1. विशाल भारत—सितम्बर, सन् 1931, पृष्ठ 43-44,
2. वही, पृ० 45-46

दुबला-पतला समझता था, उसका हाथ कसरती की तरह मजबूत निकला। मैंने महात्मा जी की चमकती हुई आंखें देखीं—वह एक प्रकाश जो उनके मोटे और भद्दे चश्मे की बाधा होने पर भी जगमगा रहा था। मेरे कानों ने उनकी आवाज़ को सुना—वह मीठा, गम्भीर और मृदु स्वर—जिसने मेरा नाम लिया और मैंने अपने आपको धन्य-धन्य माना। वे अमूल्य लहमें थे, जिनमें मेरी महात्मा जी से पहली भेंट हुई।"[1]

परिव्राजक जी अब न्यूयार्क लौट आते हैं। अपने पुस्तकालय में कुर्सी पर बैठे हुए खिड़की से प्राकृतिक दृश्य देख रहे हैं—उसी समय उनके मस्तिष्क में अनेक विचार चक्कर लगाते हैं। वह सोचते हैं—"मैंने संसार के बड़े-से-बड़े महापुरुष के दर्शन किए। लेकिन यह महापुरुष जिसके मैंने दर्शन किए हैं, इस युग का पैगम्बर है। आने वाली सन्तानें तो उसकी कथाएं ही कहेंगी, पर मैंने तो उससे साक्षात्कार कर लिया है। सचमुच महापुरुष होने के लिए महान् गुणों की आवश्यकता है। बड़ी तपस्या की आवश्यकता है और बड़े धैर्य की ज़रूरत है। महात्मा गांधी अपने विरोधियों, गाली देने वाले और निन्दकों से द्वेष नहीं करते। उस डाक्टर अम्बेदकर ने किस प्रकार उनका अपमान किया, परन्तु तिस पर भी गांधी जी के चेहरे पर ज़रा भी मैल नहीं आई। उनका हृदय कैसा निर्मल और कैसा विशाल है।"[2]

'महापुरुष के दर्शन' शीर्षक का जो प्रभाव पाठक पर पड़ता है, वह उसे कहानी की सीमा से बाहर ले जाकर एक ऐसे चौराहे पर खड़ा कर देता है, जहां वह खड़ा होकर यह निश्चित नहीं कर सकता कि वह इसे संस्मरण, रेखाचित्र या कहानी इन तीनों में से गद्य की कौन-सी विधा माने ! कहानी तो इसे इसलिए नहीं कहा जा सकता कि इसकी वर्णनशैली पाठक अथवा श्रोता की जिज्ञासा को नहीं बढ़ाती। आगे क्या होगा या क्या होने वाला है, इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न करने का इसमें अभाव है।

संस्मरण भी इसे नहीं कह सकते, क्योंकि कहीं-कहीं लेखक आवश्यकता से अधिक भावुक हो गया है।

रेखाचित्र अवश्य कह सकते हैं। यद्यपि इसमें कहीं-कहीं रंगों का उभार आवश्यकता से अधिक आ गया है। पर उसके होते हुए भी इन रंगों में इतना चटकीलापन नहीं है जो इसे रेखाचित्र की श्रेणी में रखने में किसी प्रकार की रोक-टोक ला सके। वर्णन में काफी सादगी है। जीवन के घात-प्रतिघात इसमें नहीं है, जो कहानी के आवश्यक अंग माने गए हैं। इसे इन्टरव्यू की श्रेणी में भी रखा जा सकता था, क्योंकि इसमें परिव्राजकजी की गांधी जी से मुलाकात का वर्णन उन्हीं की लेखनी के द्वारा किया गया है। पर इन्टरव्यू में इसे इसलिए नहीं कहा जा सकता कि इसमें बहुत से वर्णन ऐसे भी जोड़ दिए गए हैं जिनका इन्टरव्यू होना आवश्यक नहीं होता। अस्तु हम इसे कहानी की अपेक्षा रेखाचित्र-कहानी ही उचित समझते हैं। कहानी के रूप में इसकी समीक्षा केवल इसलिए की गई है

---

1. विशाल भारत—सितंबर, सन् 1931, पृ० 46
2. वही, पृ० 52

क्योंकि इसे परिव्राजक जी की कहानियों में स्थान दिया गया है।

4. आश्चर्यजनक घण्टी

इस संग्रह की सबसे लम्बी कहानी है, जो 48 पृष्ठों में समाप्त हुई है। यह अप्रैल सन् 1908 से लेकर जुलाई सन् 1908 तक क्रमशः छपकर समाप्त हुई। इस प्रकार इस कहानी पर द्विवेदीयुगीन 'सरस्वती' की मोहर लग जाने से इसकी श्रेष्ठता में संदेह की गुंजाइश नहीं रहती, परन्तु कब ? जब हम इस कहानी को आज का चश्मा आंखों पर लगाकर न देखें। आज कहानी-कला अपनी जवानी की चौखट को पार कर चुकी है। वह हिन्दी कहानी का शैशवकाल था, जब यह 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी।[1] इस संग्रह में स्थान पाने से पूर्व यह कहानी इसी नाम से एक साधारण पुस्तिका के रूप में काफी प्रचार पा चुकी थी। उस समय की लोकरुचि भी इतनी परिष्कृत नहीं थी। बाबू देवकीनन्दन खत्री के 'ऐयारी और तिलिस्मिक' उपन्यास बाजार में आ चुके थे। किशोरीलाल गोस्वामी की कौतूहल और आश्चर्य से भरी हुई कहानियां ही उस समय अधिक पसन्द की जाती थीं। 'आश्चर्यजनक घण्टी' तत्कालीन लोकरुचि को सन्मुख रख कर लिखी गई जान पड़ती है। यह कहानी उस समय लिखी गई थी, जब लेखक संयुक्त राज्य अमेरिका के शिकागो विश्वविद्यालय में अध्ययन करता था। कहानी के सभी पात्र संयुक्तराज्य अमेरिका के ही नागरिक हैं। कथावस्तु भी अमेरिका के एक नगर से आरम्भ होती है। कहानी का शीर्षक कम कौतूहलवर्धक नहीं। इस प्रकार के शीर्षक पाठकों को प्रभावित करने के लिए उस समय रखे जाते थे। इस कहानी के प्रमुख पात्र हैं, मिस्टर 'स्काट' इसके अतिरिक्त उनकी पत्नी 'मैरी',जो कथानक को गतिशील बनाने में इस कहानी की प्रमुख पात्र के रूप में आती है। 'स्काटस्' साहब का पुत्र 'टामी' उनका जापानी मित्र—'फेकुमातसुमी' तथा एक वैज्ञानिक घण्टी बजाने वाला एक जर्मनी बूढ़ा, चोर-बाजारी करने वाला पुरानी वस्तुओं का विक्रेता यह सब पात्र भी इस कहानी के साथ जुड़े हुए हैं। इसका कथानक इस प्रकार है—'स्काट' साहब की पत्नी ने दो-तीन महीने 'बेनगर' नामक एक बूढ़े जर्मन से चालीस रुपये में एक जापानी घण्टी खरीदी थी। यह घण्टी देखने में बड़ी सुन्दर थी। इसमें पीतल की छोटी बड़ी कलसियां एक-दूसरे के नीचे तरतीबवार लगी थीं। सबसे छोटी नीचे, फिर उससे बड़ी और फिर उससे बड़ी, इसी प्रकार सबसे बड़ी सबसे ऊपर। बहुत गाढ़ा लाल रंग उसके ऊपर किया हुआ था। एक रेशम की रस्सी से छत की कड़ी में बंधी हुई थी। देखने में घण्टी बहुत अच्छी थी। परन्तु आज स्काट साहब हैरान थे, क्योंकि घण्टी बिना बजाए अचानक बज उठी थी। क्या कोई चीज़ छत से घण्टी के ऊपर गिरी ? परन्तु ऐसी कोई बात नहीं थी, यदि होती तो उसे अवश्य देखा जाता, यहां एक कंकर भी नहीं है। उन्होंने कई बार कमरे में

1. सरस्वती—1 अप्रैल से 1 जुलाई—1908, पृ० 150, 211, 248, 302।

इधर-उधर और मेज़ के ऊपर नीचे देखा कहीं कोई चीज़ दिखाई नहीं दी फिर ध्यान आया कि खिड़की की राह से हवा के झोंकों से शब्द हुआ हो, क्योंकि खिड़की खुली थी, पर जब उन्होंने खिड़की के पास जाकर देखा तो मालूम हुआ कि खिड़की के परदे गिरे हुए हैं और हवा ऐसी धीमी चल रही है कि पर्दे तक नहीं हिलते। किसी ने खिड़की के बाहर से तो कुछ नहीं फेंका ? कुछ ही देर बाद फिर उस घण्टी का शब्द उनके कान में पहुंचा, स्काट अपनी कुर्सी से डरकर उठ खड़े हुए। उन्होंने एक लम्बी सांस ली और फिर उस कमरे को छोड़कर बड़े कमरे में चले गए। वहां थोड़ी देर तक खड़े रहे और अपनी स्त्री के कमरे में चले गए। उनकी पत्नी कमरे में कुर्सी पर बैठी, अपने पुत्र 'टामी' से बातें कर रही थी। पत्नी ने पूछा—"आप अपने काम में कब तक लगे रहेंगे ?" स्काट ने कोई उत्तर नहीं दिया। ऐसा प्रतीत होता था कि उन्होंने अपनी स्त्री के प्रश्न को सुना ही नहीं हो।

पत्नी ने फिर पूछा, "आप घबराए से क्यों हैं ?" स्काट ने कहा—"प्रिये ! वह जापानी घण्टी तुमने कहां से खरीदी है ?" पत्नी ने उत्तर दिया,"मैंने उसे एक जर्मनी बूढ़े से चालीस रुपये में खरीदी थी।" घण्टी के विषय में इतनी बातचीत के बाद दूसरे दिन सवेरे ही 'स्काट' उस बूढ़े की दुकान पर पहुंचे। दुकान बड़ी विचित्र थी, सब चीज़ें बेतरतीबी से इधर-उधर पड़ी थीं। देखने से वह कबाड़ी की दुकान जान पड़ती थी। स्काट ने उससे पूछा—"दो-तीन महीने पहले क्या आपने एक जापानी घण्टी बेची थी ?" बूढ़े ने कहा—"मैंने कोई जापानी घण्टी नहीं बेची। मैंने अपनी जिन्दगी में कभी ऐसी घण्टी नहीं देखी।" 'स्काट' साहब बड़े हैरान हुए—उन्हें घण्टी का पता मालूम करना था। अब क्या करें ? कोई चारा न था। लाचार घर लौटे। बुड्ढा भी उनके जाने की राह ताकता था। जब वे गाड़ी में सवार हो गए, बुड्ढे ने चैन की सांस ली।

एक दिन संध्या के समय 'फेकुमातसुमी' नामक एक जापानी युवक जो जापान के राजदूत का पुत्र था और अमेरिका के किसी महाविद्यालय में पढ़ा करता था, वह स्काट साहब के पुत्र 'टामी' का सहपाठी था। एक दिन वह अपने मित्र 'टामी' से मिलने के लिए आया। अचानक उसकी दृष्टि उस घण्टी पर पड़ी। वह उसे देखकर आश्चर्यचकित हो गया और उसने उसे प्रणाम किया। अपने दाएं-बाएं हाथों से उसने कई प्रकार की क्रियाएं कीं। उसके होंठों के हिलने से ऐसा प्रतीत होता था, मानों वह कोई मन्त्र पढ़ रहा हो।

'स्काट' साहब चुपचाप उसके पास खड़े थे। यह जापानी क्या कर रहा है ? इसने इस घण्टी को इतना जल्द कैसे पहिचान लिया ? मालूम होता है इसने इस घण्टी को कहीं जापान में ज़रूर देखा है। शायद यह घण्टी जापान से कोई चुरा लाया है। इसी तरह की बातें स्काट के मन में दौड़ रही थीं। जब 'मातसुमी' प्रणाम आदि कर चुका तब 'स्काट' ने आश्चर्य से पूछा, "आप क्या कर रहे थे ?" "क्षमा कीजिए, यदि मैं बतलाऊंगा भी तो

---

1. देवचतुर्दशी—पृ० 64

आप कुछ न समझेंगे। आज्ञा हो तो मैं इस घण्टी को अच्छी तरह देख लूं।" स्काट ने कहा आप आइए शौक से देख सकते हैं।"[1] "जापानी ने बड़ी सावधानी से घण्टी की एक-एक कलसी को देखा। उसने धीरे-धीरे पेन्सिल मारी और प्रत्येक कलसी की आवाज़ कान लगाकर सुनी। फिर उसने एक-एक कलसी को हिला डुलाकर देखा। फिर ऊपर-नीचे सब तरफ उसकी परीक्षा की। सबसे बड़ी कलसी के भीतर उसे कोई बात बहुत ही अद्भुत मालूम हुई।

"जापानी ने कुछ जवाब नहीं दिया। घण्टी के ध्यान में वह मग्न था। उसने स्काट की बात सुनी ही नहीं। वह उसे टकटकी लगाए देखता रहा। घण्टी की पुरानी बातें याद करके वह कांपने लगा। कुछ देर बाद जापानी बोला—"आपके पास यह घण्टी कब से है?" स्काट ने उत्तर दिया—"चार महीने से।" "क्या आपने कभी इसमें कोई खास बात देखी है।" जापानी युवक ने पूछा। स्काट थोड़ी देर चुप रहे, उनका मन जापानी युवक के आंतरिक भावों को जानने के लिए उद्विग्न हो उठा। अन्त में स्काट ने कहा—"हां देखी है।"

जापानी युवक ने कहा, "इस घण्टी की पांचवीं कलसी को क्या आपने अपने आप ही बजते सुना है।" स्काट ने इस बात को जबान से स्वीकार किया। "क्या आप यह घण्टी किसी मित्र को प्रसन्नतापूर्वक दे सकेंगे?" "नहीं, मुझे खेद है, मैं इसे नहीं दे सकूंगा। मेरी पत्नी ने यह घण्टी मुझे उपहार में दी है।" "परन्तु क्या आप यह बता सकते हैं कि आपकी स्त्री ने इसे कहां से खरीदा था? वहां से शायद मुझे इस तरह की दूसरी घण्टी मिल सके।" "इस किस्म की दूसरी घण्टी उस दुकान में नहीं है। जानसन गली में जो बूढ़े बेनगर की दुकान है वहां से आप इस घण्टी के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।" जापानी युवक को इतनी ही जानकारी प्राप्त करनी थी, जो उसे मिल गई। दूसरे दिन संध्या के समय स्काट आरामकुर्सी पर लेटे थे। कमरा बिजली की रोशनी से जगमगा रहा था—

टन् टन्—एक, टन् टन्—दो, टन् टन्—तीन, टन् टन्— चार, टन् टन्—पांच, टन् टन्— छः, टन् टन्—सात। सात दफे बोलकर घण्टी शांत हो गई। इस प्रकार सात बार टन् टन् का शब्द हुआ, उस अघटित घटना के कारण उनका चेहरा पसीने से तर हो गया। रात भर नींद न आई। सवेरे जलपान के लिए उठे तो श्रीमती ने पूछा—"क्या आप सचमुच इस घण्टी को रखना चाहते हैं। मैंने जिस दुकानदार से यह घण्टी खरीदी थी, कल उसने मुझे एक रुक्का भेजा है वह इस घण्टी के लिए पांच सौ रुपये देने तैयार है, शायद उसे घण्टी की असली कीमत मालूम हो गई है। यदि मुझे पांच सौ रुपये मिल जाएं तो उसे मैं दीन-दुखियों को दान कर दूंगी।" "प्रिये, उस घण्टी को बेचने की अब

---

1. देवचतुर्दशी—पृ० 65

कोई आवश्यकता नहीं है। तुम्हें दान देने के लिए जितना रुपया चाहिए मैं दे दूंगा।" दूसरे दिन उस बुड्ढे व्यापारी ने एक और चिट्ठी भेजी, जिसमें लिखा था कि वह उसके पांच हज़ार रुपये देने के लिए तैयार है। श्रीमती 'मेरी' ने जब वह चिट्ठी दिखाई तो उन्होंने उसे फाड़कर फेंक दिया और बोले, "मैं उसे पांच लाख रुपये में भी नहीं बेचूंगा।"

दिन में दो बार स्काट ने घण्टी की आवाज़ फिर सुनी। कमरे में जाते हुए उनका दिल धड़कता था। एक दिन सवेरे जब वह दफ्तर में पहुंचे तो उन्हें टेलीफोन की घण्टी सुनाई दी। उसे सुनकर वह चिल्ला उठे। पर जब उन्हें ज्ञात हुआ कि यह उनके टेलीफोन की घण्टी है, तो शांत हो गए। एक घण्टे में छः-सात बार टेलीफोन की घण्टी बजी तो उन्होंने भावावेश में टेलीफोन के तार तोड़कर फेंक दिए और अपने क्लर्कों से कह दिया कि कोई इस दफ्तर से टेलीफोन न करे। संध्या को उन्होंने डाक्टर को बुला भेजा। स्काट ने अपनी राम कहानी सुना दी और कहा कि "मैं सदा इस घण्टी की टन-टन सुना करता हूं। मैं नहीं कह सकता कि यह कैसे अचानक बज उठती है? घण्टी में अवश्य कोई जादू है।" उसे यह भी बताया कि जिस जर्मन दुकानदार से उसकी पत्नी ने उस घण्टी को खरीदा है, अब वह उसके पांच हज़ार रुपये देने को तैयार है।" "आपको छः महीने योरोप की सैर करनी चाहिए या घण्टी को बेच देना चाहिए या यह मकान छोड़ देना चाहिए। ऐसा कहकर डाक्टर अपनी फीस लेकर चला गया। दूसरे दिन जहां घण्टी लटकी रहती थी, वहां एक अजनबी की लाश पाई गई, इसे देखने से ऐसा प्रतीत होता था, वह बन्दूक से मारा गया है। पत्नी ने उसे देखकर बताया—यह उसी कबाड़ी की लाश है, जिससे उसने वह घण्टी खरीदी थी।

'मिस्टर हैच' शिकागो के एक दैनिक पत्र का रिपोर्टर था। छः फुट लम्बा मजबूत नवान, सुन्दर-सुडौल चेहरा, न दाढ़ी-मूछ। रूप-रंग दर्शनीय था। स्काट साहब के यहां जो लाश सुबह देखी गई थी, उसकी शहर में चर्चा थी, सो मिस्टर हैच तीक्ष्णबुद्धि से उसके विषय में पूछताछ करने आए थे।

वह इस हत्या के सम्बन्ध में तीक्ष्णबुद्धि मनोवैज्ञानिक के पास इस मामले की सही जानकारी प्राप्त करने के लिए गया। परन्तु उसे घण्टी बजने की बात मालूम नहीं थी। उसने पूछा घण्टी पर जो खून का चिह्न, संभव है वह किसी के हाथ लगने से हुआ हो परन्तु उसका सबूत नहीं मिलता। खुफिया पुलिस ने पता चलाया है कि 'बेनगर' चोरी का माल बेचा और खरीदा करता था।

आधा घण्टा बाद तीक्ष्णबुद्धि और हैच स्काट के मकान पर पहुंचे। उनका चिकित्सक उन्हें उनके घर के बाहर मिला। डाक्टर और तीक्ष्णबुद्धि ने हाथ मिलाया और तीनों व्यक्ति घर में दाखिल हुए। तीक्ष्णबुद्धि घण्टी के पास जाकर देखने लगे। पांचवीं कलसी की अच्छी तरह परीक्षा करके उन्होंने कमरे के इधर-उधर देखा और पूर्व की खिड़की खोल दी। बड़ी देर तक वह चुपचाप खिड़की की ओर मुख करके खड़े रहे।

"कमरा दूसरी छत पर था। इसके ठीक नीचे एक छोटा रास्ता रसोईघर को जाता

था। साथ के मकान की भीत स्काट के मकान से केवल चार फीट नीचे थी। इससे साफ मालूम होता था कि बाहर से आने वाला आदमी उस रास्ते से आसानी से अन्दर आ सकता है।[1]

तीक्ष्णबुद्धि खिड़की से हटकर फिर घण्टी के पास गया और दोबारा उस आश्चर्य-जनक घण्टी की परीक्षा की। उसको यह भाषित होने लगा कि इस घण्टी का 'वेनगर' की मृत्यु के साथ गहरा सम्बन्ध है। पर डाक्टर परदू, जो इनके पास ही खड़े इनकी कार्यवाही देख रहे थे, जानते थे कि तीक्ष्णबुद्धि को घण्टी के आप ही आप बजने वाली बात की खबर नहीं है। तीक्ष्णबुद्धि ने चाकू से हर कलसी पर चिह्न किया। फिर बारी-बारी से उन पर चोट की। सबसे बड़ी कलसी के अन्दर उन्होंने एक चिह्न देखा। मिस्टर 'हैच' और डाक्टर परदू पास ही खड़े थे। उस चिह्न का कुछ भी मतलब उन्हें मालूम न था। यह चिह्न दायरे की शक्ल का था।[2]

"शायद यह उस कम्पनी का ट्रेड मार्का है जिसने यह घण्टी बनाई है।" तीक्ष्ण-बुद्धि ने कहा।

'स्काट' बिस्तरे पर लेटे हुए थे। बुरी हालत थी। शरीर बिलकुल पिंजर हो रहा था। हट्टा-कट्टा मजबूत आदमी सूखकर लकड़ी-सा बन रहा था। देखने वाले को उसे पहचानना कठिन था। होंठ पीले पड़ गए थे, गाल सूख गए थे, आंखों से डर मालूम होता था। वह दशा देखकर इन लोगों को करुणा आई। क्या यही स्काट साहब हैं, जिनके नाद से सब धनिक कांपा करते हैं ?[3]

उनसे उनकी राम कहानी सुनकर तीक्ष्णबुद्धि के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने कहा—'मैं समझता हूं, जब आपने घण्टी की टन् टन् सुनी तो पूर्व की खिड़की खुली थी। स्काट साहब ने हामी भरी और कहा—"जहां तक मुझे याद है, पूर्व की खिड़की खुली थी" "क्या खिड़की खोलने पर घण्टी हमेशा बजा करती है।" तीक्ष्णबुद्धि ने पूछा ? "नहीं, कई बार ऐसा हुआ कि खिड़की खुली रही पर घण्टी नहीं बजी।" 'स्काट' ने उत्तर दिया। तीक्ष्णबुद्धि ने कहा, "आपका नौकर, इस कमरे, खिड़कियों, दरवाजों को बन्द करता है, वह डरपोक ज़रूर है। वह खूब लम्बा-चौड़ा जवान होगा। जहां वह छः फुट लम्बा है उसका वज़न पौने तीन मन है। वह जापानी ज़रूर छोटे कद का होगा ?" तीक्ष्ण-बुद्धि ने फिर पूछा, "बहुत ठिगना स्काट ने उत्तर दिया। तीक्ष्णबुद्धि (वैज्ञानिक) खड़ा हो गया और स्काट के हाथ पर हाथ रखकर बोला—"यह मामला मैं समझ गया हूं। मगर अभी तक दो बातें मेरी समझ में नहीं आईं। यदि पहली बात का उत्तर 'हां' में मिला, तो मैं कहूंगा कि इस घटना का कारण 'जापानी दिमाग' है। यदि 'न' में मिला तो

---

1. देवचतुर्दशी, पृ० 82
2. वही, पृ० 83
3. वही, पृ० 85

फिर यह मामला बहुत ही साधारण है ।"[1]

"आप यह बताइए घण्टी कैसे बजी, क्या आप समझते हैं कि इस घटना में उस जापानी का कोई हाथ है !" स्काट ने पूछा । तीक्ष्ण बुद्धि 'हेच' का हाथ पकड़कर कमरे में ले गया, जहां घण्टी लटक रही थी, और उसने दरवाजा बन्द कर दिया ताकि तीसरा आदमी न आवे । उसने बार-बार पांचवीं कलसी पर चोट की और अपनी नाक को उसके निकट ले जाकर सूंघा और कहा—"घण्टी के आप ही आप बजने की बात इसकी जान खाये जा रही है । यह तो आप जानते ही हैं कि ज़रा सी बात मनुष्य की समझ में नहीं आती, तो वह उसे जादू अथवा भूत-विद्या समझने लगता है । इसी से चालाक आदमी दूसरों को ठगते हैं और अपने आप को करामाती सिद्ध करते हैं ।"

थोड़ी ही देर बाद 'टामी' को एक लिफाफा डाक से मिला । 'टामी' इसे अपने पिता को दिखाने जा रहा था, मगर 'तीक्ष्णबुद्धि' (वैज्ञानिक) ने लिफाफा बीच में ही ले लिया । सफेद कागज़ का साधारण लिफाफा था, जिस पर लिखा था, उसी समय खोलना जब पांचवीं कलसी ग्यारह बार बजे, 'टामी' तुम यह हस्ताक्षर पहचानते हो । यदि तुम नहीं पहचानते तो मैं अवश्य पहचानता हूं । यह उसी जापानी का लिखा हुआ है, इसमें इस घण्टी की घटना का मर्म है । इससे यह सिद्ध होता है कि वह गिरफ्तारी के डर से भागा-भागा फिरता है । मैं अभी तक ठीक नहीं कह सकता पर घण्टी की घटना बता सकता हूं ।" तीक्ष्णबुद्धि ने कहा—"लीजिए, हम आपका भ्रम दूर करते हैं, तैंतीस मिनट और पैंतालीस सैकण्ड बीतने पर यह घण्टी दस बार टन-टन करेगी ।

"देखिए ! एक आदमी यहां गोली से मारा गया । उस आदमी की यहां इस घर में उपस्थिति ही चोरी का चिह्न है । खिड़की का खुला रहना बतलाता है कि एक साथ अधिक चोर मकान के अन्दर घुसे हों और एक ने दूसरे को गोली से मार दिया हो, मगर इसकी संभावना तब हो सकती, जब कुछ चोरी जाता । यहां पर कुछ चोरी नहीं गया । इसलिए दो चोर नहीं आए यह मुमकिन नहीं है कि एक आदमी अपना घात करने के लिए यहां आवे और यहां आकर अपने आप को गोली मारे । अच्छा तो फिर क्या हुआ ?"[2] क्या कलसी पर जो लहू का चिह्न है वह मनुष्यकृत है ?" "इसमें कोई सन्देह नहीं— मगर जो आदमी गोली से मारा गया है, वह तत्क्षण मारा गया है, उसने यह चिह्न नहीं किए । इससे यह पता लगता है कि कोई यहां पहले से ही मौजूद था ।

"बाहर के दरवाज़े का ताला इस बात की पुष्टि करता है, आपका नौकर 'चार्ली भाग गया है, क्या उसने किसी चोर को नहीं देखा था । संभव है पुलिस को लाने गया हो । बाहर के दूसरे साथी ने उसका काम तमाम कर दिया हो । यह सब बातें ठीक रात के 12 बारह बजे हुईं । यहां उसको बेनगर मिला जिससे उसने तमंचा छीन लिया और

---

1. देवचतुर्दशी, पृ० 88
2. वही, पृ० 96

गोली चलाई। अच्छा अब घण्टी का हाल सुनिए।

"यह जापानी घण्टी है और बहुत पुरानी है। 'मातसुमी' ने जो बातें यहां इसे देखकर की थी, उनसे पता लगता है कि इसकी पूजा होती रही है। यह मन्दिर में लटकती रही होगी, जहां इसके इस प्रकार बजने से हजारों अनपढ़ नर-नारी इसे दैवी शक्ति सम्पन्न समझ इसके सामने माथा रगड़ते होंगे। मूर्खों के ठगने का यह बहुत अच्छा साधन रहा होगा। जापान से इसके गुम हो जाने के बाद मातसुमी इसको यहां देखकर अवश्य ही हैरान होगा। उसने इसको खरीदने के कई ढंग निकाले। मगर आपने बेचने से बिलकुल इन्कार ही कर दिया। वह बेनगर जैसा कि आप खुफिया पुलिस से सुन चुके हैं पुराना पापी था। चोरी का माल बेचना उसका पेशा था। आपसे उसने घण्टी के बारे में जो इन्कार किया था वह इसलिए कि कहीं पकड़ा न जाये।"[1]

तीक्ष्णबुद्धि ने कहा—"यह सब मातसुमी की अविद्या का फल है। वह समझता है कि इस घण्टी में कोई दैवी शक्ति है। इसीलिए वह ऐसे-ऐसे खेल खेल रहा है। क्या मैंने आपके सामने घण्टी के आप ही आप बजने के कारण को स्पष्ट नहीं कर दिया। भला क्या आप समझते हैं कि मैं उसकी धमकियों से ऐसी अंट-संट बातों को मानूंगा। जापानी लिखता है कि जब घण्टी ग्यारह दफा बजेगी तब स्काट की मृत्यु हो जाएगी। मूर्ख कहीं का। मिस्टर हेच, वह लिफाफा लाइए।" हेच ने लिफाफा निकालकर उनके हाथ में दे दिया। वैज्ञानिक ने दोनों के देखते-देखते उसमें दियासलाई लगा दी।[2]

यह कहानी केवल कौतूहल और जिज्ञासावर्द्धक ही नहीं है प्रत्युत् पुराने अन्धविश्वासों पर भी हथौड़े की चोट करती है। भूत, प्रेत और जादू टोने में विश्वास रखने वालों की मानसिक दुर्बलताओं का बड़ा ही मार्मिक चित्र इस कहानी में प्रस्तुत किया गया है। फिर भी कहानी आवश्यकता से अधिक लम्बी हो गई, पर निरन्तर जिज्ञासा और कौतूहल बढ़ते रहने के कारण उसका यह दोष अखरता नहीं। पात्रों की संख्या इस कहानी में इतनी अधिक हो गई है कि जिनके कारण उनके चरित्र-चित्रण में चटकीलापन नहीं आ सका, न उसमें गतिशीलता, और न पाठक को प्रभावित करने की शक्ति। घटनायें अवश्य पाठक को आश्चर्य सागर में डुबो देती हैं। कहानी के नायक मिस्टर स्काट का चित्रण बड़ा ही सुन्दर और मनोवैज्ञानिक है। उनमें मनोबल का अभाव है। इसी कारण वह भूत, प्रेत और जादू टोने में भी विश्वास रखते हैं। आज भी संसार में उन जैसे प्राणियों की कमी नहीं है जो अपनी इस मानसिक दुर्बलता के शिकार होने के कारण सदा परेशान रहते हैं। कहानी तत्कालीन संयुक्तराज्य अमरीका के साधारण जन-जीवन की तस्वीर जान पड़ती है, लेखक को इसका प्रत्यक्ष अनुभव था। वह उस समय वहां के विश्वविद्यालय का विद्यार्थी था।

---

1. देवचतुर्दशी, पृ० 99
2. वही, पृ० 103

(5) कीर्ति-कालिमा

यह इस संग्रह की पांचवीं कहानी है। इसके कथानक की रंगभूमि भी संयुक्तराज अमेरिका है, जिसमें अमरीकनों की रग-भेद नीति पर करारा प्रहार किया गया है। यह कहानी भी द्विवेदी कालीन 'सरस्वती' अगस्त सन् 1908 में प्रकाशित हो चुकी है। तत्कालीन प्रवासी भारतवासियों द्वारा यह कहानी बहुत प्रशंसित हो चुकी है।[1]

शिवदत्त, ऋषिराम, काशीराम तथा विल्सन इस कहानी के प्रमुख पात्र हैं। इसके अतिरिक्त रंगभेद-नीति में विश्वास रखने वाले तत्कालीन संयुक्तराज्य अमेरिका के कुछ भ्रष्टाचारी नागरिक भी इस कहानी के पात्रों के रूप में हमारे सन्मुख आते हैं।

शिवदत्त इस कहानी का नायक है। जो उत्तर प्रदेश का निवासी है और तत्कालीन अमेरिका में मैकेनिकल इंजीनियरिंग की शिक्षा प्राप्त करता है। ऋषिराम शिवदत्त का मित्र है, जो पंजाबी है। वह पक्का आर्यसमाजी है। ऋषिराम और शिवदत्त दोनों देशभक्त हैं। अमेरिका में वह इस उद्देश्य से आए हैं कि रुपया जमा करके प्रवासी भारत वासियों की सेवा कर सकें। वह दोनों जितना धन कमाते हैं उसे भारतीय विद्यार्थियों की सहायता में खर्च कर देते हैं।

'शिवदत्त' खूबसूरत नौजवान है। रंग में बहुत काला है, न बहुत गोरा है। सुन्दर, बड़ी-बड़ी आंखें, काले, हृष्ट-पुष्ट शरीर, नम्र-स्वभाव एवं अच्छे चाल-चलन के कारण कालेज में सर्वप्रिय हो गया। ऋषिराम का शरीर इतना मजबूत नहीं है कि अमेरिका के मांसाहारी हट्टे-कट्टे, मजदूर की तरह कष्ट सहन कर सके। इसलिए तीन साल की लगातार मेहनत के कारण बीमार हो गया। एक लकड़ी के कारखाने में काम करते रहे। जहां लकड़ी का बुरादा सांस के साथ फेफड़ों में चला गया, जिससे इनका रोग असाध्य हो गया। वहां 'टकोमा' के अस्पताल में उनका देहान्त हो गया।

उन दिनों अमरीका में हिन्दुस्तानी बहुत बड़ी संख्या में काम-धन्धों में लगे हुए थे। रंग-भेद नीति में विश्वास रखने वाले अमरीकन उनसे घृणा करते थे।

एक दिन शाम को काम करके शिवदत्त सब मजदूरों के साथ एक कतार में दरवाज़े से गुजर रहे थे कि इनके पीछे के मजदूर ने इनको धक्का दिया। इन्होंने पीछे घूमकर जो उसकी ओर दृष्टि की तो आप कहते क्या हैं—

Don't You look at me, You damn Hindu."

'रे नीच हिन्दू ! मेरी तरफ मत देख'। मानो उसकी तरफ देखना भी पाप था। शिवदत्त कुछ नहीं बोले। चुपचाप अपने डेरे की ओर चले गए। आज शाम को गांव के गिरजे में किसी भद्र पुरुष का—'ईसाई-धर्म का काफिर देशों में कार्य' विषय पर व्याख्यान होने वाला था। समय पर शिवदत्त भी गिरजे में व्याख्यान सुनने पहुंचे।[2]

150 से अधिक स्त्री-पुरुष श्रोता थे। व्याख्यानदाता ने पहले जापान की उन्नति

---

1. सरस्वती—अगस्त, सन् 1908, पृ० 352-63
2. वही, पृ० 122

का कारण ईसाई-धर्म के प्रचारकों का फल वताया। फिर चीन में जो काम पादरी लोग कर रहे हैं उसकी महिमा का गान किया गया। पादरियों की कृपा से चीन में जो जाति बन रही है, उसका विस्तार से वर्णन किया गया है। फिर कोरिया में जो काम हो रहा है, उस पर प्रकाश डाला गया, अब भारतवर्ष का नम्बर आ गया—व्याख्यान-दाता ने बहुत कुछ कहा, उसका एक-एक शब्द शिवदत्त के हृदय में तीर के समान चुभ रहा था। व्याख्यान समाप्त होने पर शिवदत्त कुछ देर गिरजे में ठहरे, बोले यदि आप मेरी बात सुनने की कृपा करें तो बड़ी कृपा होगी। व्याख्यानदाता ने कहा, 'आप कहिए, जो कहना चाहते हैं' 'आपने बहुत अच्छा भाषण दिया, परन्तु आप लोग अपने गरेबान में मुंह डालकर क्यों नहीं देखते, आपके यहां कितना मद्यपान, कितना व्यभिचार होता है ?"

'क्या हम किसी पर जोर डाल सकते हैं ?' 'यहां एक ही स्थान पर दो गिरजे हैं पर लोग उनमें नहीं जाते। सप्ताह में दो बार बाइबिल की कथा होती है पर लोग उसे नहीं सुनते। कुछ भी हो ईसाई पादरियों के लिए बेहतर यही होगा कि पहले वह अपनी दशा सुधारें।' शिवदत्त ने कहा 'यहां की दशा हिन्दुस्तान जैसी नहीं है' पादरी ने उत्तर दिया। हमारी बात आप क्या कहते हैं, हम तो ऊंच-नीच, छूत-छात आदि के लिए सारे संसार में बदनाम हैं। मगर हम लोगों का उद्धार पाश्चात्य धर्म नहीं कर सकता।

आज ईसाइयों की होली की रात है। (Halloween Night) गांवों में खूब ऊधम मच रहा है। शराब विक्रेताओं की पांचों उंगलियां घी में हैं।

ये सब लोग इकट्ठे होकर कहां जा रहे हैं ? हिन्दू के घर को ?

शिवदत्त को ईसाई होली का हाल मालूम हो गया था। होली के भयंकर दृश्य तो इन्होंने अपने देश में बहुत देखे थे, जब एक पराधीन देश में ऐसे-ऐसे निन्दित और घृणित कर्म दुष्ट करते हैं, तब स्वतन्त्र देश में होली न जाने क्या गुल खिलावे, यह सोचकर वह शाम को ही खाना खाकर बिस्तर पर जा लेटे। खट बाहर से एक लात ज़ोर से लगी, दरवाज़ा खुल गया। शिवदत्त दरवाज़े से हटकर ओट में खड़े हो गए। उन्होंने बदमाश को पहचान लिया, वह 'जिन' था। कमरे में बिलकुल अन्धेरा था। 'जिन' ने ज्यों ही दियासलाई जलानी चाही शिवदत्त ने त्यों ही लट्ठ का वार किया। लठ खाते ही उसने सीटी दी, तीर की तरह सब लड़के घुस गए। शिवदत्त ने दो-तीन को लठ से जख्मी कर दिया, इतने में 'जिन' ने इनको पकड़ लिया और ऐसा मुक्का मारा कि शिवदत्त बेहोश होकर गिर पड़े।

'टकोमा' हास्पिटल के एक कमरे में 'शिवदत्त' चारपाई पर पड़े थे। सिरहाने एक नर्स बैठी थी। उसने इनकी मन लगाकर सेवा की। उसने कहा—"मैं जीवन-भर आपका एहसान नहीं भूलूंगा। मैंने आपसे एक ऐसी चीज़ पाई है, जो अमूल्य है। "वह क्या है ?" "वह है 'वेदान्त-धर्म'।"

"मैं तो बीमार पड़ा था। मैंने तो इस सम्बन्ध में आपको कुछ नहीं बताया।" शिवदत्त ने कहा।

"एक दिन जब आप बेहोश पड़े थे, मैंने आपका बैग खोलकर आपका पता ठिकाना जानना चाहा, उस समय आपके बैग में 'राजयोग' नामक पुस्तक मेरे देखने में आई। जब मैंने अवकाश मिलने पर उसे पढ़ा तब मेरे हृदय के नेत्र खुल गए, इस हस्पिटल में पहले भी एक हिन्दू आया था, वह बेचारा तपेदिक का मरीज था। एक सप्ताह बाद मर गया।" उसका नाम आप जानती हैं "शिवदत्त ने पूछा।" "उसका नाम शायद 'रैम'की तरह कुछ था।" नर्स ने उत्तर दिया "क्या 'ऋषिराम' ? शिवदत्त ने पूछा। हां, बस यही नाम था।"

गोरों के रंगभेद नीति की ये काली तस्वीर है। इसका नाम 'कीर्ति कालिमा' शायद यही सोचकर रखा गया है। अब तक प्रवासी भारतवासियों पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। भारत से गौरांग महाप्रभु भी सदा के लिए विदा ले चुके हैं। दासता का युग समाप्त हो चुका है। फिर भी एशिया वालों तथा अफ्रीका के नीग्रो के साथ गोरों के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आया। यह कहानी गोरों के इसी दुर्व्यवहार पर प्रकाश डालती है। स्वतन्त्र भारत के उन्मुक्त वातावरण में सांस लेने वाले आजके भारतवासियों को हो सकता है यह कहानी एक अतिरंजना मात्र जान पड़े, पर जो वास्तविकता है उससे आज भी इन्कार नहीं किया जा सकता। विदेशों में जाने पर इस सच्चाई को बेनकाब किया जा सकता है।

कहानी-कला की दृष्टि से भी लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है। उस समय के प्रवासी भारतवासियों के प्रति सहानुभूति और संवेदना को जागृत करने वाली यह कहानी पश्चिमी देशों की रंगभेद-नीति से परेशान जाति के लोगों को अब भी आठ-आठ आंसू रुला सकती है। आज की कहानी-कला कितने ही नये मोड़ लेती चली जा रही है। वह काफी परिष्कृत हो चुकी है। उसके सामने 1908 में लिखी गई परिव्राजक जी की यह कहानी फीकी तो अवश्य जान पड़ेगी पर शोधार्थियों के सामने यह तत्कालीन कहानी साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत कर देती है। द्विवेदीयुगीन लिखी गई हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियों में इसका भी अपना स्थान है।

(6) माला

इस संग्रह की छठी कहानी है 'माला' जो प्रसिद्ध कहानी-लेखक 'डी मूपाजां' की 'नेकलस' का भावानुवाद है। इसमें सम्पूर्ण कहानी का भारतीयकरण कर दिया गया है। इसलिए पात्रों तथा पात्रियों के नाम भी भारतीय ही रख दिए गए।

'श्यामा' और 'राधा' दो सखियां हैं। श्यामा का विवाह एक साधारण क्लर्क के साथ हुआ था। स्त्रियों को अपने रूप का बड़ा अभिमान होता है, जिसके कारण वह अपने आपको उच्च घराने की रमणियों से कम नहीं समझती। इस कारण वह बेचारी परेशान रहती थी। वह सोचती थी कि लोग कैसे आलीशान बंगलों और कोठियों में रहते हैं और वह किस तरह इस कारागार में दिन काटती है। उसके पास न कोई अच्छा वस्त्र था और न आभूषण। उसकी एक धर्म बहिन थी जो अमीर थी। मेरी गरीबी का उपहास न हो, इस कारण उसने उसके यहां आना-जाना छोड़ दिया। एक बार शिक्षा विभाग के एक उच्च-

अधिकारी का निमन्त्रण-पत्र उसे मिला। जिसमें पति-पत्नी को 18 जनवरी की शाम को जलपान के लिए निमन्त्रण दिया गया था। पति ने समझा कि मेरी श्रीमती उस निमन्त्रण-पत्र को पाकर प्रसन्न होगी। परन्तु इसका परिणाम उल्टा हुआ। पत्नी ने कहा—"मैं क्या पहनकर वहां जाऊंगी। पति ने कहा कि मैं तुम्हें अढ़ाई सौ रुपये दे दूंगा। तुम अपने लिए अच्छे कपड़े बनवा लेना। श्रीमती जी के कपड़े भी आ गए, पर उनकी चिन्ता दूर नहीं हुई। अब प्रश्न था क्या बिना आभूषण पहने वहां जाया जा सकता है। पति ने समझाते हुए कहा तुम अपनी सखी राधिका के पास क्यों नहीं चली जाती ? वह तुम्हें अच्छे-अच्छे आभूषण मंगनी में दे देगी। वह राधा से एक कंठहार मांगकर ले आई और उसे पहनकर दर्पण के सामने अपना सौन्दर्य निरखने लगी। निमन्त्रण का दिन आ गया पति-पत्नी साज-सज्जा के साथ सज-धजकर दावत में शामिल हुए। घर आने पर पता चला कि उसने वह माला खो दी है। पुलिस में खबर दी गई। बाज़ार में ढिंढोरा पिटवाया गया, अखबारों में इश्तहार दिए गए। एक सप्ताह बीत गया। अन्त में पति ने स्त्री से कहा हमको वैसी ही माला खरीदकर दे देनी चाहिए। अन्त में एक दुकान पर ठीक वैसी ही माला मिली। माला का सौदा 36000 रुपये में तय हो गया। अठारह हज़ार उनके अपने पास थे, जो उनका पिता छोड़कर मर गया था। अठारह हज़ार ऋण लेकर वह माला खरीदी गई। राधिका ने चटपट वह माला ले ली। जिस डिब्बे में वह माला थी, उसे खोलकर भी नहीं देखा। बड़ी कठिनता से 10 वर्ष में ब्याज सहित ऋण चुकाया गया। अर्थ कष्ट के कारण रमणी समय से पूर्व ही वृद्धा हो चुकी थी। एक दिन वह किसी तरह हृदय कड़ा करके अपनी सखी राधा से मिलने गई। उसने राधा से बताया कि मैं तुमसे एक माला मंगनी में ले गई थी, पर वह मुझसे कहीं खो गई थी, तब मुझे उसी तरह की दूसरी माला लेकर, उसे तुम्हें लौटानी पड़ी। 10 वर्ष तक हम वह ऋण चुकाते रहे। आखिरकार वह सब रुपया हमने वापिस कर दिया। राधा ने कहा, 'आह ! प्यारी श्यामा, बड़ी भूल हुई। मेरी माला के हीरे तो नकली थे, अधिक-से-अधिक उनकी कीमत पांच सौ रुपये होगी।

भारतीय नारी का आभूषणों के प्रति बड़ा आकर्षण रहा है। घर के लोग भूखे मर जाएं, अभाव से लड़कर अपना जीवन समाप्त कर दें, पर श्रीमती जी को आभूषण तो अवश्य ही चाहिए। मध्यम वर्गीय पति को इसके लिए बड़े अर्थ-कष्ट का सामना करना पड़ता था। उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द की अधिकांश कहानियों में भारतीय नारी के इस आभूषण-प्रेम पर तीखा प्रहार किया गया है। उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'गबन' तो इसी का प्रतिफल जान पड़ता है। 'सेवासदन' में 'सुमन' का आभूषण-प्रेम उसे वेश्यालय के द्वार तक खींचकर ले जाता है। 'निर्मला' में भी आभूषणों की समस्या को लेकर तत्कालीन समाज पर करारी चोट की गई है।

यद्यपि यह कहानी एक फ्रेंच कहानी का भावानुवाद है, पर इसके भीतर जो सुधारवादी दृष्टिकोण है, वह परिव्राजक जी का अपना जान पड़ता है।

यह मौलिक कहानी नहीं है, कहानी-कला की दृष्टि से लेखक इसमें कितना सफल

हुआ है, इस पर कुछ विचार करने का यहां प्रश्न नहीं उठता, यदि यह मौलिक कहानी होती तो अवश्य ही इस पर इस दृष्टि से यहां कुछ विचार किया जाता।

(7) गंगा कहांर

इस संग्रह की सातवीं कहानी है। जो उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द के संपादकत्व में अपने समय की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका 'माधुरी' के विशेषांक में प्रकाशित हो चुकी है। इसलिए कहानी की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कुछ कहना हम आवश्यक नहीं समझते। मुंशी जी ने एक आलोचनात्मक दृष्टि इस पर अवश्य ही डाली होगी और यह भी संभव है कि सम्पादक के दायित्व से इसमें थोड़े बहुत संशोधन भी किए होंगे, न भी किए हों तो भी इसे हिन्दी के ख्याति प्राप्त कहानी-लेखक के संपादकत्व में प्रकाशित होने वाली हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिका में प्रकाशित होने का सौभाग्य प्राप्त है।

कहानी एक सुधारवादी दृष्टिकोण को सन्मुख रखकर लिखी गई है। जिसका आरम्भ काशी की टेड़ी-मेढ़ी तंग गलियों से होता है। 'सुमेर' जी महाराज 'गंगा कहांर' मिस्टर 'विलियम हेमिल्टन' इस कहानी के मुख्य पात्र हैं। एक विधवा लड़की इसकी नायिका है। इसके अतिरिक्त एक तांगेवाला कुछ पुलिस के सिपाही भी इस कहानी के साथ जुड़े हुए हैं।

रात्रि का घोर अन्धकार फैला हुआ था, मुगलसराय स्टेशन के अहाते से निकलकर एक काली छाया काशी की ओर जाने वाली सड़क पर चली जा रही थी। यकायक किसी के रोने की आवाज़ सुनाई दी, साथ ही सुनाई पड़ा चुप रह हरामज़ादी। अगर चिल्लाएगी तो गला घोंट देंगे। वह काली छाया इक्के के पास पहुंची टोर्च की रोशनी में उसने देखा, इक्के में दो पुरुष थे और एक पन्द्रह सोलह वर्ष की लड़की दाढ़ी वाला पुरुष, पुलिस का जमादार था, जो अपनी वर्दी में था और दूसरा सफेदपोश जवान था। आगन्तुक ने धीरे से पूछा, 'आप इसे इसकी मर्जी के खिलाफ कहां ले जा रहे हैं ?'

उसका वाक्य पूरा भी नहीं हुआ था कि आगन्तुक ने दाढ़ी पकड़कर जमादार को नीचे खींच लिया और बड़े जोर से धक्का देकर एक गड्ढे में फेंक दिया। उसका साथी जब कूदकर उसकी सहायता के लिए आया तो उसकी बांह मरोड़ कर जोर से लात मारी कि वह मुंह के बल गिर पड़ा। आगन्तुक ने इक्केवाले से कहा, फौरन इक्के पर बैठकर पुल पार कर। इक्के वाला उछलकर इक्के में बैठ गया, पर जब उसने उसके कान में कुछ कहा—तो उसका घोड़ा हवा से बातें करने लगा। दो घण्टे के बाद लड़की कचौड़ी गली में उसके मामा के घर पहुंचा दी गई।

काशी की 'कारमाइकल लाइब्रेरी के सामने से एक गाड़ी गुजर रही थी, उस खुली गाड़ी में एक अधेड़ उमर के सज्जन बैठे थे, उनका रंग गेहुंआ, आंखें ज्योतिपूर्ण, चेहरा गोल, मंछों में कोई-कोई बाल सफेद था। उनके सामने एक चौबीस वर्ष का जवान पटठा

धोती कसे हुए बैठा था। गाड़ी पहले धीरे-धीरे जा रही थी, कोतवाली के पास सहसा तेज चल पड़ी। नौजवान ने जान लिया कि गाड़ी के पीछे कोई लग गया है। उसमें तीन पुलिस वाले बैठे हैं।

बुलानाला को पार करके जब गाड़ी कम्पनी बाग के पास पहुंची तो उसमें से एक आदमी ने चिल्लाकर गाड़ी रोकने के लिए कहा। उस गाड़ी के आने तक कुछ लोग वहां जमा हो गए, गाड़ी में बैठे सज्जन की तरफ इशारा करके कहते हैं—यह 'सुमेर जी' महाराज हैं। न जाने इस नाम में क्या जादू था, मिनटों में वहां भीड़ लग गई। इंसपेक्टर ने गाड़ी पर से उतरकर कहा—"इस आदमी के नाम वारन्ट हैं, मैं इसे गिरफ्तार करूंगा।" इस गाड़ी में तो गिरफ्तार नहीं कर सकोगे, हां, दूसरी जगह भले ही कर लेना। "गंगा कहांर' को पकड़ने आए हैं, वह भी हम सबके सामने। यहां लाशें निकल जाएंगी।" "कई आदमी एक साथ बोल उठे। सबइंसपेक्टर था तो पंजाबी मुसलमान, पर अनुभवी आदमी था। उसने देखा मामला संगीन हो जाएगा। बोला, "अच्छा जाइए, आज न सही, कल सही हमसे बचकर कहां जाएगा ?" "क्यों बेटा यह वारन्ट कैसा है ?" 'सुमेर' जो महाराज ने पूछा। "गुरुजी—उस रात जब आपने मुझे मुगलसराय स्टेशन पर प्रभाकर जी को लाने के लिए भेजा था, बड़ा अजीब मामला हो गया। प्रभाकर जी तो उस गाड़ी से नहीं आए। मैं सहज स्वभाव से ही पैदल काशी-स्टेशन की ओर चल दिया। रास्ते में एक इक्के पर वह दाढ़ी वाला जमादार, जो इंसपैक्टर के साथ था, अपने साथी के साथ पन्द्रह वर्ष की विधवा स्त्री लड़की को भगाए लिए जाता था। मैंने उस बेचारी को बचा लिया और दुष्टों को दण्ड दिया। उसी का बदला लेने के लिए वह दाढ़ीवाला जमादार अपने इंसपेक्टर को साथ लेकर आया था।"[1]

सुमेर जी गंगा के सिर पर हाथ फेर कर बोले—"मिस्टर विलियम हेमिल्टन उन दिनों बनारस ज़िले के पुलिस सुपरिन्टेण्डेण्ट थे। चढ़ती जवानी थी, आंखें गहरी नीली, बाल हल्के मेंहदी के रंग के, चेहरा गोल, मूंछें छोटी-छोटी।

सवेरे घोड़े पर सवार होकर सूअर के शिकार के लिए निकले। शिवपुर पहुंचकर मालूम हुआ, सूअर बड़ा ख़ूंखार खुर्राट है। इस समय बड़े खेत में छिपा हुआ है। अपना घोड़ा गांव वालों के सुपुर्द कर मि० हेमिलटन बन्दूक लेकर अकेले ही खेत की ओर चल पड़े। एक खेत की मेढ़ फांदने से उनका बूट रपट गया, उसी समय वह भयंकर पशु खेत से निकला उन्होंने फौरन गोली चला दी। गोली खाकर वह जंगली पशु क्रुद्ध होकर इनकी ओर दौड़ा, साक्षात् यमराज को अपनी ओर आते हुए देखकर इनकी बन्दूक हाथ से छूटकर गिर पड़ी और सांस रुक गई। सूअर बिलकुल पास आ पहुंचा था कि बिजली के समान एक जवान भाला लेकर निकला। एक ही भरपूर हाथ से सूअर का काम तमाम कर दिया।

---

1. देवचतुर्दशी, पृ० 150

मि० हेमिल्टन की खुशी का ठिकाना न रहा। हिन्दुस्तानी बहादुरी का जौहर उन्होंने पहली बार देखा—"शाबाश, तुमने आज हमारा जान बचाया है, हम तुम्हें कभी भूलेगा नहीं।" गांव के लोग दौड़े आ रहे थे, साहब का घोड़ा आ गया। मि० हेमिल्टन उस पर सवार हो गए, चलते समय उन्होंने बहादुर जवान की तलाश की, पर उसका कुछ पता नहीं मिला।

काशी के ललिता घाट पर आज प्रातःकाल से ही पुलिस का सख्त पहरा है, किसी को गंगास्नान की आज्ञा नहीं, पुलिस आज किसी खोई हुई वस्तु की तलाश कर रही है।

उसे 'गंगु कहार' की तलाश है, उसने उसके दो आदमियों को गायब कर दिया है। पुलिस ने सारा घाट छान मारा पर 'गंगु कहार' का पता नहीं चला, लाचार होकर पुलिस वाले चले गए। पुलिस का स्थान गंगा पुत्रों ने ले लिया। उनकी आज्ञा के बिना कोई आ जा नहीं सकता था।

अब 'सुमेर' जी यहां के एकछत्र राजा थे। उनका इशारा पाते ही एक नौजवान उठा और कमरे में से दो आदमियों को निकाल लाया। दोनों के हाथ मजबूत बंधे हुए थे, सुमेर जी ने उन दोनों बन्दियों को तीव्र दृष्टि से देखा और बोले—"फिर यह मत कहना, हमारे साथ न्याय नहीं किया।"

"नूरी, पहले तुम ही कहो क्या कहना चाहते हो ?" उसने कहा—"सरकार, आपसे क्या छिपाना है, जो मुनासिब समझिए, सजा दीजिए। बन्दा कसूरवार है।" तब सुमेर जी ने दूसरे मरियल आदमी की ओर देखा और पूछा—"तेरा क्या कहना है रामलोचन" "मैं गुनाहगार हूं सरकार, पुलिस ने गंगा को पकड़ने के लिए मुझे मुखबिर बनाया था।" अपराधियों ने अपराध स्वीकार कर लिया, सुमेर जी ने निर्णय सुना दिया—"दोनों अपराधियों को डोंगी में बैठाकर गंगा पार ले जाओ।"

मियां अब्दुल रहमान 'दरोगा' कुर्सी पर बैठे सिगरेट पी रहे थे। जमादार इस्माइल ने रोते हुए कहा—"हजूर, मेरे साले नूरी के कान और नाक काट दिए गए हैं और रामलोचन की नाक काट ली गई है। पता लगा कि कल हम लोगों के चले जाने के बाद वहां पंचायत हुई और गंगा पार ले जाकर दोनों बेकसूरों को सजा दे दी गई।"

मियां अब्दुल रहमान, चुप बैठे रहे। टन्टन् टेलीफोन की घण्टी बजी। इस्माइल टेलीफोन के पास गया और फिर मियां साहब के पास आकर बोला,"हजूर, सुपरिन्टेण्डेण्ट साहब आपको याद करते हैं।" दारोगा टेलीफोन पर गया और बोला—"हजूर क्या हुक्म है।" "वैल देखो, हमें पता लगा है कल रात को गंगा मुगलसराय जाएगा। तुम दस आदमी लेकर डफरिन ब्रिज के पास रहना, वहीं रात के ग्यारह बजे मिलेंगे।"

आज कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी है। रात के नौ बजे डफरिन ब्रिज पर चार इक्के मुगलसराय की तरफ जा रहे थे, जिनमें मियां अब्दुल रहमान अपने साथियों के साथ बैठे थे—"तुम अपने आदमी ले जाकर गिरफ्तार करो, हम भी मौके पर पहुंचेगा।"

"पहलवान मेरी बाईं आंख फड़क रही है तुम तैयार हो न ?" गंगा कहार ने कहा।

'पहलवान बड़ा सुन्दर गठीला जवान था। मुस्करा कर कहने लगा—"भैया, गंगा मैया हमारी रक्षा करती है।" जब वे खेत के बीच पहुंचे, तो फौरन दोनों तरफ से पुलिस वालों ने इन पर हमला किया। रामू ने अपनी भुजाली से दो के हाथ काट डाले। पहलवान ने एक की खोपड़ी फोड़ दी। गंगा ने अपने साथियों पर हमला करने वालों को बुरी तरह घायल किया।[1]

इतने में मिस्टर हेमिल्टन भी दूसरे दो कांस्टेबलों के साथ आते हुए दिखाई दिए। गंगा ने समझा साहब बड़ी मदद लेकर आ रहे हैं। उसने 'महावीर की जय' कहकर अपने दोनों साथियों को पीछे लौटने की सलाह दी।

दोनों साथी खेत में से तीर की तरह बाहर निकल गए। गंगा अपनी रक्षा करता हुआ लड़ता रहा, इतने में किसी ने पीछे से पकड़ लिया और उसकी मुश्कें कस दीं। मिस्टर हेमिल्टन भी आ गए, अंधेरे में कुछ सूझता नहीं था, दारोगा साहब ने कहा—"आज इस बदमाश को पकड़ पाया है। हम इस शैतान की सूरत देखें!" सुपरिन्टेण्डेण्ट साहब ने कहा। फौरन रोशनी आ गई।

हेमिल्टन साहब ने देखा तो अवाक रह गए। हैरत भरे शब्दों में बोले—'यू हीयर यू गंगा'। एक मिनट तक कोई नहीं बोला। तब मिस्टर हेमिल्टन ने दारोगा से कहा—"यह गंगा नहीं है, यह जंगली सूअर मारने वाला बहादुर जवान है, इसकी बेड़ी खोल दो।" गंगा की बेड़ी खोल दी गई। उसने हेमिल्टन साहब को सलाम करके कहा—"हजूर, मैं ही गंगा हूं।" और चला गया। फिर पुलिस दोबारा गंगा को गिरफ्तार नहीं कर सकी।

कहानी कौतूहलवर्द्धक होते हुए भी चरित्र प्रधान है। 'गंगा कहार' इस कहानी का नायक है, जो पुलिस की दृष्टि में आवारा, बदमाश, गुण्डा होते हुए भी गरीबों और निर्बलों का रक्षक है।

चाहे वह पहले कैसा भी रहा हो पर अब 'सुमेर जी' महाराज के सम्पर्क में आ जाने के कारण उसके जीवन धारा की दिशा बदल जाती है। सुमेर जी महाराज का चरित्र-विकास काशी के साधारण पढ़े-लिखे गंगा के घाट पर अपनी भक्त-मण्डली के साथ गंगा पुत्रों के चौधरी के रूप में हुआ। उन्होंने अपने भक्तों का एक ऐसा संगठन किया, जो गुण्डों और बदमाशों के काले कारनामों की ओर दृष्टि गड़ाये रहता। भले घर की बहू-बेटियों के साथ जो अनाचार, अपहरण, पाप लीलायें वहां होती हैं, उनसे वह भलीभांति परिचित है। उनका यह संगठन ऐसे गुण्डे और बदमाशों की खोज में लगा रहता है, जिनके कारण यह पवित्र तीर्थ बदनाम है। कहानी में काशी के जन-जीवन पर भी प्रकाश डाला गया है तथा पुलिस के काले कारनामों की भी पोल खोली गयी है। साहसी युवक जो सही दिशा न मिलने के कारण पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं, उन्हें यदि 'सुमेर जी' महाराज जैसे पथ-प्रदर्शक मिल जायें, तो वह पतन के गर्त में गिरते हुए गंगा कहार जैसे हजारों युवकों के प्रकाश-स्तम्भ बन सकते हैं।

1. देवचतुर्दशी, पृ० 158

कहानी कला की दृष्टि से यह एक अत्यन्त सफल रचना है। कथोपकथन इतने सुन्दर बन पड़े हैं कि जिनके कारण, कहानी में एक प्रकार की नाटकीयता आ गई है। कथानक में गतिशीलता है, जिसके कारण पाठक का मन उसमें इस प्रकार रम जाता है कि वह उसे पूरा किये बिना नहीं छोड़ता, वर्णन शैली भी प्रवाहपूर्ण है। बीच-बीच में मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग ने कहानी में एक प्रकार की सजीवता उत्पन्न कर दी है, फिर भी बीच-बीच में कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग हो गया है, जिनके कारण अश्लीलत्व दोष भी आ गया है। जैसे—

"**उसका साथी** जो **दूसरी तरफ से कूद** कर आया, तो **उसकी बांह मरोड़कर चूतड़ों पर इस जोर से लात मारी** कि वह **मुंह के बल गिर पड़ा।**"

(8) मेरी बेचैनी

इस संग्रह की आठवीं कहानी है जिसे लेखक ने अपनी रामकहानी के रूप में लिखा है। कहानी ऐसी है जिसकी सच्चाई का अनुभव हर पढ़े-लिखे को थोड़ा बहुत किसी-न-किसी रूप में होता रहता है। मांग कर पुस्तक पढ़ने वालों के कारण कितनी परेशानियां उठानी पड़ती हैं, यही इस कहानी में परिव्राजक जी की बेचैनी का कारण है। डॉ० सन्दरलैन्ड अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के साहित्यकार थे। 'इंडिया इन बौन्डेज' उनकी एक प्रसिद्ध पुस्तक थी, जिसे मार्डन रिव्यू के सम्पादक 'श्री रामानन्द चटर्जी' ने प्रकाशित कराया था। इस पुस्तक में भारतीयों के प्रति किये गये, अंग्रेजों के दुर्व्यवहार का वर्णन किया गया था। तत्कालीन अंग्रेज सरकार यह कैसे पसन्द कर सकती थी। प्रकाशक पर मुकदमा चलाया गया और पुस्तक जब्त कर ली गई। पुस्तक के जब्त होते ही उसकी मांग भी बढ़ने लगी।

परिव्राजक जी उसे पढ़ने के लिए उत्सुक हो उठे। पर भारत में उस पुस्तक का मिलना असंभव हो गया था। खोज करने पर विदेशों के पुस्तकालयों में अवश्य मिल सकती थी, पर उसका तो पैदा होते ही गला घोंट दिया गया था।

परिव्राजक जी लिखते हैं—"मैं उन दिनों 'पैरिस्तान' में आनन्द लूट रहा था, परन्तु जिस वस्तु की खोज में आया था अर्थात् 'इण्डिया इन बौंडेज' वह मुझे नहीं मिली। मैंने सब हिन्दुस्तानी मित्रों से पूछा, परन्तु किसी के पास न निकली। एक मित्र ने कहा, "जिनेवा में मिस्टर सेन ठहरे हुए हैं, उनके पास वह पुस्तक है। उन्होंने न्यूयार्क से मंगाई है।" मैंने उन्हें पत्र लिख दिया, उत्तर आने में देर न लगी। सेन महाशय ने लिख भेजा कि वह जनवरी 1930 में हिन्दुस्तान लौट जाने वाले हैं। जाने से पहले वे इस पुस्तक को डाक द्वारा मेरे पास भेज देंगे। मैं खुश हो गया, चलो यह भी काम बन गया।"[1]

उन दिनों परिव्राजक जी जर्मनी में थे। मिस्टर सेन ने 'इण्डिया इन बौन्डेज' पुस्तक बुकपोस्ट द्वारा भेज दी। इससे आगे परिव्राजक जी कहते हैं—"मैं तो इस किताब

---

1. देवचतुर्दशी, पृ० 162-63

से चिपट गया, इसका कीड़ा बन गया। वाह ! वाह ! ! कैसी किताब लिखी है, कैसी अमूल्य पुस्तक है, कैसी युक्तियां दी हैं। बड़े-बड़े नामी प्रख्यात अंग्रेजों के हवाले दिये हैं और सब किस्म के एतराजों का मुंहतोड़ जवाब दिया है। डाक्टर सदरलैण्ड ने अपनी कैसी मीठी अंग्रेजी में इस पुस्तक को लिखा है। पहले पृष्ठ से लेकर अन्तिम पृष्ठ तक यह पुस्तक अमूल्य लेखों से भरी हुई है। न जाने कितनी किताबों को पढ़कर इस को तैयार किया गया है। मेरे लिए यह पुस्तक अंजील का काम देने लगी है।"

परिव्राजक जी जहां भी जाते वहां इस पुस्तक की चर्चा अवश्य करते, ड्रैस्डन की एक सोसायटी ने उन्हें भाषण देने के लिए बुलाया। उनका विषय था 'हिन्दुस्तान स्वतंत्रता क्यों चाहता है ?'

परिव्राजक जी को एक महीना पूर्व भाषण देने का निमन्त्रण मिल चुका था। उनके पास तैयारी करने के लिये पर्याप्त समय था। फ्रैड शुस्टर नामक कोई व्यक्ति उनका मित्र था, जिसे उन्होंने वह पुस्तक दिखाई। उसने वह किताब पढ़ने के लिए उधार मांगी और पन्द्रह दिन के बाद लौटा देने का वचन दिया।

परिव्राजक जी कहते हैं—"15 दिन गुजर गए मगर वह पुस्तक न आई। मैंने खत पर खत लिखने शुरू किए। मेरे लैक्चर के दिन निकट आने लगे, केवल एक सप्ताह ही बाकी रह गया, परन्तु किताब न आई। रात्रि के समय मुझे नींद नहीं आती थी, सोचता था, भला उस पुस्तक के बगैर मैं क्या लैक्चर दूंगा। जब केवल तीन दिन रह गये, तो मैंने मिस्टर शुस्टर के नाम तार भेजा। जवाब आया कि उसका कोई दूसरा मित्र पढ़ने के लिए ले गया है। मैं घबरा उठा। फिर तार दिया कि वह शीघ्र ही किताब लेकर भेज दें। जिस दिन मुझे लैक्चर देने के लिए रवाना होना था, उस दिन उसका तार मिला कि उस मित्र का कोई दूसरा मित्र पुस्तक पढ़ने के लिए ले गया है। अब मैं क्या करता ? आखिर लैक्चर देने के लिए चल पड़ा। उस समय मेरे दिल की क्या अवस्था थी ? मैं कैसा बेचैन था।"[1]

कहानी कला की दृष्टि से इसे एक सफल रचना इसलिए कह सकते हैं कि इसकी रचना सोद्देश्य है। किसी को यह सोचकर पुस्तक पढ़ने के लिए देना, वह लौटकर प्राप्त हो सकेगी, एक ऐसी गलती है जिसका जन्म भर पश्चात्ताप रहता है। यह कहानी का प्रतिपाद्य विषय है, पर कहानी-कला के अन्य तत्त्वों का विकास इसमें पूर्ण रूप से नहीं हो सका। कहानी-कला की दृष्टि से इसकी पृष्ठभूमि एक समतल मैदान की तरह जान पड़ती है। कहानी में जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का जिस रूप में दिग्दर्शन कराया जाता है वह इसमें नहीं है। व्यक्तित्व की छाप कहानी पर अवश्य लगी होनी चाहिए पर इतनी अधिक नहीं कि उसमें लेखक के अपने व्यक्तित्व के अतिरिक्त और कुछ न हो। उत्तम पुरुषात्मक कहानियों में अवश्य ऐसा होता है पर उसके साथ दूसरे चरित्रों को भी विकसित होने का पूरा अवसर दिया जाता है। पुस्तक मंगनी में लेकर न लौटाने

---

1. देवचतुर्दशी पृ० 164-65

वाले लोगों की संसार में कमी नहीं। इस कहानी के एक पात्र इसी तरह के लोगों में से एक हैं। यदि उनका चित्रण सही ढंग से किया जाता तो अवश्य ही कहानी कला की दृष्टि से एक सफल रचना कही जाती।

(9) हिन्दुत्व की चिनगारी

यह इस संग्रह की नवीं कहानी है। कहानी क्या है, एक सवाद है जो परिव्राजक जी और उनके मित्र किशनलाल के बीच में होता है। जिसकी प्रस्तावना में परिव्राजक जी कहते हैं—

"यह सन् 1925 की घटना है। हिन्दू-संगठन का जोर इन दिनों जनता में खूब था। मुसलमान मौलवी तब लीग का काम बड़े जोर-शोर से कर रहे थे। दोनों ओर के धर्मान्ध लोग अपनी जनता को एक दूसरे के विरुद्ध भड़काने में लगे हुए थे। अबोध हिन्दू बालक, बालिकाएं और विधवाएं इस आपस की धर्मान्धिना के कारण गुण्डों का शिकार बन रही थीं। ऐसे विकट समय में समझदार लोग भी अपनी बुद्धि की क्षमता खो बैठते हैं।"[1]

इसी समस्या को लेकर परिव्राजक जी अपने मित्र पं० किशनलाल से बातें करते हैं। वह कहते हैं—"मैं आपको एक छोटी-सी घटना सुनाकर इस बात को स्पष्ट कर देता हूं।

"देहरादून में एक नाई रहता है, जिसका नाम है 'रामरतन'। उसकी स्त्री का नाम है 'गुलाबो'। उस दिन काम की अधिकता के कारण रामरतन देरी से घर आया था। दुर्भाग्य से दाल में नमक ज्यादा पड़ गया था। रामरतन इस पर बेतरह बिगड़ा 'गुलाबो' ने भी ईंट का जवाब पत्थर से दिया। बस क्या था—बात बढ़ गई, महाभारत मच गया। बालक 'भानू' के हृदय में अपने पिता के इस व्यवहार से बड़ी चोट लगी, दुःखी होकर बाज़ार भाग गया।" परिव्राजक जी आगे चलकर कहते हैं—

"दीन मुहम्मद नामक एक मुसलमान दर्जी बाज़ार में अपनी दुकान पर बैठा कपड़े सी रहा था। अपने मौलवी का लैक्चर उसने पिछली ही रात को सुना था। हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का पागलपन उसके मस्तिष्क में फैल गया। उसने जब भानू को दुकान के पास खड़े हुए देखा तो उसने बड़ी मुहब्बत दिखलाकर उसे पास बुलाया और उसकी उदासी का कारण पूछा। बालक ने सिसकते हुए अपना सारा दुःख कह सुनाया। बालक को दुकान पर बिठलाकर वह फौरन उसके लिए मिठाई लेने गया। रास्ते में उसको ख्याल आया कि डेढ़ बजे की गाड़ी से यदि इस हिन्दू बालक को सहारनपुर ले जाकर कलमा पढ़वा दूं तो बड़ा भारी सबाब (पुण्य) का काम हो।"[2]

इस प्रकार दीन मुहम्मद उसे मिठाई का लालच देकर सहारनपुर ले आया जहां

---

1. देवचतुर्दशी, पृ० 166
2. वही, पृ० 170

उसे एक मस्जिद में कलमा पढ़ाकर मुसलमान बना लिया जाता है। पक्का मुसलमान बनाने के लिए जब उसे मांस खाने के लिए विवश किया जाता है, वह फूट-फूटकर रोने लगता है। उसके पुराने हिन्दू संस्कार जाग उठते हैं। यद्यपि वह पढ़ा-लिखा नहीं था, तो भी उसके भीतर हिन्दुत्त्व की चिनगारी जल रही थी। उसी ने उसके पुराने संस्कारों को जागृत किया। सवेरा होते ही उस मजहबी कैदखाने से निकला और भागता हुआ स्टेशन पर आया।"

परिव्राजक जी कहते हैं—

"लक्सर जाने वाली गाड़ी में आज पंजाबी यात्रियों की भीड़ थी। गुरुकुल कांगड़ी के जलसे के कारण बहुत से यात्री हरिद्वार जा रहे थे। तीसरे दर्जे के एक डिब्बे में बालक 'भानू' भी किसी न किसी प्रकार घुसकर बैठ गया। श्री गंगा जी का ध्यान वह बड़ी श्रद्धा से कर रहा था। हरिद्वार पहुंचने के लिए वह बेचैन था। वह जाह्नवी ही उसकी एकमात्र मोक्ष-दायिनी देवी रह गई थी। उसे और अधिक धर्म के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं था। लक्सर पहुंचकर हरिद्वार जाने वाली गाड़ी में वह भी बैठ गया।

"वह बालक दूसरी किसी गाड़ी से देहरादून आ गया और अपने घर पहुंचा। रामरतन और गुलाबो अपने नन्हे-मुन्ने बालक को पाकर प्रसन्न हो गए। उन्हें पता भी नहीं चला कि नन्हे-मुन्ने बालक के साथ कैसी विचित्र घटना घटी थी।"

कहानी की पृष्ठभूमि दो मित्रों के संवाद पर आधारित है। विषय है—तत्कालीन हिन्दू-समाज जो अपनी पुरानी रूढ़ियों के कारण दुनिया की दौड़ में बहुत पिछड़ चुका था, जिसे धर्मान्ध मुसलमान इस्लाम-धर्म में दीक्षित करके उसके अस्तित्त्व को समाप्त कर देना चाहते थे। इस धर्म-संकट से जाति की रक्षा करके इस विषय पर परिव्राजक जी और उनके मित्र किशनलाल में वार्ता हुई। यह कहानी की पृष्ठभूमि है। जब कहानी कला की दृष्टि से हम इस पर विचार करते हैं तब इसमें उन तत्त्वों का अभाव पाते हैं जिनका होना कहानी में आवश्यक है। कहानी में केवल कथावस्तु के अतिरिक्त और भी कुछ होता है, जिसका समावेश इसमें नाममात्र को ही हुआ। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी सजीवता नहीं है। सर्वथा निष्प्राण और लेखक के संकेतों पर नाचने वाले पुतलों के समान जान पड़ते हैं। वातावरण भी निर्जीव-सा प्रतीत होता है, कथानक में गतिशीलता का सर्वथा अभाव है। ऐसी दशा में इसे कहानी न कहकर साधारण वार्ता कहना अधिक उपयुक्त होगा। कहानी का शीर्षक 'हिन्दुत्त्व की चिनगारी' रखा गया है, जो शोलों का रूप तो नहीं धारण करती पर बालक के सोए संस्कारों को अवश्य जगा देती है। इस प्रकार शीर्षक भी कहानी के अनुरूप नहीं जान पड़ता। चिनगारी विद्रोह या क्रान्ति के प्रतीक के रूप में व्यवहार में आती रही है, उसका इसी रूप में व्यवहार होना चाहिए।

(10) पार्टी पालिटिक्स के पाप

यह इस संग्रह की दसवीं कहानी है। यह भी संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रजातन्त्री शासन की पृष्ठभूमि पर लिखी गई है। इसमें दिखाया गया है कि किस प्रकार चुनाव के दंगल में

लड़ने वाले दो प्रत्याशी जनता के वोट प्राप्त करने के लिए उसे सब्ज बाग दिखाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। भोले-भाले नवयुवक उनकी सफलता को देखकर अपना सर्वनाश करते हैं। परिव्राजक जी कहते हैं—

"पार्टियों के वोट का वहां प्रायः ऐसा ही हाल है जैसा भारत में जात-पांत का। रिपब्लिकन दादा का पोता रिपब्लिकन ही होता है। कभी-कभी कोई खास ज़्वलन्त प्रश्न देश के सामने उपस्थित हो जाने पर वोट देने वाले पार्टियां बदल भी लेते हैं। अमरीका पूंजी-प्रधान देश होने के कारण साम्यवादी पार्टी अपना जोर पकड़ने में असमर्थ है।"[1]

इन पार्टियों के चौधरी किंगमेकर्स कहलाते हैं। 'पेटरिक सुलीवन' नाम का एक मशहूर पोलिटिकल गुर्गा रिपब्लिकन पार्टी का सर्वेसर्वा था। जब उसकी उम्र अस्सी वर्ष की हो गई थी तब उसने संन्यास ले लिया था। एक संध्या को जब वह अपने घर की कुर्सी पर बैठा हुआ समुद्र की ओर देख रहा था, एक सुन्दर चेहरे वाले नौजवान ने आकर हाथ मिलाया। वह उसके एक परम मित्र का लाड़ला पुत्र था। राजनीति के क्षेत्र में उतरने की तैयारी कर रहा था। कोलम्बिया विश्वविद्यालय से राजनीति-विज्ञान में एम० एम० की उपाधि प्राप्त की थी।

बूढ़े ने उसका इरादा जानकर कहा—"बड़ी अच्छी बात है, यह धन्धा सब धन्धों से अच्छा है। इससे धन और शक्ति दोनों मिलेंगे और वह भी बड़ी आसानी से। नवयुवक ने विस्मित होकर पूछा—"बड़ी आसानी से कैसे ?" "मैं दस वर्ष की उम्र में आयरलैण्ड से अमरीका आया था। मैंने सब किस्म के धन्धों में अपना हाथ लगाया। पर पालिटिक्स जैसा सहज आमदनी वाला धन्धा कोई नहीं देखा। इसमें रुपया और ताकत दोनों मिलते हैं।" नवयुवक ने पूछा—"कैसे ?"

बूढ़े ने कहा—"पहले तुम यह खूब समझ लो कि जनता तथा वोटर्स (राय देने वाले) को चकमा देने, मौका देखकर पैंतरा बदलने, हवा का रुख समझकर बात करने, और इर्द-गिर्द के छोटे-छोटे कुत्तों को माल चटाने पर, पार्टी पालिटिक्स के सारे खेलों का दारोमदार है। पब्लिक के सामने उनके हितों का खूब राग गाना, अपने आप को बड़ा स्वार्थ-त्यागी बनकर दिखलाना और भौंकने वाले बक्की आदमियों को पैसा चटाकर काबू में रखना, यह पार्टी-पालिटिक्स की ए० बी० सी० डी० (वर्णमाला) है। विरोधी गालियां दें तो आप चुप रहें, पर विरोधी पर झूठे आरोपों का तूफान लाद दे।"[2]

नवयुवक ने आश्चर्य से कहा, "क्या नेता लोग भी झूठ बोलते हैं। जनता क्या कहेगी ? क्या वह उसके विरुद्ध नहीं हो जाएगी ?"

बूढ़े ने घृणासूचक स्वर में कहा—"जनता ! जनता बेवकूफ-पाजी होती है। वह उसी को वोट देती है जो ज्यादा बक्की, मक्कार और साजिशी होता है।"

---

1. देवचतुर्दशी, पृ० 172
2. वही, पृ० 175

"आखिर, जनता को वह कब तक मूर्ख बनाते रहेंगे ?" नवयुवक ने कहा।[1]

"देखो लड़के ! पार्टी-पालिटिक्स सारा धूर्तता का खेल है। जनता की याददाश्त बड़ी छोटी होती है। वह अपने पुराने देशभक्तों को भूल जाती है और छंटे हुए पैंतरेबाज़ ज़वान के तरीर उम्मीदवार के पीछे लग जाती है। मगर उस उम्मीदवार के मददगार छोटे कुत्ते होने चाहिए।"[2]

"यह छोटे कुत्ते कौन ?" नवयुवक ने पूछा।

"छोटे कुत्ते नहीं जानते ? अरे नादान, छोटे कुत्ते ही तो चुनाव की जान होते हैं। ये वे लोग होते हैं जिनका ईमान पैसा होता है, जिनको प्लेटफार्म पर जोर से बकना आता है, जिनकी योग्यता सिर्फ झूठ बोलने, तारीफ के पुल बांधने और देशहित के राग गाने में रहती है। वे जूठे टुकड़ों की तलाश में पोलिटिकल मैदान में इधर से उधर घूमा करते हैं।"[3] बूढ़ा हंसकर बोला।

नवयुवक के हृदय में गहरी चोट पहुंची। वह पूछने लगा—"क्या पालिटिक्स बेईमानी ही है।"

बूढ़े को नौजवान की दशा पर तरस आया। बोला—"मेरे बेटे पार्टी-पालिटिक्स में ईमानदारी का कोई काम नहीं। यह सोलह आना बेईमानी का धन्धा है। यह रोजगार है। गवर्नमेंट की बागडोर हाथ में आने से यह संयुक्तराज्य अमरीका के मालिक बन जाते हैं। फिर हमारे आदमी ओहदे संभालते हैं।"[4]

"पर चुनाव तो इसीलिए किया जाता है कि देश के सच्चे सेवक शासन की बागडोर सम्भालें और राष्ट्र का कल्याण करें।"

बूढ़े ने कुछ उत्तर नहीं दिया। नवयुवक उसकी ओर टकटकी लगाए देख रहा था। थोड़ी देर बाद बूढ़े ने ब्राउन की ओर मुंह करके कहा —"तुमने बड़ा कठिन प्रश्न किया। खैर, मैं अपने अनुभव की बात तुमसे कहता हूं—जब तक जनता ऐसी शिक्षित न हो जाय कि उम्मीदवार को वोटों की भीख मांगनी पड़े, तब तक यही अवस्था रहेगी। समाज में कुछ लोग ऐसे सदा रहेंगे जो दूसरों के भोलेपन, उनकी ज़हालत और उनकी उदासीनता का नाजायज़ फायदा उठावें। वे ईमानदारी से पैसा न कमाकर धूर्तता से धन और शक्ति प्राप्त करने का उद्योग करते रहेंगे। शासन को सर्वोत्तम बनाने का तरीका मेरी सम्मति में यह है कि धन में जो ऐश्वर्य और शक्ति, खरीदने की ताकत है, वह नष्ट कर दी जाय और उसके स्थान पर कोई दूसरी चीज़ समाज में नेता बनने की कसौटी निश्चित हो।"[5]

---

1. देवचतुर्दशी पृ० 176
2. वही, पृ० 176
3. वही, पृ० 177
4. वही, पृ० 177
5. वही, पृ० 179

नवयुवक का मुख-कमल खिल उठा। बोला—"मैं आपसे सहमत हूं। धन ही विपत्ति का मूल है और इच्छाएं ही सारे दुःख का कारण हैं। यदि हम इच्छाओं को कम करके सेवा और त्याग को समाज में नेता बनने की कसौटी करार देंगे तो धन का विष नष्ट हो जाएगा।"

बूढ़ा प्रसन्न हो गया बोला "पार्टी-पालिटिक्स के पापों को समूल नष्ट करने का नुसखा तुम्हें मिल गया है। जब जनता स्वार्थ त्यागी नेताओं के लिए वोट देने को स्वयं उद्यत हो जाया करेगी, तो समाज में एक युग का आरम्भ होगा।"

यह कहानी उस समय लिखी गई थी जब भारत भूमि पर स्वतन्त्रता का सूर्योदय नहीं हुआ था, सारे देश पर ब्रिटिश साम्राज्य शासन का प्रतीक 'यूनियन जैक' फहरा रहा था। उस समय क्या कोई कल्पना कर सकता था एक दिन भारत स्वतन्त्र होगा और उसमें संयुक्तराज्य अमेरिका के समान ही प्रजातान्त्रिक शासन की स्थापना होगी। आज हम स्वतन्त्र हैं। हमारे देश में संयुक्तराज्य अमेरिका के समान जनता का अपना ही शासन है। हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि स्वार्थी नेता किस प्रकार जनता को मूर्ख बनाकर वोटों की भीख मांगते हैं और फिर सत्ता सम्भाल लेने पर, पूरे छः वर्ष तक किसी की बात नहीं सुनते।

इस कहानी से एक तथ्य पर प्रकाश डाला गया है। किसी देश में सही अर्थों में प्रजातन्त्र कायम करने के लिए जनता का शिक्षित होना आवश्यक है। जब तक जनता शिक्षित न होगी तब तक अपने वोट का सही मूल्य नहीं समझ सकेगी। साथ-साथ यह भी बताया गया है कि समाज में कुछ लोग सदा ऐसे रहेंगे जिनके भोलेपन से धूर्त और मक्कार लोग लाभ उठाते रहेंगे। इसलिए आवश्यक है कि ऐश्वर्य में जन-शक्ति खरीदने की जो शक्ति है, वह नष्ट कर दी जाए।

प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ प्लेटो ने भी अपने आदर्श राज्य की कल्पना करते हुए यही कहा था। कहानी कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर बन पड़ी है। जनतन्त्री देशों में जहां वोटों पर ही नई सरकारें बनती हैं किस प्रकार नेता-गण वोटों की भीख मांगते हैं, इसका एक सजीव चित्र सामने लाकर रख दिया गया है। यद्यपि जीवन के घात-प्रतिघात इस कहानी में उभरकर नहीं आ सके हैं और न उनके आ सकने की गुंजायश ही थी, पर संयुक्तराज्य अमेरिका के एक बूढ़े अनुभवी राजनीतिज्ञ तथा कोलम्बो विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान की शिक्षा प्राप्त किए हुए एक नवयुवक के संवाद के रूप में प्रजातन्त्र की सही और साफ तसवीर पाठकों के सम्मुख ला दी है। कहानी पुरानी होने पर भी हर प्रजातन्त्री देश में होने वाले चुनाव के नाटक के रूप में स्पष्ट रूप से सामने ला देती है।

(11) पंजाबिन माई

यह इस संग्रह की ग्यारहवीं कहानी है। तीर्थराज प्रयाग की पुण्यभूमि पर इस कहानी का आरम्भ होता है और वहीं समाप्ति भी होती है। इलाहाबाद के जमुना मिशन क्रिश्चियन कालेज में राबर्ट राबिन्स अमरीका से प्रोफेसर होकर आए थे, जो परिव्राजक जी के मित्र थे। उन्होंने एक दिन कहा—"इलाहाबाद एक अच्छा तीर्थ है। यहां अच्छे साधु-सन्त

रहते हैं। क्या इनमें से मेरी भेंट किसी से करा सकते हैं ?" परिव्राजक जी ने उत्तर दिया, "गंगाजी के उस पार 'झूसी' नामक स्थान है, वहां साधु-संन्यासी रहते हैं। इच्छा हो तो रविवार के दिन आपको 'झूसी' ले जाऊं।" प्रो० साहब तैयार हो गए और रविवार का प्रोग्राम बन गया। वहां मैंने एक अधेड़ उमर की पंजाबिन स्त्री को देखा। जब उसने मुझसे पंजाबी भाषा में बोलना आरम्भ किया, तो मुझे अपनी प्यारी जन्मभूमि 'पंजाब' की याद आ गई। मैंने उसके चेहरे से भांप लिया, वह अत्यन्त दु:खी है। किसी उपदेष्टा विद्वान् गुरु की तलाश में है।

"वह हम दोनों को अपने साथ ले चली। फलों से हमारा सत्कार किया। उसके सद्व्यवहार और व्यवहारिक बुद्धि का प्रो० राबिन्स पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा। उन्होंने मुझसे पूछा—"यह कौन है ?यह तो किसी भले घर की 'सुशील' महिला जान पड़ती है। मैं जरा इसका फोटो लेना चाहता हूं।" प्रो० साहब अपना कैमरा ठीक करने लगे और मैं पंजाबिन माई के साथ पत्थर की शिला पर बैठ गया। प्रो०साहब ने मुझ से पूछा – "क्या पंजाबिन माई की कथा सचमुच रुलाने वाली है—आप मुझे उसे सुनाइए ?" मैंने कहा—"यहां कांगड़ा पर्वत के आंचल में बसे हुए धर्मशाला नामक ग्राम की रहने वाली है। वह एक खत्री परिवार की महिला है। उसका पति बड़ा भारी व्यापारी था। उसका व्यापार बम्बई तक फैला हुआ था। घर में किसी वस्तु की कमी नहीं थी। परन्तु एक बार भयंकर भूचाल आया। उसका घर भी उजड़ गया। अभागा पिता अपने जवान लड़के व लड़की के साथ दबकर मर गया। उसकी गृहणी अपनी छोटी लड़की 'देवी' को लेकर जालन्धर आई। जालन्धर में आकर कुछ समय तक एक मकान किराये पर लेकर रही। वहां उसकी लड़की को क्षयरोग ने आ घेरा। वह अपनी बच्ची को लेकर तीर्थराज प्रयाग में आ गई। जहां उसने अपनी प्यारी बेटी का इलाज करवाना आरम्भ किया, परन्तु वह उसे नहीं बचा सकी। वह अपनी माता को छोड़कर, पिता के पास चली गई। पुत्री के वियोग में उसकी मां जल-समाधि लेने के लिए संगम की ओर चल पड़ी। वह एक नौका पर बैठ गई। नौका चलने के लिए तैयार थी, एक वृद्ध संन्यासी दौड़ता हुआ आया, बोला 'मुझे भी पार जाना है—संग ले चलो।' संन्यासी नौका में बैठ गया। नौका चल पड़ी, स्त्री ने संन्यासी को अपनी रामकहानी सुनाई। स्वामी जी ने सान्त्वना दी और बताया कि संसार नाशवान् है। इसके फलस्वरूप दु:खी माता ने आत्महत्या का संकल्प छोड़ दिया—तब से वह संन्यास लेने की इच्छा से गुरु को खोज रही है।

"कुछ वर्ष बाद—मैं पं०मोतीलाल नेहरू के स्वर्गारोहण के अवसर पर इलाहाबाद गया। पंजाबिन माई की खोज में झूसी पहुंचा। देखा झूसी में रेल के पुल के पास वह तपस्विनी एक संन्यासी से संन्यास लेकर रत्नभारती बनी बैठी है। आसपास के लोगों में पंजाबिन माई के नाम से प्रसिद्ध है। वर्षों के जीवन-संग्राम ने उसके शरीर को अत्यन्त निर्बल कर दिया है, उसके दांत गिर गए हैं, आंखें कमज़ोर हो गई हैं। फिर भी वह एक

---

1. देवचतुर्दशी, पृ० 188

वीर सैनिक के समान एकान्तवास करती हुई जीवन-संग्राम में विघ्न-बाधाओं का डटकर सामना कर रही है। कहती है कि भूसी के किसी महन्त ने उसकी सम्पत्ति धोखे से अपने नाम करवा ली है—अब वह उसकी सहायता नहीं करता है। उसे धन की आवश्यकता नहीं, उसे आवश्यकता है सहृदयता और सहानुभूति की।"

'पंजाबिन माई' की यह रामकहानी सुनाने के बाद परिव्राजक जी जनता से अपील करते हैं—

"क्या प्रयाग के धर्मात्मा स्त्री-पुरुष उस तपस्विनी की समय-समय पर सुधि लेते रहेंगे ? अब वह अत्यन्त कृश है। बीमार भी रहती है। मुझे पूरा विश्वास है कि धार्मिक हिन्दू जनता अवश्य ही इस 'पंजाबिन माई' के अन्तिम दर्शन में उसकी सेवा करेगी और उसकी कुटिया को एक स्मारक बना देगी।"[1]

लेखक ने लिखने की शैली में इसे कहानी का रूप अवश्य दे दिया, पर यह एक अपील है, जो जनता से की गई है। 'पंजाबिन माई' का जिस रूप में वर्णन किया है उसमें वास्तविकता जान पड़ती है। इस प्रकार पंजाबिन माई के समान समाज के द्वारा सताई हुई न जाने कितनी अनाश्रित अबलायें तीर्थ-स्थानों पर आश्रय की खोज में भटकती फिरती हैं, उनके भोलेपन से लाभ उठाकर छद्मवेषी साधु-सन्त और महात्मा इस प्रकार उनके जीवन को नारकीय बना डालते हैं या किस प्रकार उनकी जमापूंजी को ठगकर आनन्द करते हैं। उसका जीता-जागत उदाहरण इस कहानी की नायिका 'पंजाबिन माई' है।

पंजाबिन माई की कहानी उसके प्रति सहानुभूति और संवेदना जागृत तो अवश्य कर देती है, पर जीवन के घात प्रतिघात जिस रूप में दिखाए जाने चाहिए थे, उनका इस कहानी में अभाव है। यह दोष परिव्राजक जी की अन्य कहानियों में भी पाया जाता है। कहानी की उठान के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। कहानी को व्यर्थ का विस्तार देने के लिए परिव्राजक जी संवादों की कुछ अनावश्यक योजना कर देते हैं जिसके कारण कहानी की उठान में जिज्ञासा का अभाव रहता है। यह कहानी का आवश्यक तत्त्व है, जो संवादों की अनावश्यक योजना के कारण दब जाता है।

(12) फ्रांसीसी फन्दे

यह इस संग्रह की बारहवीं कहानी है। परिव्राजक जी पांच बार जर्मन-यात्रा कर चुके थे। जर्मन जन-जीवन का प्रभाव उन पर होना अनिवार्य ही था। उन्होंने हिटलर कालीन जर्मनी को भी देखा था। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त जर्मनी को जो अपमानजनक सन्धि योरोपीय राष्ट्रों से करनी पड़ी थी, उसके अभिशाप को भी वह देख चुके थे। यह कहानी प्रथम विश्वयुद्ध के युद्ध की इसी अपमानजनक सन्धि के बाद से आरम्भ होती है।

'रिआ' इस कहानी की नायिका है और उसका प्रेमी 'कुर्त' इसका नायक है।

---

1. देवचतुर्दशी, पृ० 188

दोनों ही जर्मन हैं। यह इस संग्रह की जासूसी कहानी है। 'फिलिप कौन्डे' एक फ्रांसीसी जासूस है, जो हंसमुख स्वभाव का व्यक्ति है, यद्यपि देश-प्रेम की भावना मनुष्य मात्र में होनी चाहिए, परन्तु जब वह धर्मान्धता का रूप धारण कर लेती है, तो उसमें पागलपन आ जाता है। 'फिलिप कौन्डे' भी एक ऐसा ही पागल है। उसके जासूसों का जाल सारे जर्मनी में फैला हुआ है।

वैसे तो यह प्रेम-कहानी है, पर 'कौन्डे' तथा उसके गुर्गों की जासूसी ने इस कहानी को अत्यन्त कौतूहलपूर्ण बना दिया है। यह इस संग्रह की सबसे लम्बी कहानी है, जो सड़सठ पृष्ठों में समाप्त हुई है। प्रेम कहानी और उस पर जासूसी का रंग फिर पाठक की उत्सुकता क्यों न बढ़े ?

कहानी की नायिका 'रिआ' अपने प्रेमी 'कुर्त्त' का प्रेम-पत्र जर्मनी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर 'फ्रैंक फोर्ट' के 'एप्रा हाउस' के सामने उद्यान में वृक्षों की सघन छाया के नीचे बेंच पर बैठी हुई पढ़ रही थी, वह पत्र पढ़ने में इतनी तन्मय थी कि उसे यह भी पता नहीं था मेरे पास कौन बैठा है। उसकी मां वहां आकर कहती है, "एक बजने को आया क्या तुझे भूख नहीं लगती", वह हड़बड़ाती हुई माता के साथ चल पड़ती है, इस घबराहट में वह प्रेम-पत्र बेंच पर छोड़ जाती है, जिसे फ्रांसीसी जासूस उठा लेता है।

इस पत्र से फ्रांसीसी जासूसों को यह पता चलता है कि जर्मन सरकार का एक विश्वासपात्र व्यक्ति छुट्टियों पर 'कोलोन' जाएगा, उसने अपने इस पत्र को अपनी प्रेमिका के पास भेजा। वह रास्ते में फ्रैंकफोर्ट ठहरेगा। फ्रांसीसी जासूस ने अपने आफिसर 'कौन्डे' को यह सूचना टेलीफोन द्वारा दी। पहुंचने पर 'रिआ' को अपने प्रेम-पत्र का ध्यान आया। उसकी मां ने पूछा—"बेटी, तू इतनी बेचैन क्यों है ?" 'रिआ' ने आंसू बहाते हुए कहा—"कुर्त्त ने मेरे पास पत्र भेजा था कि वह छुट्टियों पर कोलोन जाएगा। रास्ते में फ्रैंकफोर्ट ठहरने का उसका विचार है। उसने कई एक प्राइवेट बातें भी उस चिट्ठी में लिखी हैं। मैं वही चिट्ठी पढ़ रही थी, जब तुम मुझे बाग में मिली थीं।"

बहुत खोज करने पर भी वह प्रेम-पत्र फिर उनके हाथ नहीं लग सका। बृहस्पतिवार का दिन था। अचानक 'रिआ' को 'कुर्त्त' का दूसरा प्रेम-पत्र मिला। वह उसे खोलकर पढ़ने लगी और मुस्कराकर अपनी मां से बोली—"कुर्त्त, शुक्रवार को आ रहा है, पता नहीं वह यहां ठहरेगा या नहीं। यदि नहीं तो मुझे उसके साथ जाना पड़ेगा। हम लोग एक सप्ताह के लिए 'कुनिगविंटर' जायेंगे। फ्रैंकफोर्ट जर्मनी का प्रसिद्ध नगर है। राइन नदी के किनारे पर बसा है। इसी नगर के एक भाग में टौगैस-गासे नाम की गली में 'रिआ' अपनी विधवा माता और छोटे भाई के साथ रहती थी। उसका बाप युरोबी महासमर में मारा गया। उसकी विधवा माता को जो पेन्शन मिलती थी, वह उसी से अपने इन दो बच्चों को शिक्षा देने के लिए फ्रैंकफोर्ट आई हुई थी। 'रिआ' के पिता

---

1. देवचतुर्दशी, पृ० 193

'राइन' नदी के किनारे एक कस्बे में रहते थे। उनका बड़ा सुन्दर मकान और खेत था। लेकिन महासमर ने जर्मनी के बड़े-बड़े अमीरों को कंगाल कर दिया। मिस्टर एकार्ड—रिआ के पिता के मर जाने के बाद उसकी विधवा के पास जो धन था वह मिट्टी हो गया। केवल निज का मकान बाकी रहा। उसे किसी दूसरे को किराये पर देकर वह विधवा अपने लड़के और लड़की को लेकर 'फ्रैंकफोर्ट' चली आई और वहां एक निर्धन मुहल्ले में मकान किराये पर लेकर रहने लगी। 'रिआ' की मुलाकात 'कुर्त्त' से कोलोन में हुई जबकि वह वहां पर घूमने के लिए गई थी। वहीं से उनका आपस में प्रेम-सम्बन्ध हुआ। दोनों के संरक्षक इस सम्बन्ध पर राजी थे, पर रिआ की मां लड़की की शिक्षा समाप्त हो जाने के बाद विवाह करने पर सहमत थी। इसीलिए उनका विवाह अभी तक नहीं हुआ था।"[1] 'कुर्त्त' अपने पिता का एक ही लड़का था, देखने में सुन्दर और आकर्षक था। हाई स्कूल तक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त उसने सरकारी नौकरी कर ली थी। जब 'रिआ' से उसका सम्बन्ध हुआ तो उसकी आयु 25 वर्ष की थी। शुक्रवार की रात को बर्लिन से आनेवाली गाड़ी फ्रैंकफोर्ट स्टेशन पर पहुंची—'रिआ' अपनी माता और भाई के साथ प्लेटफार्म पर खड़ी थी। 'कुर्त्त' अपने दोनों सूटकेस हाथों में ले, ओवरकोट कन्धे पर रख गाड़ी से नीचे उतरा। परस्पर प्रेमाभिनन्दन के उपरान्त 'रिआ' की मां ने पूछा—"कुर्त्त, तुम कितने दिन फ्रैंकफोर्ट में ठहरोगे ?" "मुझे केवल दस दिन की छुट्टी है। मैं चाहता हूं रिआ को रात के बारह बजे की गाड़ी से 'कोलोन' ले चलूं।"

"तो तुम हमारा खजाना लूटने आये हो ? 'रिआ' को ले जाओगे तो मैं अकेली घर का काम कैसे करूंगी ?" ऐसा कहकर चारों प्लेटफार्म से उतरकर एक होटल में आए और वहां एक मेज के इर्द-गिर्द बैठ गए। 'कुर्त्त' के लिए भोजन मंगवाया गया और चारों जने बातचीत करने लगे। वह बातचीत में इतने तन्मय हो गए थे, कि उन्हें यह भी पता न चला कि कोई पांचवां आदमी इनकी बातें सुन रहा है।

अपनी डाक देखने के बाद जब कौन्डे को यह पता चला 'कुर्त्त स्टाइन' नामक एक जर्मन युवक बर्लिन से कोलोन जा रहा है, तो उसने फौरन अपने कुशल जासूस को उसे फंसाने के लिए रवाना किया। इस जासूस का नाम 'स्टीफन' था। एक दिन कुर्त्त रिआ के साथ फोक्सगार्टन नामक उद्यान में घूम रहा था। कुर्त्त और रिआ दोनों एक सरोवर के किनारे एक बेंच पर बैठकर बातें कर रहे थे।

रिआ ने पूछा—"तो कुर्निबिंटर कब चलोगे ?" कुर्त्त ने उसके गले में हाथ डालकर कहा—"जल्दी क्या है रिआ ! तुम तो मुझसे भी जल्दबाज हो। कल तक पैसा हो जाएगा, तनख्वाह बर्लिन से आएगी। मेरे पास काफी पैसा हो जायेगा, फिर हम दोनों कुनिगविंटर चलकर राइन नदी का आनन्द लूटेंगे।"

"वाह ! तुम बर्लिन से आए और अपने साथ अपनी तनख्वाह भी न लेकर आए !"

---

1. देवचतुर्दशी, पृ० 196
2. देवचतुर्दशी, पृ० 201

'रिआ' ने मीठा रोष प्रकट करते हुए कहा। "तुम क्या जानो राष्ट्र की विपत्ति को। कितने मार्क हम लोग दण्ड के तौर पर फ्रांस, इंगलैण्ड, वेलजियम और इटली को दे देते हैं। मैं जब इस विषय पर विचार करता हूं तो मेरा हृदय विदीर्ण हो जाता है।"

"चलो घर चलें।" दोनों खड़े हो गए और बाग से बाहर जाने के इरादे से दरवाज़े की ओर चले। मार्ग में 'रिआ' ने 'कुर्त्त' का हाथ दबाकर उससे पूछा—"क्या तुमने उस नवयुवक को देखा? जिसकी पीठ हमारी ओर थी। किन्तु उसका ध्यान हम लोगों की ओर था, लगता था जैसे वह हमारी बातें सुन रहा हो।"

"कोई होगा हमें इससे क्या मतलब! पब्लिक का बाग है। सभी आते-जाते हैं।" कुर्त्त ने लापरवाही से उत्तर दिया। यह युवक 'स्टीफन' था जो इन दोनों प्रेमियों की बातें सुन रहा था। इस प्रेमी-युगल के चले जाने पर वह अपने किसी दूसरे बूढ़े साथी की प्रतीक्षा में खड़ा रहा। उसने देखा वह आ रहा है तो उसे देखते ही बोला—"तुमने तो आज मुझे हैरान कर दिया। चार बजे मिलने को कहा था, अब सात बज गए। क्या ऐसे ही वायदा पूरा हुआ करता है।"

दोनों नीचे उतरे। अजीब जोड़ी थी। एक बूढ़ा आदमी बाल बिलकुल सफेद; चेहरे पर झुरियां पड़ी हुई और मुंह में सारे बनावटी दांत थे। देखने में बड़ा विषयी और लम्पट मालूम होता था। उसके चेहरे के निशान उसके जीवन का इतिहास दर्शक को स्पष्ट तौर से बतलाते थे।[1]

'स्टीफन' ने बड़े शान्त भाव से पूछा—"अब आप अपनी कथा सुनाइए।" वह बुड्ढा खांसकर कहने लगा—"मैंने उस नौजवान को ऐसी पट्टी पढ़ाई है कि कुर्त्त को मेरे पास 'राइन' के उस पार ले आवेगा और किसी न किसी तरह से मैं उसे कोबलांज तक ले चलूंगा, बाकी काम तुम्हारा है। आप अब अपने होटल में जाएं मैं अपने घर को आज से तीसरे दिन मुझे कुनिगविटर में मिलें, मैं आपका रास्ता बिजली की गाड़ी के पास होटल में देखूंगा। वहां जो काफी हाऊस है वहीं पर हम लोग मिलेंगे।"

'कुर्त्त' के एक मित्र का नाम 'आडलर' था। बचपन में दोनों एक ही स्कूल में पढ़े थे, इसलिए दोनों में अत्यन्त घनिष्टता थी। आडलर का बाप लड़ाई में मारा गया और माता अपने पति के मरने के बाद उसके शोक से दुःखी हो, शीघ्र ही परलोक सिधारी। जब लड़ाई खत्म हुई तो आडलर की उम्र दस वर्ष की थी। माता के मरने के बाद वह अपने चाचा के पास रहने लगा और वहीं उसने थोड़ा-बहुत विद्याभ्यास किया। लड़का सुशील था, अतएव सब लोग उसे चाहते थे और उसकी इच्छा थी कि वह कनाडा जाकर वहीं बस जाए। इसी धुन में वह इधर-उधर घूमा करता था। बूढ़े कौरवं के साथ उसका परिचय पलोरा में घूमते समय हो गया और बूढ़े ने लड़के को बुद्धू समझकर उसके द्वारा अपना काम निकालने का षड्यन्त्र रचा और अपने एजेन्ट द्वारा उसे चकमा

1. देवचतुर्दशी, पृ० 206
2. वही, पृ० 214-15

दिया कि वह कोबलांज चले, जहां वह अपने एक मित्र की सिफारिश से उसे कनाडा भेजने का प्रयत्न करेगा और साथ ही उसने कुर्त्त के विषय में भी उससे पूछताछ लिया। यह भी पट्टी पढ़ाई कि वह कुर्त्त को भी कोबलांज की सैर करने के लिए कहे। आडलर ने बूढ़े और उसके एजेन्ट पर किसी प्रकार का शक नहीं किया और उनकी सब बातों को निगल लिया।

जब आडलर भोजन करने के लिए गया, तो वहां उसे वह बुड्ढा बैठा हुआ मिला। उसने उसे अपने पास बिठाया और बोला—"अभी तक तूने भोजन नहीं किया। अभी तो स्टीमर आया ही है, इतनी जल्दी भोजन कैसे कर लेता ? तुम्हें रुपयों की कमी रहती है, मेरे कोई लड़का नहीं है, मैंने पैसा खूब पैदा किया है, तुम्हें कितना रुपया कनाडा जाने के लिए चाहिए ?" बुड्ढे ने पूछा ?

"दो हजार मार्क में मेरा काम अच्छी तरह चल जाएगा। मैं अभी तुम्हें दो हजार मार्क दे सकता हूं। तुम एक कागज पर इसकी रसीद लिख दो। साथ यह भी वायदा करो, कनाडा पहुंचकर मेरा रुपया धीरे-धीरे वापस कर दोगे।" आडलर ने बुड्ढे को रसीद लिखकर दे दी और रुपये जेब में रख लिए। "क्या तुम्हारे साथ तुम्हारा मित्र भी आया है ? बुढे ने कहा ? यदि तुम्हारे साथ तुम्हारा मित्र आया हो तो उसे लेकर थियेटर में चलना।"

आडलर ने उत्तर दिया—"उसके साथ उसकी प्रेयसी भी है। ईश्वर ने बड़ी दया की, जो आप जैसे दानी को भेज दिया।" जब बूढ़ा चला गया, तो आडलर वहां गली के कोने पर खड़ा सोचने लगा। कुर्त्त उसका रास्ता देखता होगा। वह जल्दी-जल्दी होटल की तरफ चला। कुर्त्त ने उठकर दरवाजा खोला और अपने मित्र का हाथ पकड़कर कमरे में ले गया। "आडलर, तुम भी खूब रहे, मुझे यहां लाये और अब तक गुम रहे। भले आदमी मुझे नौकरी पर जाना है, शाम हो गई है, केवल कल ही के दिन मैं मुश्किल से यहां ठहर सकूंगा।" आडलर ने मीठे स्वर में उत्तर दिया—"तुम नौकरी पर जा रहे हो फिर न जाने कब मुलाकात हो। इस कारण मैं तुम्हें घुमाने के लिए ले आया हूं। यह देखो, तुम्हारे और अपने लिए आज रात को थियेटर के टिकट ले आया हूं।" कुर्त्त ने रिआ को अपने साथ ले जाने की जिद्द की, परन्तु आडलर ने प्रतिवाद किया "तुम जानते हो फ्रान्सीसी सिपाही कैसे उजड्ड होते हैं। वे भी थियेटर में आएंगे, यदि कुछ दिल्लगी हो गई तो लड़ाई हो जाएगी।" दोनों रिआ को होटल में ही छोड़कर चल दिये। दोनों मित्र खेल देखने में तन्मय थे। इतने में किसी ने आकर आडलर के कान में कुछ कहा और वह कुर्त्त से यह कहकर 'मैं अभी आता हूं' बाहर चला गया और थोड़ी देर के बाद लौटकर आया। कुर्त्त अपने ध्यान में इतना मस्त था कि उसे पता भी नहीं लगा कि आडलर के साथ दो और आदमी आकर उसके नजदीक बैठ गए हैं। रात के दो बजे थियेटर खतम हुआ और वे लोग बाहर निकले। मोटर तैयार खड़ी थी। जब आडलर

उसमें बैठा तो कुर्त्त भी उसके साथ बैठ गया और मोटर हवा हो गई।[1]

मोटर ने नया रास्ता पकड़ा, वह शहर से बाहर हो गई। 'कुर्त्त' ने पूछा—"क्या होटल नहीं चलोगे?" उन दोनों में से एक नौजवान ने उत्तर दिया—"आप हमारे मित्र के मित्र हैं, हमारा बंगला यहां से नजदीक ही है, हमने सोचा तीन-चार घण्टे में दिन हो जाएगा, इसलिए होटल क्यों चला जाय, आप हमारे यहां आराम कीजिएगा।" कुर्त्त चुप रहा। एक घण्टे के बाद मोटर बंगले पर पहुंची और सब सोने के लिए चल दिए। कुर्त्त तो थका हुआ ही था, पलंग पर लेटते ही सो गया। परन्तु आडलर की आंख खुली। उसने नौकर से पूछा—"दूसरे मेहमान उठे या नहीं?" नौकर ने उत्तर दिया—"वह उठकर चले गए।" आडलर ने जल्दी-जल्दी कपड़े पहने और कुर्त्त के कमरे में आया।

देखा वहां कुर्त्त नहीं था और न उसकी कोई चीज ही मौजूद थी। नौकर ने 'आडलर' के हाथ में एक लिफाफा दिया। उसमें लिखा था "आप समझते होंगे कि मैंने आपके साथ धोखा किया। लेकिन ऐसी बात नहीं है। मैंने आपके साथ वायदा किया था कि आपको कनाडा पहुंचा दूंगा, सो मैं उस पर कायम हूं! अब आप और सब बातों का ख्याल छोड़कर इसी एक बात का फैसला करें। यदि आप कनाडा जाना चाहते हैं तो इस नौकर के हाथ जवाब लिख भेजें। मैं आपको ओस्टैन्ड से कनाडा जाने वाले स्टीमर में भेजने का प्रबन्ध कर दूंगा और बाकी खर्च के लिए भी रुपया दे दूंगा। मैं आपसे बहुत सन्तुष्ट हूं।"

कुछ क्षण सोचने तथा विचारने के बाद उसने पैन्सिल से कागज़ के टुकड़े पर लिखा और नौकर से कहा कि "वह चिट्ठी उसे दे आ जिसने तुझे यह चिट्ठी दी है।" आडलर ने लिखा था—

"हां, मैं कनाडा जाने को तैयार हूं। आप मेरा प्रबन्ध कर दें।" इसके उत्तर में उसे पत्र मिला—"आप यह भुला दें, आपके साथ क्या हुआ।"[2]

"हां, यदि आप योरोप में ही रहना चाहते हैं तो भी आपके लिए बड़ी अच्छी नौकरी तलाश कर सकता हूं। आप हमारे खुफिया विभाग में नौकरी कर लें। आपको बड़ी अच्छी तनख्वाह मिलेगी और आप राइनलैण्ड में बराबर आ जा सकेंगे।"[3]

आपका

(के)

यह पत्र पढ़कर मानो आडलर को ऐसा प्रतीत हुआ, ब्रजाघात हुआ।

'रिआ' ने घड़ी की ओर देखा डेढ़ बज चुके थे, कुर्त्त लौटकर नहीं आया। वह अपने घर चली गयी। पांच दिन तक रिआ कुर्त्त के आने का रास्ता देखती रही। छठे दिन जब उसने फ्रैंकफोर्ट का दैनिक पत्र पढ़ा तो अवाक् रह गई। उसमें लिखा था—

1. देवचतुर्दशी, पृ० 224-25
2. देवचतुर्दशी, पृ० 226
3. वही, पृ० 227

"ओस्टेन्ड से एक फ्रांसीसी जहाज कनाडा जा रहा था, उसमें एक जर्मन युवक मिस्टर आडलर भी था, जो न जाने क्यों आत्महत्या करके मर गया।"[1]

बर्लिन के खुफिया विभाग का मुख्य अधिकारी 'शुस्टर' अपने कमरे में बैठा था, सहसा टेलीफोन की घण्टी बजी। किसी ने पूछा—"कुर्त्त का पता लगा? हमें पूरा शक है—फ्रान्सीसी खुफिया विभाग ने उसे इस मतलब के लिए उड़ाया है कि उसे अपने महकमें में भरतीकर जर्मन सरकार की प्राइवेट बातों को जान सकें। कुर्त्त जर्मन गवर्नमेण्ट का बड़ा विश्वासपात्र आदमी है, यह बात उनके किसी गुप्तचर ने उन्हें बतलाई होगी। उसी पर कुछ ऐसा षड्यन्त्र रचकर यह घृणित कार्य किया गया है।"[2]

'कुर्त्त' की खोज करता हुआ 'शुस्टर' उस होटल में पहुंचा जहां 'कुर्त्त' और 'रिआ' ठहरे थे। वहां पहुंचकर उसने होटल के प्रबन्धकर्त्ता से एकान्त में भेंट की और उसे जर्मन सरकार का परवाना दिखाकर उससे सहायता मांगी। यदि आप यह सरकारी आज्ञा-पत्र न दिखाते तो भी मैं आपकी सहायता करता। मैं भी जर्मन हूं कुछ मेरा भी अपनी पितृ-भूमि के प्रति कर्त्तव्य है। 'शुस्टर' ने कहा—"एक बूढ़ा यहूदी होटल में आवेगा, यह उसका फोटो है, उसे गिरफ्तार करना है।"

अब उसने 'कुर्त्त' के घर वालों का पता लगाया। 'शुस्टर' ने सोचा वह बूढ़ा शीघ्र ही कोलोन जावेगा, उसे वहीं खोजना चाहिए।

एक दिन संध्या के समय प्रदर्शनी वाले उद्यान की सैर करते हुए उसके कान में फ्रेंच भाषा में बातचीत करने वालों के ये शब्द पड़े। 'शुस्टर' आज पूरे फ्रांसीसी बने हुए थे। वहीं पेड़ों की छाया में छुपकर बैठ गए हैं और बातचीत सुनने लगे।

"तो क्या अभी तक मेरिया 'कुर्त्त' को काबू करने में सफल नहीं हुई।"[3]

"हुई क्यों नहीं! उसने रहस्य की बातें तो सब बतला दीं, कुर्त्त ने हमारे खुफिया विभाग की नौकरी करने से साफ इन्कार कर दिया है। वह कहता है कि मैं अपनी पितृभूमि के साथ कभी इस प्रकार का द्रोह नहीं कर सकता।"[4]

परन्तु अपनी सरकार के गुप्त रहस्यों को बता देना भी तो कम देशद्रोह नहीं है।

मेरिया ने तो इस सम्बन्ध में उसे धोखा दिया है। मीठी फ्रांसीसी शराब पिला कर, उसे अपने गुलाबी ओंठों का चुम्बन देकर उस भोले भाले जर्मन नवयुवक को मोह लिया। इस पर दोनों ने हल्का कहकहा लगाया और फिर धीरे-धीरे बातचीत करने लगे।

कोलोन नगर के बाहर एक छोटी-सी बस्ती है। वहां एक परिवार में तीन मेहमान

---

1. देवचतुर्दशी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 234
2. वही, पृ० 236
3. वही, पृ० 241
4. वही, पृ० 241

आए हुए हैं। इतने में किसी ने उसके रसोईघर का दरवाज़ा खटखटाया, उसने दरवाज़ा खोल दिया। देखा सामने ही जर्मन पुलिसमैन खड़ा है। पुलिस वाले ने पूछा—क्या आप उन आदमियों को जो आपके मेहमान हैं, जानती हैं ?"

"मैं उन्हें नहीं जानती। मेरा लड़का कोबलांज में नौकर है, ये उसी का परिचय-पत्र लेकर यहां आए हैं।"

पुलिसमैन ने पूछा "आपका लड़का वहां क्या करता है ?"

बुढ़िया ने उत्तर दिया—"वह वहां दुभाषिया है।"

"ये तीनों आदमी जर्मनी के दुश्मन हैं।" पुलिसमैन ने बड़े मीठे शब्दों में कहा।

बुढ़िया सब स्थिति समझ गई। उसने पुलिसमैन को मिस्टर 'शुस्टर' के साथ कर दिया और स्वयं इर्द-गिर्द पेड़ों में कहीं छिप गई। शुस्टर रसोईघर में घुसा और बुढ़िया के बताए हुए कमरे में बैठ गया। उस कमरे के दरवाज़े में जो चाबी का छेद था उसमें से वह उन दोनों की शक्ल देख सकता था और बातें सुन सकता था। उसने सुना—वह बुड्ढा कह रहा था—"मेरी राय यह है, अब 'कुर्त्त' को रखना फिज़ूल है, उसे छोड़ देना चाहिए। यदि वह फ्रांसीसी सरकार के विरुद्ध कुछ कार्य करेगा तो हम उसका भण्डा-फोड़ देंगे कि उसने इतना रुपया लेकर अपनी सरकार की गुप्त बातें उन्हें बताई है।"

इतना कहकर उसने दोनों आदमियों से हाथ मिलाया और वहां से बिजली की गाड़ी के स्टेशन की ओर चला। मिस्टर 'शुस्टर' ने इस आदमी को देख लिया। बड़ी तेजी से बाहर निकलकर पुलिस कान्सटेबल की तरफ लपका, वह बूढ़ा आदमी जो लपका जा रहा है उसे पकड़ लिया।

लेकिन न जाने स्टेशन पर पहुंचते ही वह बुड्ढा कहां ओझल हो गया।

रात बीत गई। दिन चढ़ा—घर की मालकिन उस बुढ़िया ने घर के बाहर निकल कर इधर-उधर देखा। मिस्टर 'शुस्टर' ने इशारे से उसे बुलाया और सब बात समझा दी। दिन चढ़ने पर सुबह का जलपान कर वे दोनों आदमी उस घर से निकले। बिजली की गाड़ी के स्टेशन पर मिस्टर 'शुस्टर' और उसका साथी उन दोनों के पीछे-पीछे बिजली की गाड़ी में बैठे और कोलोन की राह ली। रास्ते में उन्होंने जगह-जगह पुलिस तैनात पाई। कोलोन पहुंचकर वे दोनों फ्रांसीसी कोबलांज की गाड़ी पकड़ने के लिए सीधे स्टेशन पहुंचे। 'शुस्टर' भी अपने साथी के साथ उस गाड़ी से कोबलांज रवाना हुआ और उस बूढ़े को गिरफ्तार करने का काम कोलोन की पुलिस को सौंप दिया।"[1]

फ्रांसीसी तरुणी का प्यार पाकर 'कुर्त्त' एक ऐसी गलती कर बैठा, जो शायद उसे जन्म भर सताती रही है। आज उसे अपने देश के लिए विदा होना था, परन्तु 'मेरिया' का प्यार उसके पैरों की बेड़ियां बन चुका था। वह मेरिया से विदा लेते हुए बोला—"मुझे यहां आए हुए चार महीने होने लगे, तुमने मुझे अपने प्रेम में ऐसा रिझाया है कि मैं घर-बार भूल गया हूं। जो कुछ तुमने पूछा, मैंने बताया। जो बातें मुझे किसी से नहीं कहनी थीं, वे भी मैंने तुमसे कह दीं। मैं तो तुम्हारा कैदी हो गया हूं। तुम जो चाहो,

1. देवचतुर्दशी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 251

मेरे साथ करो।"[1]

'हिटलर के नेतृत्व में जर्मन राष्ट्र ही सर्वोपरि है तथा जर्मन जाति ही संसार पर शासन करने के लिए उत्पन्न हुई है। उसमें आर्य जाति का विशुद्ध रक्त प्रवाहित हो रहा है।' यह एक नारा था जो जर्मन-फासिस्टों ने यहूदियों तथा दूसरी जातियों के विरुद्ध दिया था। जर्मन-फासिस्टों का यह नारा द्वितीय विश्व-युद्ध की भूमिका बनकर सामने आया था। इसका विरोध उस समय संसार के प्रत्येक चिन्तनशील तथा समझदार आदमी ने किया था। परिव्राजक जी इसके समर्थक थे, जैसा कि इस कहानी से लगता है। अक्टूबर, 1924 की 'सरस्वती' में उन्होंने अपने यह विचार प्रकट किए थे—

"ठीक इसी प्रकार हिटलर का यहूदियों के विरुद्ध सांस्कृतिक आन्दोलन गहरी मार करेगा। यह प्राचीन आर्यों की संस्कृति का पुनरुद्धार करेगा, आर्यवंश के लोगों को आपस में मिलाएगा और संसार के लिए एक विश्व-संस्कृति पैदा करेगा। यहूदी-संस्कृति के दावेदार इस समय यहूदी, ईसाई और मुसलमान हैं। ईसाई यदि पुरानी बाइबिल त्याग कर दें और ईसा के ही मूल उपदेशों को मान लें तो उन्हें पता लगेगा कि वह सारा उपदेश आर्य-संस्कृति से ही लिया गया है। अपनी वर्षों की खोज के बाद भी योरोप के विद्वान् इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि शुद्ध आर्य-संस्कृति यूनानियों और हिन्दुओं के पास ही है और उन्हीं के ग्रन्थों से मिल सकती है।"[2]

परिव्राजक जी के इन फासिस्ट समर्थक विचारों का विरोध पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने किया था जिसके कारण उन्हें उनका कोपभाजन होना पड़ा। 8 अप्रैल, सन् 1935 के 'अर्जुन' में उन्होंने 'मस्तिष्क-विचार' या 'पतन' शीर्षक लेख लिखकर चतुर्वेदी जी को कुछ अनकहनी कह डाली थी, जिसके कारण चतुर्वेदी जी के सम्बन्ध उनके साथ बिगड़ने स्वाभाविक थे। चतुर्वेदी जी ने 'विशाल भारत' वैशाख 1922 संवत् तदनुसार अप्रैल, 1935 के अंक में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक जी का प्रचार-कार्य फैसिस्म का समर्थन और साम्यवाद का विरोध शीर्षक लेख में दिया था।

'कुर्त्त' आ गया। 'रोबर्ट', 'रिआ' और उसकी मां तीनों नीचे दरवाज़ा खोलने गए, और जब दरवाज़ा खुला तो 'कुर्त्त' ने खुशी के साथ हाथ मिलाए और मिस्टर 'शुस्टर' से उनका परिचय करवाया और कहा—"इनकी कृपा से हमने तुम्हें पाया है इन्हें धन्यवाद दो।"

दूसरे दिन के अखबारों में 'कुर्त्त' और 'रिआ' ने पढ़ा कि एक बूढ़ा यहूदी जो नौजवानों को बहकाकर देशद्रोही बनाया करता था, कोलोन में राहिन के किनारे आत्म-हत्या करके मर गया। कोलोन की पुलिस ने उसकी लाश की पहचान कर ली है।"[3]

---

1. देवचतुर्दशी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 252
2. सरस्वती, जून-1934
3. देवचतुर्दशी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 256

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के उपरान्त जर्मन समाचारपत्रों ने यहूदियों पर देशद्रोह का आरोप लगाकर उनके विरुद्ध प्रचार करना आरम्भ कर दिया था। इस कहानी में यहूदियों के प्रति जर्मन समाचारपत्रों द्वारा विषाक्त प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है। इस कहानी का एक पात्र बूढ़ा यहूदी इसका जीता जागता उदाहरण है। उस समय जर्मनी, ब्रिटेन, बेलजियम तथा फ्रांस के बीच में जो शीत-युद्ध चल रहा था, उसकी झलक भी इस कहानी में दिखाई देती है।

कहानी सभी दृष्टि से सुन्दर बन पड़ी है। चरित्र-चित्रण तथा घटनाक्रम दोनों का ही समावेश मार्मिक ढंग से हुआ है। चरित्र-चित्रण स्वाभाविक है। जिसमें लेखक स्वयं अपनी ओर से कुछ न कहकर पात्रों के सम्बन्ध में निर्णय देने का भार पाठकों पर ही छोड़ देता है। प्रथम युद्ध के पश्चात् हिटलर से पूर्व जर्मनी की क्या दशा थी, ब्रिटेन, बेलजियम, फ्रांस के साथ की गई सन्धि उसे कितनी महंगी पड़ी, इसका आभास भी इस कहानी में मिल जाता है। वास्तव में यह सन्धि ही दूसरे विश्व-युद्ध की भूमिका थी। इसने स्वाभिमानी जर्मनवासियों के हृदय में प्रतिशोध की आग सुलगा दी थी। तत्कालीन इतिहास के अध्ययन में रुचि रखने वालों की दृष्टि में यह कहानी कभी पुरानी नहीं हो सकती। कहानी आदि से अन्त तक प्रवाहपूर्ण है। इसमें कहीं शैथिल्य का नाम नहीं है। लेखक कई बार जर्मन यात्रा कर चुका था इसलिए वहां का आंखों देखा वर्णन करने में उसे कल्पना से काम नहीं लेना पड़ा। उसके वर्णन बड़े स्वाभाविक बन पड़े हैं।

(13) शिकार के दाव-पेंच

यह इस संग्रह की तेरहवीं कहानी है। कहानी का शीर्षक शिकार के दाव-पेंच उसे बहुत सीमित कर देता है। मनुष्य-जीवन ही एक लड़ाई है। जिसमें एक-दूसरे को पछाड़ने के लिए हर व्यक्ति अपने-अपने दाव-पेंच लड़ाता रहता है। शिकार में ही नहीं, जीवन के सभी क्षेत्रों में ऐसे दाव-पेंच लड़ाए ही जाते हैं।

'नूरी' या 'नूर इलाही' भी इस कहानी का ऐसा ही पात्र है। जो शिकारियों को शिकार में सहायता पहुंचाता था। उसका काम था हिंसक पशुओं को घेर घारकर निशाने पर ले आना, प्रायः अंग्रेज शिकारी जब शिकार के लिए आते थे तो बूढ़ा 'नूर इलाही' कनस्तर बजाकर कभी भालू, कभी जंगली सूअर और कभी किसी हिरण को घेरकर लाता और साहब बहादुर से इनाम के तौर पर पचास-साठ रुपये पा जाता।

एक पारसी सज्जन ने एक बार नूरी से कहा—"मैं भालू का शिकार करना चाहता हूं। क्या तुम मेरी मदद करोगे ?"

"हज़ूर कोशिश करना मेरा काम है आगे खुदा की मर्ज़ी।" नूरी ने उत्तर दिया।

पारसी खुश हो गया। वह नूरी की बतलाई हुई जगह पर ओट में बैठ गया। उसने अपनी बन्दूक तानी और गोली छोड़ दी। पर भालू बिलकुल नहीं हिला। फिर किसी चीज के हिलने से वह गिर गया। और न जाने कहां लोप हो गया। पारसी यह सोच रहा था—क्या मेरी गोली उसे नहीं लगी ? भालू नाले के ऊपर भागा जा रहा था। नाला

सूखा था, इसलिए शिकारी ने घोड़े पर चढ़कर उसका पीछा करने का इरादा किया।

'नूरइलाही' दौड़ा हुआ आया, और बोला—"हजूर, वह जख्मी होकर भाग गया है। अब कहाँ मिलेगा ?"

शिकारी ने इसकी परवा नहीं की और भालू की खोज में निकल पड़ा। भालू एक टीले की ओट में था, संध्या होने में अभी देर थी, शिकारी ने हृदय को कंपा देने वाली शेर की दहाड़ सुनी। उसने घोड़ा छोड़ दिया और अपनी बन्दूक कन्धे पर डालकर पेड़ पर चढ़ गया। शेर वहीं नीचे खड़ा हुआ बिल्ली की तरह पूंछ हिला रहा था, घोड़ा जान बचाने के लिए बेतहाशा भागा, परन्तु शेर ने उसका पीछा नहीं किया। तब शिकारी ने दूरबीन लगाकर देखा, तो शेर को भूमि पर लेटा हुआ पाया। वह हाथों के बल जमीन पर चलने लगा, जिससे निशाना न चूक जाये और अपनी बन्दूक का निशाना बनाने की धुन में बैठ गया।

जब वह उसके समीप पहुंचा तो शेर को आहिस्ता-आहिस्ता दोनों पैरों से जाते हुए पाया, शिकारी ने न आव देखा न ताव गोली छोड़ दी, उसे एक चीख सुनाई दी, पर वह शेर की आवाज़ नहीं थी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि गोली उसकी पीठ पर लगी है। जब वह दस-पन्द्रह कदम फासले पर पहुंचा तो उसे सुनाई दिया—"हजूर, दूसरी गोली मत मारना।

नूरइलाही ने जैसा धोखा इस पारसी शिकारी के साथ किया था, वैसा धोखा न जाने कितने शिकारियों के साथ कर चुका था। यह पहला ही अवसर था जब उसे अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

यह इस संग्रह की सबसे छोटी कहानी है। परन्तु छोटी होते हुए भी प्रवाह और प्रभाव की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह जीवन एक शतरंज है जिसमें हमें कितनी बार करारी मात खानी पड़ती है और कितनी बार हम दूसरों को मात देते हैं। 'नूरइलाही' या 'नूरी' इसी तरह का एक खिलाड़ी है, जो जीवन में न जाने कितने को इस शतरंज में मात दे चुका है, पर आज उसे स्वयं ही मात खानी पड़ी। इस प्रकार मानव-जीवन के इस शीत-युद्ध का अत्यन्त सजीव वर्णन इस कहानी में किया गया है। छोटी होने के कारण कहानी बीच में ही पढ़कर छोड़ देने का प्रश्न नहीं उठ पाता, यही इसकी विशेषता है।

14. भेंट का भंवर

यह इस संग्रह की 14वीं अथवा अन्तिम कहानी है जो सबसे छोटी होते हुए भी अत्यन्त प्रवाहपूर्ण है।

पन्ना राज्य के एक जागीरदार रामसिंह से युवती 'सीलिया' की भेंट होती है, जो एक स्काट युवती थी। दोनों का परिचय एक-दूसरे को अत्यन्त समीप ला चुका था। 'सीलिया' शतरंज के खेल में बड़ी दिलचस्पी रखती थी। उसने अपने प्रेमी एलेक्जेण्डर से कहा—"इस हिन्दुस्तानी की अंगूठी मैं 'जेनेवा' पहुंचने से पहले भेंट में लेना चाहती हूं।

आगे से मैं अपना सारा समय इस हिन्दुस्तानी के साथ शतरंज खेलने में खर्च करूंगी। तुम क्रोध और ईर्ष्या मत करना।"

एक दिन 'सीलिया' ने 'रामसिंह' से पूछा—"आप शतरंज तो नहीं खेलते ?"

"मैं एक रियासत का जागीरदार हूं, यह कैसे हो सकता है कि मुझे शतरंज खेलना न आवे।"

बड़ी खुशी से सीलिया ने रामसिंह को खेल का निमन्त्रण दे दिया। सीलिया और रामसिंह का कद एक जैसा था। कोई पांच फुट दस इंच के करीब। लेकिन रामसिंह के रंग में वह मिश्रण था, जिसके लिए योरोपीय नारी व्याकुल रहती है। सीलिया ने अपना परिचय रामसिंह को दिया, और उसका परिचय स्वयं प्राप्त करना चाहा।

उसने बताया—"मैं पन्ना स्टेट का रहने वाला हूं। शायद उसका नाम आपने सुना होगा। पन्ना स्टेट अपने बहुमूल्य पत्थरों के लिए प्रसिद्ध है।"

"तभी तो आपकी उंगली में ऐसा कीमती पत्थर चमक रहा है। कितना अच्छा पत्थर इस अंगूठी में है।"

बस उसका इतना कहना था कि रामसिंह ने वह अंगूठी प्रेम से स्वयं उसके दाहिने हाथ की उंगली में पहना दी। जब रामसिंह पन्ना लौटा तो उसकी पत्नी ने बड़ा स्वागत किया। जब विलायत से डाक आयी तो उसे एक लिफाफा मिला जिसमें लिखा था—"प्यारे, मैंने वह अंगूठी एक जौहरी को दिखलाई थी, जिसने उसकी कीमत 3000 पौण्ड लगायी थी। जौहरी ने पन्द्रह दिन के बाद उसकी कीमत अदा करने के लिए कहा था। लेकिन जब पन्द्रह दिन के बाद रुपया लेने गई तो उस बेईमान ने कहा यह पुखराज नकली है। मैं यह सुनकर बेहोश हो गयी, मैं उस दिन को कोसती हूं जिस दिन जौहरी के पास गई।"

श्रीमती जी ने यह सब सुना तो बोलीं—"आपने तो अंगूठी की बाबत मुझे कुछ नहीं बतलाया था। परन्तु ईश्वर बड़ा दयालु है। जब आप विलायत जाने लगे थे, तब मैंने जान-बूझकर असली अंगूठी के स्थान पर वह नकली अंगूठी बनवाकर आपको पहना दी थी, ताकि अगर कोई विलायती नारी आपको ठगे भी तो बहुत अधिक हानि न कर सके।"[1]

निष्कर्ष

परिव्राजक जी की कहानी-लेखन का कार्य द्विवेदी-युग से आरम्भ होता है। द्विवेदी जी जब तक 'सरस्वती' के सम्पादक रहे तब तक परिव्राजक जी की रचनाएं, कहानियां तथा विविध विषयों पर लिखे गए लेखों के रूप में प्रकाशित होती रहीं।

अतः हम कह सकते हैं कि परिव्राजक जी को आचार्य द्विवेदी जी का वह आशीर्वाद प्राप्त था, जिसे प्राप्त करने का सौभाग्य प्रसाद जैसे श्रेष्ठ साहित्यकार को भी

---

1. देवचतुर्दशी—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० 278

प्राप्त नहीं हो सका।

द्विवेदी-कालीन सरस्वती में किसी साहित्यकार की रचना का प्रकाशित होना सर्वसाधारण की दृष्टि में कम महत्त्व नहीं रखता था। इस युग के समाप्त हो जाने पर भी उनकी रचनाएँ 'माधुरी', 'चांद', विशाल भारत', 'मतवाला', 'हिन्दू पत्र' जैसे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। सर्वसाधारण की दृष्टि में किसी साहित्यकार की रचना की श्रेष्ठता का सबसे बड़ा प्रमाण यही माना जाता है। परन्तु एक शोधार्थी के नाते हमें इस सम्बन्ध में गहराई के साथ विचार करना है। हमें यह भी सोचना है कि अपने समय की जिस सर्वश्रेष्ठ पत्रिका 'सरस्वती' में परिव्राजक तथा प्रेमचन्द, सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' जैसे साहित्यकारों की रचनाएं प्रकाशित हुईं, उसी पत्रिका से प्रसादजी की रचनाएं क्यों लौटा दी गईं। इसे हम सम्पादक का अपना दृष्टिकोण कह सकते हैं। इसी दृष्टिकोण को सन्मुख रखकर हमने परिव्राजक जी की कहानियों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। उनके इस सम्पूर्ण कहानी-संग्रह में कितनी ही कहानियां ऐसी भी हैं, जिन्हें वर्तमान कहानियों के शिल्प-विधान को सन्मुख रखते हुए गद्य-साहित्य की इस विधा में स्थान नहीं दिया जा सकता। इसका हमने स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। उनकी कहानियां समय की दौड़ में आज बहुत पीछे रह गई हैं। द्विवेदी-युग के अन्य कहानी लेखक जिनमें प्रेमचंद, सुदर्शन, श्री विश्वम्भनाथ शर्मा कौशिक की कहानियां आज भी उसी प्रकार पढ़ी जाती हैं। उनमें आज भी नयापन उसी प्रकार मिलता है। कहानी कला की यह विशेषता विरले ही लेखकों में होती है, आज जो वस्तु नई होने के कारण सबका आकर्षण केन्द्र बनी हुई है, कल पुरानी पड़ने पर उपेक्षा की वस्तु भी बन सकती है। सरस्वती की पुरानी फाइलें इसकी साक्षी हैं। उसमें जिन कहानी लेखकों की कहानियां प्रकाशित हुई उनमें सभी प्रेमचन्द और कौशिक नहीं थे। द्विवेदी-युग के सामने सबसे बड़ी समस्या तो यह थी कि गद्य की विविध विधाओं को किस प्रकार हिन्दी पाठकों के सामने लाया जाए। उस समय आज के समान लेखक नहीं थे। आज तो किसी भी विषय पर लिखने वाले लेखकों की कमी नहीं है। प्रत्येक विषय पर संपादकों को इतने लेख मिल जाते हैं कि उनके सामने यह समस्या खड़ी हो जाती है कि किसे प्रकाशित करें और किसे लौटा दें।

परिव्राजक जी ने जिस समय साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया था उस समय लेखकों की एक बड़ी भारी कमी थी, जिसके लिए संपादकों को लेखकों की खुशामद भी करनी पड़ती थी। परिव्राजक जी की कहानियों को प्रकाश में लाते समय हमारा दृष्टि-कोण यह भी रहा है कि उस समय के कहानी साहित्य को इस रूप में रखा जाय कि जिसके द्वारा यह बताया जा सके कि आचार्य द्विवेदी तथा उनके समकालीन पत्रकारों ने किस प्रकर नए लेखकों को प्रोत्साहन देकर हिन्दी गद्य को सजाने और संवारने में योगदान दिया है।

वह अपनी कहानियों में एक स्वतन्त्र विचारक के रूप में उभरकर आए हैं। अपनी हर कहानी में उनका स्वतन्त्र चिन्तन एक खुली हुई पुस्तक के समान हमारे सामने

आता है। प्रजातंत्र के प्रति भी उनके विचार अच्छे नहीं थे। 'पार्टी पोलिटिक्स के पाप' शीर्षक कहानी में उन्होंने अमरीका के प्रजातन्त्री शासन का खुले शब्दों में मजाक उड़ाते हुए बिना किसी संकोच के अपनी यह सम्मति प्रकट की है।

"पब्लिक के सामने खूब उनके हितों का राग गाना, अपने आपको बड़ा स्वार्थ त्यागी बनकर दिखलाना और भौंकने वाले बक्की आदमियों को पैसा चटाकर काबू में रखना, ये पार्टी पालिटिक्स की ए० बी० सी० डी० वर्णमाला है।"

परिव्राजक जी भी एक प्रचारक थे, इसलिए उनकी कहानियां उनके विचारों तथा सिद्धान्तों का प्रचार करने का माध्यम बनकर रह गईं। अपने विचारों तथा सिद्धान्तों को सर्वसाधारण के सन्मुख ला सकने में उनकी कहानियां उनकी सहायक रही हैं। उनमें उनके प्रचारक का रूप ही हमारे सामने आता है। जब हम इस दृष्टि से उनकी कला पर विचार करते हैं तो हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि वे कहानीकार की अपेक्षा प्रचारक अधिक थे।

रचनाकाल के क्रम से जब हम उनकी कहानियों का अध्ययन करते हैं तो हम उन में उत्तरोत्तर कहानी-कला के शिल्प-विधान का विकसित रूप भी देखते हैं। ऐसी दशा में यह स्वीकार करना पड़ता है कि उनमें कहानी लिखने की प्रतिभा थी जो धीरे-धीरे विकसित हो रही थी, परिव्राजक जी बहुधन्धी जीव थे। कहानी-कला को ही उन्होंने अपनी लेखनी का विषय नहीं बनाया था। साहित्य की अनेक विधाओं पर उनकी लेखनी निरन्तर चलती रही। इसीलिए उनकी कहानी-कला का चरम विकास होते-होते रह गया।

उनकी कहानियों की समीक्षा करते हुए एक बात और खटकती है। लगता है कि कहानी लिखते ही वह प्रकाशनार्थ भेज दी गई और वह प्रकाशित भी 'सरस्वती' जैसी पत्रिका में हो गई, तब कहानियों के परिष्कार का प्रश्न परिव्राजक जी के सामने कैसे उठ सकता था। तत्कालीन पत्रकारों का वरदहस्त उनके सिर पर था। अब इसका दोषी किसे माना जाए ?

अष्टम अध्याय

परिव्राजक जी के काव्य-भाव एवं कला-पक्ष की विवेचना

कवि के गौरवमय पद को कोई भाग्यशाली ही प्राप्त करता है। विश्वविद्यालयों में काव्य-शास्त्र का अध्यापन कराने वाले मनीषी विद्वान् ध्वनि, रस, अलंकार आदि काव्यांगों की गम्भीर विवेचना कर सकते हैं। कालिदास, शेक्सपियर, मिल्टन, सूर, गालिब, बिहारी, अमरुक के काव्यों की गम्भीर समीक्षा कर सकते हैं। पर स्वयं कविता नहीं कर सकते। इसीलिए चिरकाल से यह प्रश्न विद्वानों के सामने रहा है कि क्या कारण है कि एक साधारण व्यक्ति भी सहज ही में महाकवि के गौरवमय पद को प्राप्त कर लेता है, जिसे उस पद को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले मनीषी-विद्वान् भी इस सौभाग्य से वंचित रह जाते हैं। इसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है—

> "बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागाभिगोचरा।
> प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।"

अर्थात् 'प्रतिभा' मनुष्य की एक जन्मजात दैविक शक्ति है। जो नये-नये अनुसन्धान करती है। आचार्य ने इसी प्रतिभा को शक्ति भी कहा है 'रुद्रट' ने इसके दो भेद किए हैं। एक 'सहजा' और दूसरा 'उत्पाद्या' सहजा ईश्वरप्रदत्त तथा पूर्व संस्कारों द्वारा संचित जन्मजात शक्ति है। उत्पाद्या अध्ययन, सत्संग तथा शास्त्रावलोकन द्वारा प्राप्त की जाती है। परन्तु यह सब होते हुए भी यह शक्ति बीज रूप से मनुष्य में होना आवश्यक है। इसी दैव दुर्लभ प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए साहित्यदर्पणकार कहते हैं—

> "नरत्वं दुर्लभं लोके, विधातम सुदुर्लभा।
> कवित्व दुर्लभंतत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥"[1]

अर्थात् संसार में मनुष्य शरीर प्राप्त करना दुर्लभ है। उससे दुर्लभ है विद्या प्राप्त करना, और सबसे दुर्लभ है शक्ति। प्रतिभा को विकसित करने के लिए काव्यशास्त्र का अध्ययन तथा अभ्यास भी आवश्यक है, आचार्य मम्मट इसीलिए अपने काव्य प्रकाश में कहते हैं—

> "शक्ति निपुणता लोकशास्त्र वेक्षणात।
> काव्यज्ञ शिज्ञाम्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥"[2]

---

1. साहित्य दर्पण—विश्वनाथ कविराज—प्रथम परिच्छेद—॥2॥
2. काव्यप्रकाश—मम्मटाचार्य—प्रथम उल्लास ॥3॥ पृ० 11, प्रकाशन, सन् 1965

अर्थात् शक्ति, निपुणता और अभ्यास यह तीनों मिलकर काव्य-निर्माण के कारण बनते हैं।

इस दृष्टि से कवियों को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—एक वे जो केवल जन्मजात प्रतिभा के बल पर ही बिना किसी प्रकार के अध्ययन और अभ्यास के 'कबीर' के समान कवि बनने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं। दूसरे वे जो अभ्यास तथा अध्ययन से प्रतिभा विकसित करके कविता के क्षेत्र में पदार्पण करते हैं। 'परिव्राजक' जी इसी दूसरी श्रेणी में आने वाले कवि थे। कबीर के समान जन्मजात कवि और शास्त्रीय पद्धति पर काव्य रचना करने वाले कवि के बीच में एक विभाजन-रेखा आसानी से खींची जा सकती है। इन दोनों में वही अन्तर है जो साधारण 'गानेवाले और शास्त्रीय पद्धति पर गानेवाले गायक में होता है। साधारण गायक से यदि पूछा जाय कि जो राग या रागिनी तुमने गाई संगीत-शास्त्र में इसका क्या स्थान है या इसके गाने का समय क्या है, तो वह मुंह ताकने लगेगा। पर शास्त्रीय पद्धति के गायक से यह प्रश्न किया जाय तो वह सहज ही में बता देगा कि वह 'भैरव' गा रहा है या 'भैरवी', 'केदारा' गा रहा है या 'बिलावल'। इसी प्रकार किसी जन्मजात कवि से पूछा जाय जो तुमने लिखा है, छन्द-शास्त्र में इसका कौन-सा स्थान है तो वह उसका कोई उत्तर न दे सकेगा। पर यदि काव्यशास्त्र के ज्ञाता अभ्यासी कवि से यही प्रश्न किया तो बता देगा, किस छन्द में उसने कविता की है वह 'रोला' है या हरीगीतिका' 'दोहा' है या 'चौपाई!' यह छन्द 'वर्णिक है' या 'मात्रिक!' इसी प्रकार काव्यशास्त्र के ज्ञाताओं को भी उसकी कविता पढ़कर यह पता चल जाता है कि उसकी कविता किस छन्द में लिखी गई है। जब हम एक छन्दशास्त्र के ज्ञाता के रूप में परिव्राजक जी की कविता को कसकर देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता किसी ऐसे कवि की कलम से निकली है जो छन्दशास्त्र की बारीकियों से परिचित है। परिव्राजक जी ने जिन छन्दों में कविता की है उनमें केवल वही व्यक्ति कुछ लिखने का साहस कर सकता है जो छन्दशास्त्र का ज्ञाता हो। छन्दशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किए बिना कोई व्यक्ति 'शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, भुजंगप्रयात, वंशस्थ, मालिनी, शार्दूलविक्रीड़ित आदि वर्णिक छन्दों में किसी भी दशा में एक पंक्ति भी नहीं लिख सकता।

उनकी काव्य-रचना की इसी विशेषता पर प्रकाश डालते हुए श्री ओमप्रकाश भारद्वाज अपने निबन्ध 'साहित्यकार स्वामी सत्यदेव परिव्राजक' में इस प्रकार कहते हैं—

"भिन्न-भिन्न छन्दों को अपनाकर इन्होंने पुरानी साहित्य परम्परा को कायम रखा। वह कौन-सा प्रसिद्ध छन्द है जिस पर स्वामी जी ने अपना हाथ नहीं चलाया। दोहा, चौपाई, कुण्डलिया, लावनी, शिखरिणी, सोरठा तो उनके मन भाते छन्द हैं। भाव

के प्रस्फुटित होते ही मानों ये सारे 'अहमिकता की चीखोपुकार करते प्रतीत होते हैं।"[1]

"इन कविताओं को पृष्ठभूमि के समकक्ष रखकर परिव्राजक जी ने आधुनिक कवियों के लिए एक नवीन मार्ग खोला है। कविता जिस वातावरण की उपज है उसे उसी तरह पाठकों के सम्मुख रखकर उनका बहुत बड़ा उपकार किया है।" अनुभूतियों की प्रत्येक कविता अपने आप में एक पूरी वनस्थली है, जो आगन्तुक को अपनी मधुरिमा एवं निश्छलता के साथ उस मिट्टी के प्रति भी प्यार उत्पन्न करने में विवश करती है, जिससे उसका अंगस्फुटन हुआ है और जिसकी गोद में वह पल्लवित हुई है।"[2]

परिव्राजक जी ने वर्णिक छन्दों के अतिरिक्त 'दोहा', 'रोला', 'चौपाई', 'सोरठा', 'कुण्डलिया', 'कवित्त', 'सरसी', 'आल्हा', 'हरीगीतिका', 'बरवै' आदि छन्दों में भी रचना की है। हम यहां पहले वर्णिक छन्दों को लेते हैं। संस्कृत साहित्य में 'शिखरिणी' छन्द देवताओं की स्तुतियों तथा स्तोत्रों के रूप में प्रयुक्त हुआ है। परिव्राजक जी ने इस छन्द का प्रयोग वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण के रूप में इस प्रकार किया है :—

"वसी वैंडे अति निकट कोलोन नगरी।
वही से पत्री में पद रच कही बात सगरी॥
विदेशी होली के फल कविवरो सम्मुख धरे।
प्रभो हिन्दी माता प्रथम कविता स्वीकृत करे" ॥[3]

'छन्द मंजरी' में 'शिखरिणी' छन्द का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—"रसै रुद्रै छिन्नापमन समलागा शिखरिणी" अर्थात् जिसमें—

'यगण', 'मगण', नगण, भगण तथा एक लघु गुरु हो उसे शिखरिणी छन्द कहते हैं।"

यह लक्षण इस पद्य में इस प्रकार घटित होता है

'यगण'	'मगण'	'नगण'	सगण	भगण
ISS	↓	↓	↓	↓
वसी	वैंडे	अति निकट	कोलोन	नगरी

---

1. स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अभिनन्दन ग्रन्थ—भाषा विभाग, पटियाला पृ० 32
—यद्यपि स्वामी जी छन्दशास्त्र के ज्ञाता थे या नहीं यहां इस पर कुछ लिखना असंगत प्रतीत होता है पर यहां
2. "श्री टेकचन्द धींगरा द्वारा फैलाई गई एक भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए हमें ऐसा करना पड़ा है। श्री धींगरा कहते हैं—
वे लेखक थे और व्याख्यानदाता भी, किन्तु उन्हें कविता करना नहीं आता था —मात्रा के नियमों से वह परिचित नहीं थे। अपने व्याख्यानों से पहले वे तुकबन्दी कर भजन गाते और अपने श्रोताओं को देशभक्ति का नशा पिलाते थे।
3. विशाल भारत—अक्टूबर ,1930, पृ० 454-464

अपनी मन्द गति से चलने वाला मन्दाक्रान्ता छन्द भी अपने में जिस माधुर्य को संजोये हुए है। उसने भी संस्कृत-कवियों को कम प्रभावित नहीं किया। विरह वर्णन में इस छन्द का अपना महत्त्व रहा है। यह छन्द 'महाकवि कालिदास' को अत्यन्त प्रिय रहा है। उन्होंने अपने 'मेघदूत' की रचना इसी छन्द में की है। कालिदास के 'मेघदूत' के उपरान्त संस्कृत-साहित्य में 'दूतकाव्य' लिखने की एक परम्परा चल पड़ी थी। इस परम्परा के अनुयायी हिन्दी कवियों ने भी विरह-वर्णन इसी छन्द में किया तथा अपने दूत-काव्य की रचना इसी छन्द में की। 'हरिऔध' जी के 'प्रियप्रवास' में राधा वायु को दूत बनाकर भेजती है। वह कालिदास की किसी दूत-परम्परा का अनुकरण है। उन्होंने भी इसी छन्द में सम्पूर्ण 'पवनदूत' की रचना की है। 'हरिऔध' के उपरान्त महाकवि 'अनूप शर्मा' ने अपने सुप्रसिद्ध काव्य 'सिद्धार्थ' में यशोधरा द्वारा 'हंस' को दूत बनाकर सिद्धार्थ के पास जो सन्देश भेजा था, उसमें भी इसी छन्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु यह छन्द 'विरह वर्णन' और 'प्रवास वर्णन' में भी प्रयुक्त होता रहा है। विरह-वर्णन के अतिरिक्त कुछ कवियों ने इसका प्रयोग प्रकृति-वर्णन में भी किया है, परन्तु बहुत कम। इन वर्णनों के अतिरिक्त अन्य किसी वर्णन में यह छन्द अपना माधुर्य कम करता चला जाता है। इसलिए इसका प्रयोग दूसरे वर्णनों में सुलझे हुए कवियों ने नहीं किया। परन्तु उसकी रचना के लिए इस परम्परा के समस्त कवियों ने 'मन्दाक्रान्ता' छन्द को ही चुन लिया था। इसका भी परिव्राजक जी ने प्रयोग किया है। एक उदाहरण देखिए—

ऐसे मैं तो अलग अपने ध्यान में था अकेला।
साथी मेरा बन तुरक-सा देखता नाच मेला।।
सोचा मैंने सबलख लिया कार्नवाली झमेला।
आओ जल्दी घर पर चलें हो नहीं तो अबेला।।[1]

मन्दाक्रान्ता का लक्षण छन्द मंजरी में इस प्रकार दिया गया है—"मंदाक्रान्ताऽम्बुधिर सन गैभौ भनौ गयुग्मय 'अर्थात् यदि यगण, भगण, नगण, दो तगण और अन्त में दो गुरु हों तो वहां मन्दाक्रान्ता छन्द होता है।

यह लक्षण इस प्रकार घटित होता है :—

यगण	मगण	नगण	तगण	तगण	गु.	गु.
↓	↓	↓	↓	↓	↓	
ऐसे मैं	तो अलग	अपने	ध्यान	में था		अकेला

यहां भी यह दृष्टव्य है कि कवि ने इसकी रचना में हिन्दी की प्रकृति के अनुसार 'तुकान्त' का ध्यान रखा है। संस्कृत में छन्द के अन्त में तुकान्त का नियम अनिवार्य नहीं है। वर्णिक छन्दों में 'तुकान्त' के नियमों का पालन करना कितना कठिन होता है उसे कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है—'सर्प की गति से सटपट चलने वाला 'भुजंगप्रयात' छन्द

1. अनुभूतियां, पृ० 67

युद्धादिकों के वर्णनों में अच्छा लगता है।

कुछ स्तोत्रों की रचना भी इस छन्द में हुई है। इस छन्द में चार यगण होते हैं। परिव्राजक जी ने इस छन्द में भी रचना की है। उदाहरण देखिए—

महा शक्तिशाली वही राष्ट्र होता,
न आलस्य में जो कभी काल खोता।
सदा वीर्य व्यायाम से जो बढ़ाता,
वही 'दैव' स्वाधीन आनन्द पाता॥[1]

यहां इन उदाहरणों के देने का उद्देश्य कुछ लोगों के उस मिथ्या प्रचार द्वारा फैलाई गई भ्रान्तियों को दूर करना था, जिन्होंने उनकी रचनाओं को कोरी तुकबन्दी बताकर कवि को कोरा 'तुक्कड़' (तुक भिड़ानेवाला) लिख मारा। फिर भी यहां यह कह देना असंगत न होगा कि वह 'आचार्य केशवदास' के समान कभी-कभी अपने छन्दों का पिटारा खोलकर बैठ जाते थे। जिस प्रकार 'केशव' ने अपनी रामचन्द्रिका में एक से एक नए छन्दों का प्रयोग करके साधारण पाठकों पर अपने छन्दशास्त्र के ज्ञान के बोझ से दबाने का प्रयत्न किया है, उसी प्रकार 'परिव्राजक' जी ने भी नये-नये छन्दों के प्रयोग द्वारा पाठकों को प्रभावित करने को ही कवित्त समझ लिया था। उन्होंने यह भी नहीं सोचा कि कौन-सा छन्द किस भाव को व्यक्त करने के लिए अधिक समर्थ होता है। केशव के समान परिव्राजक जी में भी एक प्रकार से हम 'कवि-हृदय' का अभाव पाते हैं।

अलंकारों का प्रयोग भी कवि की रचनाओं में सर्वत्र मिलता है। 'परम्परित रूपक' का एक उदाहरण देखिए—

"सर्वस्व तेरा लुट गया, जाग भारत केसरी।
अपने नखों को तेज कर, संग्राम की आई घड़ी॥"[2]

'दृष्टान्त' अलंकार का एक उदाहरण—

"जग ने पूजा न मिले, बिना घिसाये चाम।
रगड़-रगड़ खाकर बने पाहन शालिग्राम॥"[3]

कवि पर आर्यसमाज का पूर्ण प्रभाव है। यह वह युग था जब आर्यसमाज के क्षेत्र में पं०नाथूराम शर्मा 'शंकर' की तूती बोल रही थी। कवि पर उसके आर्यसमाज का प्रभाव होने के कारण उनका 'शंकर' जी से प्रभावित होना स्वाभाविक था। 'रगड़-रगड़ खाकर बने पाहन शालिग्राम' की सूक्ति में भले ही कुछ सच्चाई हो, परन्तु भावुक-भक्त के हृदय पर तो ऐसी सूक्ति चोट लगाने वाली ही सिद्ध होगी, अब जरा इस सवैये के साथ उपर्युक्त दोहे को मिलाकर पढ़िए—

---

1. अनुभूतियां, पृ० 46
2. वही, पृ० 30
3. वही, पृ० 28

"शैल विशाल महीतल फोड़ वढ़े तिनको तुम तोड़ कढ़े हो।
लै लुटकी जलधार घड़ा-घड़ ने घर गोल मटोल गढ़े हो॥
प्राण विहीन कलेवर धार विराज रहे न लिखे न पढ़े हो।
हे जड़देव शिला सुत 'शंकर' भारत में करि कोप चढ़े हो।"[1]

एक उपमा का उदाहरण देखिए :—

"पकड़ लिए भुज से मुझे घुसी रास के बीच।
व्याधा जिमि आखेट पशु तो जाता है खींच॥"[2]

यहां 'रास' शब्द लाक्षिक है जो रसिक मण्डली का द्योतक जान पड़ता है। उस मण्डली में क्या हो रहा था, इसकी भी झलक सहज ही में हो जाती है।

इसी प्रकार 'अपह्नुति' का उदाहरण देखिए—

यह मौत नहीं परिवर्तन है
इस काया के कल-पुर्जों का।
हो अमर नाम के अभिलाषी
तो जीवन ज्योति जलाता जा॥"[3]

अन्तिम पंक्ति में रूपक और अनुप्रास का सौन्दर्य भी दृष्टव्य होता है।"

कविता मानव-जीवन की व्याख्या होती है। उसमें जीवन के प्रति एक सन्देश भी होता है। इस दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर जब हम परिव्राजक जी की रचनाओं की समीक्षा करते हैं तो हमें निराशा नहीं होती। उनकी समस्त कविताओं में उनका निर्भीक व्यक्तित्व झांकता हुआ दिखाई देता है। अतः वह संन्यासी थे, सन्यासी समाज में गुरु के रूप में देखे जाते हैं। अतः उनके उपदेश देने की प्रवृत्ति का होना भी अनिवार्य था। परिव्राजक जी की कविता उपदेशात्मक है, उसमें जीवन के अनुभव बिखरे पड़े हैं। उनकी ऐसी उपदेशप्रद रचनाओं के उदाहरण भी दिए जाते हैं।

कुछ पद्य देखिए—

"जो दीन हीन के दुःखों पर,
निज करुणा स्रोत बहाता है।
इस विश्व चराचर रचना में,
वह मनुष्य पुनीत कहाता है।"[4]

'पुनीत' 'मनुज' के दर्शन आप कर चुके। अब धर्म मजहब के नाम पर फैली हुई कटुता रूपी विष को मिटाने वाले युग-पुरुष के विषय में सुनिए—

---

1. महाकवि शंकर के स्फुट छन्दों से
2. अनुभूतियां, पृ० 67
3. वही, पृ०, 5
4. वही, पृ० 7

"बरसाकर प्रेम सुधा-रस को,
मजहब का ज़हर मिटाता है।
सम-भाव सिखा सब जनता को,
देशों के भेद भगाता है॥"[1]

परिव्राजक जी खरी कहने वाले निर्भीक संन्यासी थे। इसीलिए वह अपने ही जैसा आदमी पसन्द करते थे। उनका यह कथन इसका साक्षी है—

"धनी की नहीं खोज में घूमते।
न लिक्खाड़ के पैर को चूमते॥
न विद्वान मक्कार ही चाहिए।
कहीं से खरा आदमी लाइए॥"[2]

परिव्राजक जी एक आशावादी कवि थे। जर्मनी, अमेरिका आदि स्वतन्त्र देशों में भ्रमण करते थे। इसीलिए भावी भारत के जिस स्वरूप की उन्होंने कल्पना की, आंखों से देखा था, उसमें उनका एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण उभर कर आता है। भावी-भारत की कल्पना उन्होंने इन शब्दों में की है—

"भारत के नभयान उड़ेंगे, गौरव याद दिलाएंगे,
ले आदर्श राम-केशव का, आगे पैर बढ़ाएंगे।
तब जौहर देखेगी दुनिया, कैसे हैं हम बलशाली,
सिक्ख डोंगरे, राजपूत नर, जाट, गोरखे, बंगाली।
न्याय-सत्य के बल पर भारत, पूर्ण शान्ति फैलाएगा,
विजयी भारत का यह झण्डा, फिर जग में पहराएगा॥"[2]

स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व हमारी आंखों के सामने भावी-भारत का एक चित्र था। हमारे भावी भारत में सम्पूर्ण शासन सत्ता हमारे हाथों में हो। हमारे नेता जनता के सेवक बनकर उसे सम्भालेंगे। उनका लक्ष्य जन-सेवा होगा। उसका सर्वस्व हरण कर उसे भूखा मारना नहीं। ऐसा काल्पनिक चित्र उस समय स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रत्येक सक्रिय स्वतन्त्रता सेनानी के हृदय में था। इसके विषय में परिव्राजक जी के मुख से सुनिए—

"प्रजा हितैषी शासन होगा, जनता नियम बनाएगी,
प्रजा-पंच तो सेवक होंगे, जनता राज्य चलाएगी।
वे नेता भारत जनता के, शासक पदवी पाएंगे,
जो सेवा बलिदान त्याग में, अपना नाम कमाएंगे।

---

1. अनुभूतियां, पृ० 7
2. वही, पृ० 27
3. वही, पृ० 75

सभ्य जगत में तभी हमारा, श्रेष्ठ राष्ट्र कहलावेगा,
विजयी भारत का यह झण्डा फिर जग में फहरावेगा ॥"[1]

उन्होंने स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय कुछ ऐसे भजनों और गीतों की भी रचना की थी, जो उस समय जन-जन की वाणी पर नृत्य करने लगे थे। उनके ऐसे ही राष्ट्रीय गीतों में से एक गीत यह है—

"जननी भारत आज हमको मधुर वीणा सुना रही है,
स्वतन्त्रता का राग गाकर मानो अमृत पिला रही है।
सैकड़ों वर्षों से हम थे, भाग्य ही के फेर में,
उसकी निर्भरता छुड़ाकर स्वावलम्बन सिखा रही है।
था निराशा का भयानक भूत जो हम चढ़ा,
राष्ट्र के संगीत बल से शीघ्र उसको भगा रही है।
फिर भला मैं दीनता के शब्द कैसे कह सकूं,
जबकि माता मीठे स्वर से 'शक्तिमन्त्र' पढ़ा रही है।"[2]

परिव्राजक जी अपने समय के प्रसिद्ध घुमक्कड़ थे। उन्हें 'यायावरी' जीवन पसन्द था। वह अपने देश की नयी पीढ़ियों को कूप-मण्डूक देखना पसन्द नहीं करते थे। उनकी इच्छा थी वह देश-विदेश में जाकर वहां की ऊंची शिक्षा प्राप्त करें, वहां का ज्ञान अपने देश में फैलाकर उसे उन्नति के क्षेत्र में अग्रसारित करें। परिव्राजक जी की यह पंक्तियां इस सम्बन्ध में स्मरणीय हैं—

"योरोप के अच्छे गुण लेकर, निज गुण साथ मिलाकर हम,
नई संस्कृति को रच देंगे, राष्ट्र धर्म फैलाकर हम।
निर्बल सबल सभी को जग में, जीने का अधिकार मिला,
भैंस उसीकी लाठी जिसकी, देंगे यह पशु-नियम मिटा।
लूट-मार गुंडेपन को तो, भारत जल्द हटाएगा,
भावी-भारत का यह झण्डा, फिर जग में फहराएगा ॥"[3]

इस प्रकार परिव्राजक जी के स्वप्नों का भारत आज हमारे सामने है। कवि युग-दृष्टा और युग-सृष्टा होता है। उनकी ये पंक्तियां जिनमें उन्होंने भावी-भारत की यह तस्वीर देखी थी, उनके हृदय की उन भावनाओं को व्यक्त करती हैं जो उस समय के बन्दी भारत के प्रत्येक नवयुवक के हृदय में ब्रिटिश साम्राज्य के जूझने के लिए उसे विद्रोही बना रही थी। विदेशों से शिक्षा प्राप्त करके आए हुए इस संन्यासी ने अपने सम्पर्क में आने वाले न जाने कितने नवयुवकों के हृदय में स्वतन्त्रता की भावना जागृत की होगी। अपने समय के नवयुवकों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था—

---

1. अनुभूतियां, पृ० 74
2. वही, पृ०
3. वही, पृ० 75

सत्यज्ञान के सुन्दर पथ को,
जीवन का आदर्श बना।
भूमंडल के विद्वानों ने,
लिया इसे दिल से अपना।
कपिल, व्यास, पतंजलि, गौतम,
विश्वामित्र, वशिष्ठ ऋषि।
जीवन की आहुतियां देकर,
गए ज्ञान सन्देश सुना।
बाल ब्रह्मचारी शंकर ने,
यह मारग अपनाया था।
यूनानी सुकरात सन्त ने,
पीया प्याला ज़हर सना।
दयानन्द ने इसी खोज में,
अपने घर को त्यागा था।
बुद्धदेव ने महल छोड़कर,
बौद्धधर्म की रचना।
चढ़े हिमालय के शिखरों पर,
कर्मवीर निर्भय होकर।
सिखलाया सिद्धान्त अटल यह,
सत्यज्ञान पर मर मिटना।
'देव' सफल जीवन यात्रा यह,
उनकी मानी जाती है।
जो करते बलिदान ज्ञान पर,
तन-मन-धन सब कुछ अपना ॥"[1]

भारतीय नवयुवकों को परिव्राजक जी स्वस्थ एवं शक्तिशाली देखना चाहते हैं। अपनी 'संजीवनी बूटी' नामक पुस्तक में उन्होंने नवयुवकों को यही उपदेश दिया है।

व्यायाम करने का शौक उन्हें बचपन से ही था। व्यायाम के लाभ पर उन्होंने बचपन में एक कविता याद की थी उसका अनुवाद उन्होंने हिन्दी में इस प्रकार किया था—

"देह को नीरोग रखना है अगर,
तो खुले मैदान में व्यायाम कर।
जब विनोदी वीरता का खेल हो,
स्वर्ण और सुगन्ध का तब मेल हो।

---

1. अनुभूतियां, पृ० 17-18

मित्र को ले सैर करने जाइए,
चित्त प्रेमलाप से बहलाइए।
व्यर्थ ही व्यायाम अपना जानिए,
जो इसे वेगार के सम मानिये।
शूरता के खेल मन हर्षित करें,
देह में बल-तेज पौरुष को भरे।
इत्र यौवन का नहीं वे सूंघते,
'देव' आलस में बड़े जो ऊंघते।
नियम से व्यायाम को नित कीजिए,
दीर्घ जीवन का सुधा-रस पीजिए ॥"[1]

परिव्राजक जी ने कुछ रचनाओं में भावापहरण किया है। परन्तु ऐसा करके वह अपनी रचना में कोई विशेप चमत्कार उत्पन्न नहीं कर सके, वल्कि उसमें उन्होंने कवि के भावों का ही गला घोंट दिया है। तुलसी का यह दोहा देखिए—

"जड़ चेतन गुन दोषमय विस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन माहि पय परिहरि करहिं विकार ॥"[2]

इस दोहे से उनके दोहे को मिलाकर देखिए--

"राखत नाहिं मलीन मन, सज्जन देव उदार,
गुण गहते हैं हंस वन, अवगुण लेत सुधार।"[3]

दोनों दोहों की तुलना करने पर परिव्राजक जी का दोहा तुलसी के दोहे की अपेक्षा हल्का जान पड़ता है। उसमें भाव-शैथिल्य भी हो गया है। कहीं-कहीं उन्होंने शब्दों को तोड़ा-मोड़ा भी है। उनका ऐसा करना व्रज और अवधि में तो निभ सकता था पर खड़ी वोली की कविता की प्रकृति शब्दों की इस विकृति के अनुकूल नहीं है। वहां इस प्रकार शब्दों को तोड़-मरोड़ कर रखना श्रोता और पाठक दोनों को ही खटकने लगता है। परिव्राजक जी का यह पद्य देखिए—

"वही साधु सच्चा वही सन्त राजा,
सुधारे सदा और के काम-काजा।
ख़ुशी से सभी आपदा झेल लेता,
विना ख्याति के त्याग सर्वस्व देता।"[4]

यहां 'काजा' शब्द केवल तुक भिड़ाने के लिए प्रयोग में लाया गया है। वैसे तो

---

1. अनुभूतियां, पृ० 53
2. रामचरित मानस (वालकाण्ड 1)—तुलसीदास—दोहा सं० 4
3. अनुभूतियां, पृ० 29
4. अनुभूतियां, पृ० 19

खड़ी बोली की प्रकृति 'काज' और 'काजा' दोनों को ही स्वीकार नहीं करती पर 'काज' के साथ थोड़ा बहुत समझौता हो सकता है, 'काजा' का प्रयोग तो कदापि क्षम्य नहीं हो सकता। गनीमत है कि इस प्रकार के प्रयोग एक दो ही हुए हैं जो नगण्य हैं।

इसी प्रकार तुकबन्दी के लिए ऐसे तुकों का प्रयोग भी किया गया है जो किसी कुशल कवि के द्वारा नहीं किए जा सकते। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग कवि के शब्द भण्डार की कमी का परिचायक ही कहा जाएगा। यथा—

खोया उसी ने नर जन्म हीरा,
जो भोग भोगे बन नर्क क्रीड़ा।
आदर्श ऊंचा गर सामने हो,
यात्री अभागा पथ भ्रष्ट क्यों हो।"[1]

उपर्युक्त पद्य में 'हीरा' और 'क्रीड़ा' ऐसे तुकान्त हैं, जिनका प्रयोग कानों को खलता है।

निष्कर्ष

परिव्राजक जी की कविताओं का अध्ययन करने से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उनके काव्यशास्त्र सम्बन्धी अध्ययन में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं है। काशी के विद्यार्थी जीवन में संभव है उन्होंने अन्य विषयों के अध्ययन के साथ-साथ काव्यशास्त्र का भी अध्ययन किया हो। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि कविता के क्षेत्र में पदार्पण करने के लिए काव्यशास्त्र के अध्ययन की अपेक्षा सहृदयता का महत्त्व अधिक है। पर यहां सहृदयता की अपेक्षा पाण्डित्य का पलड़ा, कुछ अधिक भारी जान पढ़ता है। 'अनुभूतियां' नाम से प्रकाशित इस काव्य संकलन में उत्कृष्ट काव्यत्व का अभाव लक्षित होता है। उपदेशात्मकताप्रधान, सामाजिक महत्व है, यह जीवन के लिए लिखी गई है, कलात्मक साधना के लिए नहीं।

इस संग्रह में एक सबसे बड़ा दोष यह भी है कि इसमें गद्य और पद्य की ऐसी खिचड़ी पकाई गई है कि जिसके कारण न ये चम्पू ही बन सका और न ही खण्डकाव्य और न मुक्त रचनाओं का संग्रह। छोटी-छोटी घटनाओं को छोटे-छोटे खण्डकाव्य का रूप देने का प्रयत्न भी उन्होंने किया है। जैसा कि 'कोलोन का कार्नवाल मेला' पर खण्ड-काव्य की रचना में जिस धैर्य की आवश्यकता होती है, उसका परिव्राजक जी में अभाव जान पड़ता है। इसलिए इसमें कहीं-कहीं विषय को स्पष्ट करने में गद्य का भी प्रयोग करना पड़ा, ऐसी दशा में रचना न 'खण्डकाव्य' ही बन सकी और न चम्पू। इन रचनाओं के आधार पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि उनका कवित्व अभ्यास कम था, काव्य-प्रातिभ का उनमें अभाव था, उपदेशक होने के कारण उनकी दृष्टि उपयोगितावादी थी और इस दृष्टि से उनके प्रयत्न में कहीं कोई कमी नहीं है।

---

1. अनुभूतियां, पृ० 19

नवम अध्याय

परिव्राजक जी द्वारा राष्ट्रभाषा-प्रचार और सेवाएं

दिल्ली सल्तनत से सम्पर्क रखने वाले मुसलमान शासक दिल्ली तथा उसके आसपास की भाषा को लेकर सम्पूर्ण भारत में फैले। वह जहां भी गए वहां के लोगों से उसी भाषा में अपने विचार उनके सम्मुख रखे थे। इस प्रकार दिल्ली तथा उसके आस-पास बोली जाने वाली भाषा दक्षिण भारत में धीरे-धीरे फैलती चली गई। मुसलमान लेखकों ने इसी भाषा को 'हिन्दवी' का नाम दिया। सैयद इंशा अल्ला खां ने भाषा के इसी रूप का 'हिन्दी' के नाम से इसका स्मरण करते हुए लिखा है —

"एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले।"[1]

इससे स्पष्ट है कि इंशा का उद्देश्य ठेठ हिन्दी लिखने का था, वह ऐसी हिन्दी लिखना चाहते थे जिसमें हिन्दवी को छोड़ किसी बोली का पुट न हो। मुसलमान लेखक 'भारवा' शब्द का व्यवहार हिन्दुओं की कथावार्ता की भाषा के लिए करते थे। उनके मतानुसार दिल्ली के आसपास की भाषा ही साहित्यिक भाषा थी, क्योंकि उसका संबंध शासकों से हो गया था। इंशा का यह कहना कि उसकी कहानी में 'हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले'—'बोली' शब्द को लेकर ब्रजभाषा, पर ही संकेत करता है। इसे वह गंवारी भाषा समझते थे। इस प्रकार दिल्ली और उसके आसपास बोली जाने वाली वह भाषा, जिसे विद्वानों ने खड़ी बोली का नाम दिया है, मुसलमान शासकों की कृपा से धीरे-धीरे सारे भारत में फैलती चली जा रही थी।

सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के बीच में एक विभाजक रेखा आसानी से खींची जा सकती है। दोनों के विश्वास तथा आस्थाओं में बड़ा भारी अन्तर है। मन्दिर, मस्जिद, पूजा, नमाज, व्रत, रोज़ा, तीर्थ, हज, धर्म, मजहब एक ही भावना के प्रतीक होने पर भी सांस्कृतिक-दृष्टि से कभी एक नहीं हो सकते। भारत में रहते हुए भी मुसलमानों को कुछ ऐसे शब्दों को व्यवहार में लाने की आवश्यकता बनी रही, जो सर्वथा विदेशी थे। इन विदेशी शब्दों की प्रचुरता खड़ी बोली में होती चली गई है। इस प्रकार उसके दो रूप होने स्वाभाविक थे। इन्हीं दो रूपों को हम हिन्दी और उर्दू का नाम देते हैं। 'खड़ी' बोली के यह दो रूप सांस्कृतिक-दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 396

भाषा के गठन में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसीलिए दोनों भाषाएं बिना किसी कठिनता के सुगमता से समझी जा सकती हैं। हिन्दी वाले उर्दू को और उर्दू वाले हिन्दी को आसानी से समझ लेते हैं। मौलाना अकबर के शब्दों में—

ऐ विरहमन तेरा, हमारा एक आलम है।
हम ख़्वाब देखते हैं, तू देखता है सपना॥

हिन्दी भारत की आत्मा का दर्शन कराने वाली है। अतः मुस्लिम और ईसाई शासकों ने अपने मतवाद के प्रचार के लिए हिन्दी को माध्यम बनाया। महात्मा जी के स्वतन्त्रता-आन्दोलन में हिन्दी ने पूरे भारत की एकता का स्वप्न साकार किया था। इस सम्बन्ध में राजगोपालाचार्य का यह मन्तव्य ध्यान रखने योग्य है—

"हिन्दी भावी भारत की राजभाषा है, हमें अभी से उसे जरूर सीख लेना चाहिए।"[1]

हिन्दी और ईसाई प्रचारक

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के महत्त्व को समझने वाले ईसाई-धर्म प्रचारकों को यहां नहीं भुलाया जा सकता। ईसाई मत के प्रचार के लिए उन्होंने बाइबिल तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों का हिन्दी में रूपान्तर किया। जार्ज विलयम कैरे ने न्यू टैस्टमैन्ट का अनुवाद नये धर्म नियम के नाम से प्रकाशित करवाया। स्कूलों के लिए पाठ्य पुस्तकें राष्ट्रभाषा हिन्दी में लिखवाकर इन्होंने शिक्षा को सर्व-सुलभ बनाने में एक नया कदम उठाया।

हिन्दी और ब्रह्मसमाज

आधुनिक भारत में नव-चेतना के तत्त्व को सबसे पहले राजा राममोहन राय (सन् 1774 से 1833 तक) ने ग्रहण किया। उनके द्वारा स्थापित ब्रह्मसमाज ने बंगालियों में वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न की। राजा साहब हिन्दी के पक्षपाती थे और हिंदी को अखिल भारतीय भाषा बनाना चाहते थे। उन्होंने कलकत्ता से सन् 1826 ई० में 'बंग दूत' नामक एक पत्र निकाला था जो चार भाषाओं में छपता था, हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, फारसी। राजा साहब स्वयं हिन्दी लिखते थे और दूसरों को भी हिन्दी लिखने के लिए उत्साह-वर्द्धन करते थे। उनकी हिन्दी का एक उदाहरण देखिए—

"जो सब ब्राह्मण सांगवेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य है अर्थात् अब्राह्मण हैं। यह प्रमाण धर्म-परायण श्री सुब्रह्मण्यम् शास्त्री जी ने जो पत्र सांगवेदाध्ययनहीन इस देश के अनेक ब्राह्मणों के समीप पढ़ाया है 'उसमें देखा' जो उन्होंने लिखा है। वेदाध्ययनहीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष हो नहीं सकता और जिसने वेद का अध्ययन

---

1. "Hindi will be the State Language of coming India and we must learn it from now."

—(हिन्दू, 4 फरवरी 1929)

किया है उसी का केवल ब्रह्म विद्या में अधिकार है—यह जान के हम सब उत्तर देते हैं।"[1]

राजा राममोहन राय का ये क्रान्तिकारी आन्दोलन तत्कालीन भारतीय जनता को जिस दिशा की ओर ले जा रहा था उस पर भारतीयता की अपेक्षा पश्चिम की छाप अधिक थी। उन्होंने भारतीय बहुदेवोपासना का विरोध पुराने जर्ज रूढ़िवाद का खण्डन तथा एकेश्वरवाद का समर्थन किया था। परन्तु वह यह नहीं बताते थे, नई पीढ़ियों के सामने दूसरा मार्ग क्या है। समय की मांग थी कि कोई ऐसा युग-पुरुष अपने सही नेतृत्व के द्वारा नई पीढ़ियों का मार्ग-दर्शन करे। समय की इस मांग को पूरा करने में जो युग-पुरुष नेता के रूप में उस समय हमारे सन्मुख आया वह 'स्वामी दयानन्द सरस्वती'—पं० कृष्ण वल्लभ द्विवेदी अपनी 'भारत निर्माता' पुस्तक में उस युग-पुरुष के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"राममोहन राय की तरह ऋषि दयानन्द ने भी सार्वजनिक क्षेत्र में आते ही अपने देश की प्राचीन ज्ञान-निधि की ओर जन-साधारण का ध्यान खींचने और उसका यथार्थ तत्त्व संसार को समझाने का महत्त्व और मूल्य परखा···राममोहन की भांति दयानन्द भी मूलत: एक धर्म संस्कारक ही थे, परन्तु उनका व्यापक प्रभाव धर्म के साथ-साथ हमारे राष्ट्र के अन्य अंगों पर भी पड़े बिना न रह सका।"[2]

राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्मसमाज तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्यसमाज जिस सुधारवादी दृष्टिकोण को लेकर कार्यक्षेत्र में बढ़े उनमें पूर्व और पश्चिम का अन्तर था। आर्यसमाज जिस भारतीय संस्कृति को जीवित रखना चाहता था वह वेदमूलक थी, इसीलिए उनका व्यापक प्रभाव हमारे राष्ट्र-धर्म के अन्य अंगों पर पड़े बिना नहीं रह सकता, उसने हमें पूर्ण रूप से प्रभावित किया।

अहिन्दी भाषा-भाषियों में जिन्होंने हिन्दी के लिए कुछ किया है, एक ऐसा नाम है जो इस श्रृंखला की पहली कड़ी के रूप में सर्वप्रथम आना चाहिए था। यह नाम है आर्यसमाज के प्रवर्त्तक 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' का जिनकी मातृभाषा गुजराती थी, स्वामी जी की शिक्षा-दीक्षा संस्कृत में हुई थी। हिन्दी का उन्हें बहुत साधारण-ज्ञान था। हिन्दी को उन्होंने अपने विचारों के प्रचार का माध्यम बनाया था। पहले स्वामी जी ने अपने प्रचार कार्य का आरम्भ संस्कृत से किया था, जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। किन्तु ब्रह्मसमाज के नेता 'केशवचन्द्र सेन' तथा अन्य बंगाली समाज-सुधारकों के विचार-विनिमय करने पर उन्हें अपने विचारों तथा सिद्धान्तों के प्रचार का माध्यम हिन्दी को बनाना पड़ा। इस सम्बन्ध में श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति जी इस प्रकार लिखते हैं—

"यह मानने में कोई संकोच का कारण नहीं है कि बाबू केशवचन्द्र सेन और ब्रह्मसमाज के कार्य का कलकत्ता में अनुशीलन स्वामी जी के कार्यक्रम पर कम प्रभाव

---

1. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के लेख 'राजा राममोहन राय की हिन्दी' से उद्धृत।
2. भारत निर्माता, पृ० 26-29

उत्पन्न करने वाला नहीं हुआ। यह मानी हुई बात है कि स्वामी जी ने सर्वसाधारण में आर्यभाषा में व्याख्या न देना बाबू केशवचन्द्र सेन के कहने पर ही प्रारम्भ किया था। इस से पूर्व वह संस्कृत में ही व्याख्यान देते थे। अब तक प्रायः स्वामी जी कौपीन मात्र रखते थे, व्याख्यान के समय भी यही वेश रहता था। बाबू केशवचन्द्र सेन के कथन पर स्वामी जी ने वस्त्र-धारण करना स्वीकार कर लिया। इन दो बातों के अतिरिक्त यह भी कुछ कम महत्त्व की बात नहीं है कि आर्यसमाज रूपी संगठन स्थापित करने का विचार स्वामी जी के हृदय में कलकत्ता जाने के पीछे ही उत्पन्न हुआ। इससे पूर्व किसी संगठन की स्थापना का विचार उद्बुद्ध हुआ प्रतीत नहीं होता। ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों और संगठनों की स्थापना की अपूर्णता को देखकर स्वामी जी के हृदय पर एक अन्य वैदिक समाज स्थापित करने की इच्छा उत्पन्न हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।"[1]

स्वामी जी का यह अंकुर जिसे वह राष्ट्रभाषा के रूप में पल्लवित देखना चाहते थे, धीरे-धीरे एक वृक्ष का रूप धारण करता चला गया, जिसे हम आर्यसमाज के रूप में देखते हैं। आर्यसमाज ने अपने प्रचार-कार्यों में हिन्दी को स्थान दिया। गुरुकुलों, डी० ए० वी० कालेजों के माध्यम से हिन्दी की जो सेवा की, उसका हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन

9 जौलाई, सन् 1893 में जब रायबहादुर श्यामसुन्दरदास आठवीं कक्षा के विद्यार्थी थे, तब उन्होंने अपने सहपाठी श्री रामनारायण मिश्र तथा ठाकुर शिवकुमार सिंह के सहयोग से काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की। इस सभा की स्थापना उन्होंने आर्य समाज के उपदेशक श्री शंकरलाल जी जो बाद में दक्षिण अफ्रीका में स्वामी शंकरानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए के भाषणों से प्रभावित होकर की थी।

सभा की स्थापना का मूल उद्देश्य क्या था, वह कौन-सी परिस्थितियां थीं, जिनके कारण सभा की स्थापना की गई, इसका उल्लेख करते हुए श्री श्यामसुन्दर दास अपनी आत्मकथा में कहते हैं—

"हिन्दी का नाम लेना भी इस समय पाप समझा जाता था। कचहरियों में इसकी बिल्कुल पूछ नहीं थी। पढ़ाई में केवल मिडिल क्लास तक इसको स्थान मिला था। पढ़ने वाले विद्यार्थियों में अधिक संख्या उर्दू लेती थी। परीक्षार्थियों में उर्दू वालों की संख्या अधिक रहती थी। वही विद्यार्थी अच्छा और योग्य समझा जाता था जो अंग्रेजी फर्राटे से बोल सकता था और उसी का मान भी होता था। हिन्दी बोलने वाला तो गंवार कहा जाता था, वह बड़ी हेय दृष्टि से देखा जाता था। इस अपमान की अवस्था में लड़कों के खिलवाड़ की तरह नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। किसी ने स्वप्न भी न देखा था कि यह हिन्दी की उन्नति कर सकेगी और इसकी पूछ होगी, मैं तो इसे ईश्वर की

---

1. आर्यसमाज का इतिहास, पृ० 83

प्रेरणा ही समझता हूं।"[1]

अपनी सेवाओं, कार्यकुलता तथा सद्व्यवहार के कारण बाबू श्यामसुन्दरदास जनता तथा तत्कालीन ब्रिटिश शासकों के प्रिय बने रहे। अपने व्यक्तित्व की इसी विशेषता के कारण उन्होंने लाखों रुपये का अनुदान सभा के लिए प्राप्त किया। हिन्दी के प्रचार और प्रसार में सभा ने अपने दीर्घ-जीवन में क्या कुछ किया है, वह सबके सामने है।

सभा के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्थापना में भी बाबू साहब का सहयोग बराबर बना रहा। एक प्रकार से सम्मेलन के जन्मदाता होने का श्रेय भी उन्हीं को जाता है। कार्य-भार न संभाल सकने के कारण उन्होंने सम्मेलन सम्बन्धी समस्त कार्य व्यवस्था महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी को सौंप दी। मालवीय जी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना कर चुके थे— उसका ही कार्यभार उन पर इतना अधिक था कि जिसके कारण उनके पास इतना अवकाश नहीं था कि सम्मेलन का संचालन सुचारु रूप से कर सकें। उन्होंने सम्मेलन सम्बन्धी समस्त कार्य व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने का भार राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जी के कन्धों पर डाल दिया। टण्डन जी ने सम्मेलन की कार्य व्यवस्था का संचालन किस उत्तरदायित्व के साथ किया, उसका जीता-जागता उदाहरण सम्मेलन आज भी अपने वर्तमान रूप में दे रहा है। सभा ने हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों की खोज तथा प्रकाशन का कार्य अपने हाथों में लिया था और सम्मेलन ने प्रचार सम्बन्धी कार्यभार संभाला था।

हिन्दी के प्रचार के लिए सम्मेलन ने परीक्षाओं की योजना की थी, जो अभी तक यथापूर्व चली आ रही हैं तथा भारत के विभिन्न नगरों में जिनमें अहिन्दी भाषा-भाषी राज्यों के नगर भी होते हैं, वार्षिक अधिवेशन करके हिन्दी के प्रचार में युग का नेतृत्व किया था। इस हिन्दी के प्रचार और प्रसार में काशी नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

गुरुकुल, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ तथा डी०ए०वी० कालेजों का योगदान

अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने का सुझाव देकर भारतीयों के रक्त में 'मैकाले' जिस लहर को फैलाना चाहता था, अब वह उसमें पूरी तरह फैलकर अपना प्रभाव दिखाने लगा था। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी बन चुकी थी। इसका कुपरिणाम 'निज सौ बैर अपर सौ नाता' के रूप में सबके सामने आ रहा था। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय कहने के लिए ही तन से भारतीय रह गए, पर उनके मन अंग्रेजियत के रंग में पूरी तरह रंगे जा चुके थे। भविष्य में इसका कुपरिणाम क्या होगा सबसे पहले इसकी ओर ध्यान जिस व्यक्ति का गया उसे हमारी अगली पीढ़ियां स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से सदा

1. डॉ० श्यामसुन्दरदास जन्मशती समारोह, पृ० 39

अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करती रहेंगी। स्वामी श्रद्धानन्द ने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुण्यतोया भगवती भागीरथी के तट पर कांगड़ी में गुरुकुल की स्थापना की थी। यही एकमात्र ऐसी शिक्षण संस्था है जहां राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान, दर्शन, वेद आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी।

स्वामी श्रद्धानन्द जी तथा उनके सहयोगी आर्यसमाजी प्राचीन भारतीय संस्कृति को पुनरुज्जीवित करना चाहते थे। इसलिए वेद, उपनिषद्, दर्शन, व्याकरण आदि विषयों की शिक्षा भी गुरुकुलों में दी जाती थी। पर इसके शिक्षण के लिए जिस भाषा को माध्यम बनाया गया था, वह भाषा हिन्दी ही थी। इस प्रकार राष्ट्रभाषा के माध्यम से प्राचीन भारतीय संस्कृति के अध्ययन को सर्व-सुलभ बनाने का श्रेय भी स्वामी श्रद्धानन्द, आर्यसमाज तथा गुरुकुलों को प्राप्त है। यह शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्तिकारी प्रयोग था, क्योंकि इससे पूर्व इन समस्त विषयों की शिक्षा संस्कृत के माध्यम से दी जाती थी, जिसे प्रारम्भिक अवस्था में विद्यार्थी समझ नहीं पाते थे। वह केवल तोतारटन्त ही होती थी।

शिक्षा के क्षेत्रों में गुरुकुलों के इन क्रान्तिकारी प्रयोगों का सम्पूर्ण भारत ने स्वागत किया। देश के बड़े-बड़े शिक्षाशास्त्री और नेतागण शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रभाषा के महत्त्व को समझने लगे। गुरुकुलों के बाद इस क्षेत्र में क्रान्तिकारी कदम उठाने वाले थे, महामना पंडित मदनमोहन मालवीय तथा काशी के धनकुबेर 'बाबू शिवप्रसाद गुप्त' महामना मालवीय जी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की और बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने अपने काशी विद्यापीठ की उच्च परीक्षाओं में शिक्षा का माध्यम हिन्दी को बनाकर भारतीय शिक्षा-शास्त्रियों को एक नई दिशा दिखाई।

इस प्रकार हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का रूप प्रदान करने के लिए एक पृष्ठभूमि इन शिक्षण संस्थाओं तथा इन्हें गतिशील बनाने वाले इनके संस्थापक, नेतागण बहुत पहले तैयार कर चुके थे, जिसके फलस्वरूप नन्दा पर्वत से कन्याकुमारी तक अटक से कटक तक भारतीय जनता हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखने के लिए आतुर हो उठी थी।

हिन्दी प्रचार में पंजाब के आर्यसमाजियों तथा उनसे प्रभावित सनातन धर्माव-लम्बियों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उत्तर पश्चिम से होने वाले विदेशी आक्रमणों का सबसे अधिक सामना पंजाब को ही करना पड़ा था। विदेशी आक्रमण-कारियों का निरन्तर सामना करते-करते पंजाब की जनता एक ऐसे संगठन-सूत्र में बंधती चली गई जो कभी भी इस प्रकार की विषय परिस्थितियों का सामना करने में पीछे नहीं रही। स्वामी जी के इस क्रान्तिकारी आन्दोलन का प्रभाव सबसे अधिक पंजाब की हिन्दू जनता पर ही पड़ा। पंजाब की जनता आरम्भ से ही बड़ी उत्साही रही है। आर्यसमाज के प्रचार एवं प्रसार को सन्मुख रखकर उसने शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की, जिनमें गुरुकुलों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

गुरुकुलों के समान-स्तर पर डी०ए०वी० कालेजों की स्थापना की गई। डी०ए०वी० कालेजों और गुरुकुलों की स्थापना का उद्देश्य स्वामी दयानन्द जी के सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार था। दोनों ही हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाकर

अपना कार्य सम्पन्न करना चाहती थीं। परन्तु गुरुकुल के संस्थापक महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) का दृष्टिकोण विशुद्ध राष्ट्रवादी था। वह ब्रिटिश सरकार के लिए क्लर्कों की एक बड़ी भारी सेना जुटाना नहीं चाहते थे, इसलिए उन्होने इन गुरुकुलों की स्थापना बिना ब्रिटिश सरकार के अनुदान से की थी। उनका तत्कालीन गोरी सरकार से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसके विपरीत डी०ए०वी० कालेजों के संस्थापक 'महात्मा हंसराज' यह भी चाहते थे कि हमारी संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त करने वाले शिक्षार्थी बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियां प्राप्त करें इसलिए उनका सम्बन्ध तत्कालीन अंग्रेजी सरकार से बराबर बना रहा। फिर भी हिन्दी के प्रचार और प्रसार में पंजाब के डी०ए०वी० कालेजों से प्रेरणा पाकर ही पंजाब के सनातन धर्मियों ने सनातन धर्म कालेजों की स्थापना की। शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाजियों और सनातनधर्मियों की यह प्रतिद्वन्द्विता हर दृष्टि से देश के लिए हितकर सिद्ध हुई हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाकर उसे राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर प्रतिष्ठित करने में इन संस्थाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भारतेन्दु और उनका मित्र-मण्डल

इसी समय हिन्दी साहित्य के आकाश में भारतेन्दु का उदय हुआ था। भारतेन्दु हिन्दी गद्य शैली के पिता तथा जन्मदाता कहे जाते हैं। एक महान् साहित्यकार के रूप में वह सदा आदर के साथ देखे जाते रहेंगे। यह सब होते हुए भी हिन्दी भाषा के महान् प्रचारक के रूप में भी वह अपने युग का नेतृत्व करते हैं। उन्होंने ही सबसे पहले कहा था —

"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिना निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।।"

× × ×

अंग्रेजी पढ़ि के जदपि सब गुन होत प्रवीन।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन के हीन।।

× × ×

तासों जब सब होंहि घर विद्या बुद्धि-निधान।
होइ सकत उन्नति तबै और उपाय न आन।।

× × ×

निज भाषा उन्नति बिना कबहुं न ह्वै हैं सोय।
लाख अनेक उपाय यों भले करो किन कोय।।"[1]

वह अपने युग के महान् क्रान्तिकारी विचारक थे। तत्कालीन भारतीय स्त्रियों की दयनीय दशा की तुलना स्वतन्त्रता के उन्मुक्त वायुमण्डल में पली हुई पाश्चात्य नारी के साथ करते हुए अपने नाटक 'नील देवी' की भूमिका में इस प्रकार कहते हैं—

1. भारतेन्दु ग्रन्थावली—हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान—
संवत् 1934, पृ० 731, 732-33

"आज बड़ा दिन है, क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनन्द का दिन नहीं है। किन्तु मुझको आज उलटा और दुःख है। इसका कारण मनुष्य स्वभाव सुलभ ईर्ष्या मात्र है। मैं कोई सिद्ध नहीं कि रागद्वेष से विहीन हूं। जब मुझे अंगरेजी रमणी लोग भेद सिंचित केशराशि, कृत्रिम कुंतलखूट, मिथ्या रत्नाभरण, विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटि देह कसे, निज-निज पतिगण के साथ प्रसन्नवदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भांति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूं कि इन गौरांगी युवती समूह की भांति हमारी कुल लक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमे, किन्तु और बातों में जिस भांति अंगरेजी स्त्रियां सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का कामकाज संभालती हैं, अपने संतान गण को शिक्षा देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोती, उसी भांति हमारी गृह देवियां भी वर्तमान हीनावस्था का उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति पथ का अवरोधन हम लोगों की वर्तमान कुल परम्परा मात्र है, और कुछ नहीं है।"[1]

भारतेन्दु ने स्वयं ही हिन्दी के प्रचार और प्रसार में योगदान नहीं किया, प्रत्युत अपने मित्रों तथा सहयोगियों को भी हिन्दी के प्रचारकार्य के लिए उत्साहित किया था। उनके मित्रों में जिन्होंने हिन्दी के प्रचार में उनके साथ मिलकर कार्य किया। या भारतेन्दु के अस्त हो जाने पर भी जो निरन्तर लगन से इस क्षेत्र में कार्य करते रहे, उनमें पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० प्रतापनारायण मिश्र के नाम विशेष उल्लेखनीय है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु और उनके मित्र-मण्डल का उल्लेख हिन्दी की बहुमुखी सेवाओं के लिए सदा सम्मानपूर्वक किया जाता रहेगा।

दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार और परिव्राजक जी

मार्च, सन् 1918 में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन इन्दौर में हुआ, जिसकी अध्यक्षता की थी 'राष्ट्रपिता महात्मा गांधी' ने। राष्ट्रभाषा के प्रचारकों के सामने उस समय दो प्रश्न थे। एक प्रश्न था स्वतन्त्रता का मूल्य देकर खरीदी हुई अंग्रेजी की गुलामी के अभिशाप के विषाक्त प्रभाव से देशवासियों को मुक्ति दिलाना।

दूसरा था अहिन्दी भाषा-भाषी राज्यों में हिन्दी का प्रचार। अहिन्दी भाषा-भाषी राज्य भी अंग्रेजी के इस विषाक्त प्रभाव से नहीं बच पाए थे। इस प्रभाव को दूर करना भी तत्कालीन हिन्दी के प्रचारकों के सामने समय की एक बड़ी भारी चुनौती थी। इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए विश्व वन्द्य बापू ने कहा था—

"शिक्षित वर्ग जैसा कि माननीय पंडित पं० मदनमोहन मालवीय जी ने अपने

---

1. देखिए—नीलदेवी का वक्तव्य

पत्र में दिखाया है, अंग्रेजी के मोह में फंस गया है और अपनी राष्ट्रीय मातृभाषा से उसे असंतोष हो गया है। पहली माता से जो दूध मिलता है उसमें ज़हर और पानी मिला हुआ है और दूसरी माता से शुद्ध दूध मिलता है। बिना इस शुद्ध दूध के मिले, हमारी उन्नति होना असंभव है। पर जो अन्धा है, वह देख नहीं सकता और गुलाम नहीं जानता कि अपनी बेड़ियां किस तरह तोड़े। पचास वर्षों से हम अंग्रेजी के मोह में फंसे हैं, हमारी प्रजा अज्ञान में डूब रही है। सम्मेलन को इस ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। हमें ऐसा उद्योग करना चाहिए कि एक वर्ष में राजकीय सभाओं में कांग्रेस में, प्रान्तीय सभाओं में और अन्य सभा, समाज और सम्मेलनों में अंग्रेजी का एक भी शब्द सुनाई न पड़े। हम अंग्रेजी का व्यवहार बिलकुल त्याग दें। अंग्रेजी सर्वव्यापक भाषा है, पर यदि अंग्रेज सर्वव्यापक न रहेंगे तो अंग्रेजी भी सर्वव्यापक न रहेगी। अब हमें अपनी मातृभाषा को और नष्ट करके उसका खून नहीं करना चाहिए। जैसे अंग्रेज अपनी मादरी जबान अंग्रेजी में ही बोलते और सर्वथा उसे ही व्यवहार में लाते हैं। वैसे ही मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनने का गौरव प्रदान करें।"[1]

यह सब होते हुए भी बापू अंग्रेजी के प्रति किसी प्रकार का द्वेष नहीं रखते थे। वे उसके अक्षय ज्ञान भण्डार के प्रशंसक थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार प्रकट करते हुए स्वयं कहा है—

"कहना आवश्यक नहीं है कि मैं अंग्रेजी भाषा से द्वेष नहीं करता हूं। अंग्रेजी साहित्य भण्डार से मैंने भी बहुत रत्नों का उपयोग किया है। अंग्रेजी भाषा की मार्फत हमको विज्ञान आदि का खूब ज्ञान लेना है। अंग्रेजी ज्ञान का भारतवासियों के लिए कितना आवश्यक है। लेकिन इस भाषा को उसका उचित स्थान देना एक बात है, उसकी जड़ पूजा करना दूसरी बात है।"[2]

यह वह समय था जब अहिन्दी भाषा-भाषियों को हिन्दी सिखाने वाले योग्य अध्यापक, कठिनता से मिल पाते थे। ऐसी पाठ्य-पुस्तकों का भी अभाव था, जिनके द्वारा उन्हें सुगमता से शिक्षा दी जा सके। हिन्दी मराठी शिक्षक, हिन्दी गुजराती शिक्षक आदि पुस्तकें तो काफी निकल चुकी थीं जिनके द्वारा बंगला, मराठी तथा गुजराती आदि भाषाओं के बोलने वाले को हिन्दी की शिक्षा दी जा सकती हो पर दक्षिण भारत में बोली जाने वाली मलयालम, तेलुगु, कन्नड़ आदि भाषाओं को हिन्दी सिखाने की समस्या अभी यथापूर्व बनी हुई थी। इस समस्या को हल करने के लिए ऐसी पोथियों की आवश्यकता थी, जिनके द्वारा उन्हें आसानी से हिन्दी सिखाई जा सके। दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार के लिए इन्दौर साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर इन्दौर नरेश तथा इंदौर के दानवीर सेठ 'सर हुकमचन्द' ने दस-दस हज़ार की थैलियां देकर हिन्दी प्रचारकों को मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

---

1. राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, पृ० 10, नवजीवन प्रकाशन
2. वही पृ० 13 ,, ,,

बापू ने दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का कार्य-भार अपने पुत्र देवदास गांधी को सौंपकर उन्हें मद्रास जाने के लिए उत्साहित किया था। देवदास गांधी ने यह कार्य अपने ऊपर ले तो लिया पर वे इसे सम्भाल नहीं सके। उन्हें वहां एकाकी जीवन खलने लगा। तब उनकी सहायता के लिए परिव्राजक जी को भेजा गया।

"कलकत्ते के साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन पर परिव्राजक जी पंजाब में हिन्दी का प्रचार करने की प्रतिज्ञा कर चुके थे। 7 मार्च, सन् 1913 से लेकर 16 सितम्बर, 1913 तक परिव्राजक जी अपने मिशन के प्रचार में जुटे रहे इस कार्य में उनके सहयोगी थे पं० जीवानन्द जी शर्मा।"[1]

उन्होंने अपनी देवचतुर्दशी नामक कहानी-संग्रह में लंगोटिया यार शीर्षक कहानी को लेकर उन अपनी कठिनताओं को प्रकाश में लाकर रख दिया है, जिनके कारण उन्हें पंजाब के गुप्तचर विभाग तथा सरकारपरस्तों का कोप-भाजन होना पड़ा। इस प्रकार परिव्राजक जी अपने प्रचार कार्य से हिन्दी प्रेमियों के हृदय में अपना स्थान बना चुके थे। सम्मेलन ने अगस्त सन् 1918 को परिव्राजक जी को देवदास जी की सहायता के लिए मद्रास भेजा। परिव्राजक जी की जिह्वा पर सरस्वती नृत्य करती थी। भाषण देने की कला में वह निपुण थे। हिन्दी प्रचार के उद्देश्य से उन्होंने श्री देवदास गांधी के साथ दक्षिण के विभिन्न नगरों में महीनों भ्रमण किया था। बड़े-बड़े सम्मेलनों में ओजस्वी भाषण दिए थे। उनके भाषणों को सुनकर जनता मन्त्र-मुग्ध हो जाती थी। श्रोताओं के हृदय में स्वत: हिन्दी के प्रति अनुराग उत्पन्न होता जा रहा था। उनमें यह इच्छा बलवती होती जा रही थी कि वह भी स्वयं परिव्राजक जी के समान धारावाहिक हिन्दी भाषण दे सकें। परिणामस्वरूप आगे चलकर विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में परिव्राजक जी की प्रेरणा से वाग्वर्धिनी सभाओं की स्थापना की जाने लगी, हिन्दी की वाद-विवाद प्रतियोगिताओं को प्रोत्साहन दिया जाने लगा। उन प्रतियोगिताओं में भाग लेने वाले विद्यार्थियों को पुरस्कृत भी किया जाता था। अपने प्रचार-कार्य में परिव्राजक जी को जो असाधारण सफलता प्राप्त हुई उसके विषय में उस समय की पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों में प्रचुर सामग्री बिखरी पड़ी है जिसे लेकर दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार के सम्बन्ध में पृथक् शोध-प्रबन्ध लिखा जा सकता है। विस्तार-भय के कारण हम यहां इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं।

जिसका उल्लेख उन्होंने 'दक्षिण भारत की अतीत स्मृतियां' शीर्षक से विस्तार पूर्वक किया है—

"वे बरसात के दिन थे। नड़ियाद में कुछ दिन रहकर मैं महात्मा जी की आज्ञा के अनुसार हिन्दी प्रचारार्थ मद्रास की ओर रवाना हुआ। चिरंजीव देवदास गांधी पहले ही झण्डा लेकर वहां पहुंच चुके थे। जब मैं मद्रास पहुंचा तो उन्होंने बड़े प्रेम से मेरा

---

1. चतुर्थ हिन्दी साहित्य-सम्मेलन

स्वागत किया और हिन्दी माता की सेवा का वह पुण्य कार्य प्रारम्भ हुआ।"[1]

कैसी थी वह शुभ घड़ी। किसे मालूम था कि उस पुनीत घड़ी में रोपा हुआ बीज लहलहाता वृक्ष हो जायेगा जिसके नीचे हजारों मद्रासी विद्यार्थी राष्ट्रभाषा की कठिन समस्या को हल करेंगे।

कई स्वार्थ त्यागी नौजवानों ने इस यज्ञ में आहुति देने का संकल्प किया। उनकी सहायता से नगर में हिन्दी-वर्ग स्थापित कर दिए और प्रान्त के कई स्थानों में केन्द्र भी बनाये। एक वर्ष तक मैं मद्रास में रहा। इतने थोड़े समय में हिन्दी-प्रचार-कार्य ने बड़ा अच्छा स्वरूप ले लिया। हमारे वर्ग सफलतापूर्वक चलने लगे। विद्यार्थियों की संख्या दिनोदिन बढ़ने लगी और नगर के गण्यमान्य सज्जनों ने हमारे साथ पूर्ण सहयोग दिया। मैलापुर के श्री वेंकटराम जी शास्त्री, श्री भाष्यम, श्री शिवस्वामी अय्यर आदि महानुभावों ने हमें हर प्रकार से उत्साहित किया। श्री राजगोपालाचार्य भी हमारी सहायतार्थ दौड़ धूप करने लगे। हिन्दी के प्रचार और प्रसार की लगन उनके रोम-रोम में समाई हुई थी। यह संस्कार उन्हें आर्यसमाज और उसके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्राप्त हुए थे। 'राष्ट्र भाषा हिन्दी का दिव्य सन्देश' शीर्षक लेख में उन्होंने यह स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। वह अपने पूज्य गुरुदेव स्वामी दयानन्द सरस्वती के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए इसी लेख में इस प्रकार लिखते हैं :—

"सत्तर वर्ष हुए लंगोट-बन्द गुजराती भाषा-भाषी संन्यासी ने स्वराज्य का स्वर्गीय स्वप्न देखा था। उस स्वप्न को देखकर वह विस्मित हो उठा। किस प्रकार मेरा स्वप्न पूरा होगा—यह भावना उसके हृदय में उठी। हिमाचल से कन्याकुमारी तक और पेशावर से वर्मा तक फैला हुआ यह विशाल भूखण्ड एकता के सूत्र में बांधे बिना क्या कभी स्वराज्य प्राप्त कर सकता है ? कदापि नहीं ! तो किस प्रकार इसे एकता के प्रेमबन्धन में बांधना चाहिए ? इसी प्रश्न को लेकर वह विरक्त श्री भागीरथी के किनारे विचरने लगा। श्री गंगा जी की लहरें उसे अपना सन्देश सुनाने लगी और उस पवित्र नदी के किनारे पर रहने वाले लोगों की भाषा उसके अन्तःकरण को मुदित करने लगी। उसे अपने प्रश्न का हल मिल गया और उसने जान लिया कि इसी भाषा के द्वारा उसका प्यारा देश दासता की जंजीरों से मुक्त हो सकता है। वह गम्भीरता से विचार करने लगा और अपने भावी प्रोग्राम के प्रत्येक पहलू पर उसने गहरी दृष्टि डाली। इस हिन्दी के द्वारा सारा भारत एक सूत्र में पिरोया जा सकता है ? हिन्दू तो उसके झण्डे के नीचे आ ही जाएंगे, मुसलमानों के लिए भी इसको अपनाना आसान होगा, क्योंकि उर्दू भाषा का सारा ढांचा हिन्दी का रूप ही लिए हुए है। इस प्रकार उसने सबसे पहले अपनी मातृभाषा को एक तरफ देश की राष्ट्रभाषा का आलिंगन किया और अपने धार्मिक ग्रन्थ राष्ट्रभाषा हिन्दी में लिखे। यहीं से हिन्दी का दिव्य सन्देश प्रारम्भ हुआ।"[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दी प्रचार की मूल-प्रेरणा उन्हें आर्यसमाज और

---

1. हिन्दी प्रचारक, दशाब्दि अंक—अप्रैल, सन् 1932
2. हिन्दी प्रचारक, 1939

इसके प्रवर्त्तक से विरासत के रूप में मिली थी। स्वामी जी अहिन्दी भाषा-भाषी थे, फिर भी उन्होंने हिन्दी को अपने प्रचार का माध्यम बनाकर सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में उसे स्वीकार किया था। परन्तु अपने जीवन-काल में स्वामी जी इस सुखद स्वप्न को साकार नहीं देख सके। उसे प्रत्यक्ष करने के लिए उन्होंने यह ठोस कदम उठाया था। इस संदर्भ में हिन्दी उर्दू के बढ़ते हुए तत्कालीन विरोध के सम्बन्ध में उनका यह कथन "उर्दू भाषा का सारा ढांचा हिन्दी का ही रूप लिए हुए है" इसलिए हिन्दी के प्रचार में मुसलमानों द्वारा किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं की जाएगी। आज के राजनीतिज्ञों के द्वारा उत्पन्न किए हुए हिन्दी, उर्दू के झगड़े को सहज ही में समाप्त कर देता है।

उनके सेलम नगर में भी केन्द्र बना। त्रिचनापल्ली में भी हमारा केन्द्र स्थापित हुआ। इस प्रकार प्रभु की कृपा से माता हिन्दी के पुजारियों की संख्या की वृद्धि होने लगी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि उन दिनों हिन्दी में ऐसी पुस्तकों का अभाव था, जिनके माध्यम से दक्षिणी भारत की भाषाओं को पढ़ा जा सके अथवा पढ़ाया जा सके। इस प्रकार की रीडरें लिखने का कार्य परिव्राजक जी को सौंपा गया। उन्होंने 'हिन्दी की पहली पुस्तक' नाम से एक रीडर लिख डाली जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई।

परिव्राजक जी की गणना उस समय के प्रतिष्ठित लेखकों में होने लगी थी। उनकी लेखनी बड़ी शक्तिशालिनी थी। भाषा पर भी उनका असाधारण अधिकार था। अतः उन्होंने जो पुस्तकें इस सम्बन्ध में लिखीं वह अपनी गद्य शैली की गरिमा के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुईं।

दक्षिण भारत की इस यात्रा के संस्मरण लिखते हुए परिव्राजक जी अपनी पुस्तक 'ज्ञान के उद्यान में' के चौतीसवें पुष्प में अपनी डायरी के कुछ पृष्ठों के उद्धरण देते हुए एक स्थान पर लिखते हैं :—

"मद्रास दक्षिण भारत का सबसे बड़ा नगर है—इसी नगर में पहले-पहल गांधी पुत्र मातृभाषा हिन्दी की पताका लेकर पहुंचे थे। जैसे महाराज अशोक ने अपनी सन्तान को बौद्धधर्म-प्रचारार्थ द्वीप-द्वीपान्तरों में भेजा था, उसी प्रकार महात्मा गांधी जी का यह चिरंजीव हिन्दी प्रचारार्थ मद्रास आया था। श्रीयुत् देवदास गांधी की सहायतार्थ मैं यहां भेजा गया था।"[1]

"इस होंनहार लड़के ने बहुत जल्द लोकप्रियता प्राप्त कर ली और हिन्दी के वर्ग खोल दिए। जब मैं पहुंचा तब काम आरम्भ हो चुका था। यही मेरा परिचय राजगोपालाचार्य जी से हुआ। मद्रासी ब्राह्मण जैसे तीक्ष्ण बुद्धि होते हैं, ऐसा ही मैंने इस श्यामवर्ण ब्राह्मण को पाया। आप हमारे हिन्दी प्रचार कार्य में बड़ी दिलचस्पी लेते थें। खास तौर से वे देवदास गांधी से स्नेह रखते थे और सलेम से बराबर मिलने आया करते थे। उस समय कौन जानता था कि यह जात-पांत के बन्धनों से जकड़ा हुआ ब्राह्मण

1. ज्ञान के उद्यान में, पृ० 285-86

एक दिन मोढ़ वैश्य युवक को अपना दामाद बना लेगा।"[1]

पंजाब में हिन्दी प्रचार और परिव्राजक जी

हिन्दी प्रचारक के रूप में परिव्राजक जी ने राष्ट्रभाषा की जो सेवाएं कीं उन पर प्रकाश डालते हुए 'डॉ० ज्ञानवती दरबार' अपने शोध-प्रबन्ध 'भारतीय नेताओं की हिन्दी की सेवा' में इस प्रकार लिखती हैं—

"पंजाब के सार्वजनिक कार्यकताओं में, जिन्होंने हिन्दी को अपनाया और बढ़ाया स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का स्थान बहुत ऊंचा है। यात्रा सम्बन्धी साहित्य प्रस्तुत करने वालों में स्वामी सत्यदेव प्रथम पंक्ति के लेखकों में थे। इंग्लैंड, जर्मनी और योरोप के अन्य देशों के भ्रमण पर उन्होंने जो पुस्तक लिखी, उसे काफी ख्याति मिली। धार्मिक और सामाजिक विषयों पर तो उन्होंने एक दर्जन से अधिक ग्रन्थ लिखे हैं। हिन्दी प्रचार और प्रसार के लिए उनका त्याग प्रशंसनीय है, क्योंकि उन्होंने अपनी समस्त सम्पत्ति अपने जीवन-काल में ही 'नागरी प्रचारिणी सभा' को दे डाली थी। हिन्दी के लिए उनका यह सचमुच महान् त्याग था। उनकी भाषा-शैली वर्णनात्मक और उपदेशात्मक है।"[2]

मुल्तान में पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का पहला अधिवेशन 30, 31, मई 1 जून, 1924 को परिव्राजक जी के सभापतित्व में हुआ। उनके लेखों और भाषणों ने सन् 1910 से 1920 तक पंजाब के नवयुवकों में हिन्दी के प्रति अनुराग उत्पन्न कर दिया था। इसीलिए उन्हें इस सम्मेलन का सभापति बनाकर उनके प्रति पंजाब की जनता ने अपना प्रेम प्रकट किया था वह सराहनीय था।

सम्मेलन बड़ी धूम-धाम से सम्पन्न हुआ था। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के परीक्षा मंत्री अध्यापक 'रामरत्न' मुख्य अतिथि के रूप में पधारे थे। इस सम्मेलन की उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि 'राजा महेन्द्र प्रताप', ने काबुल से एक पत्र परिव्राजक जी के नाम भेजा था। जिसमें कहा गया, 'गुरु ग्रन्थ साहब' का देवनागरी लिपि में प्रामाणिक संपादन किया जाय तथा इसी प्रकार अन्य भाषाओं के साहित्य को भी देवनागरी लिपि के माध्यम से सर्व सुलभ बनाया जाय। राजा साहब ने आगे लिखा था कि तुर्कों के जाग्रत लोग, अरबी लिपि को छोड़, किसी और लिपि को अपनाने की सोच रहे हैं, एशिया के अन्य देशों के लोग भी वैसा करेंगे, यदि उन्हें दिखा दिया जाय कि नागरी लिपि अत्यन्त पूर्ण और वैज्ञानिक है तो वे उसकी ओर झुक सकते हैं। तुर्कों ने उसके कुछ वर्ष बाद ही अरबी छोड़कर रोमन अपना ली, किन्तु नागरी लिपि के सम्बन्ध में जो सुझाव राजा साहब ने दिया था उस पर आज तक अमल नहीं किया गया। पंजाब के हिन्दी आन्दोलन को तो बड़ा कार्य उठाने की शक्ति न थी "श्री जयचन्द्र विद्यालंकार' ने बाद में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा कार्य करवाने के

---

1. ज्ञान के उद्यान में पृ० 286
2. भारतीय नेताओं की हिन्दी सेवा, पृ० 335

कई प्रयत्न किए पर उनकी पुकार नक्कार खाने की तूती की सदा ही समझी गई।"[1]

परिव्राजक जी के तत्त्वावधान में 2 आषाढ़, संवत् 2001 (16 जून, 1944) को एक हिन्दी विद्या-मंदिर की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य पंजाबी बालक-बालिकाओं को हिन्दी साहित्य सम्मेलन और पंजाब की हिन्दी परीक्षाओं के लिए तैयार करना था। इसका उद्घाटन श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति जी ने किया था। प्रौढ़ लोगों के लिए रात्रि में भी पाठशाला चलाई गई, जिसका उद्घाटन 12 आषाढ़, सं०2005 (26 जून, 1948) को प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने किया था। पंजाब विभाजन के उपरान्त पंजाबी-बन्धु बड़ी संख्या में शरणार्थी के रूप में हरिद्वार आ गए। उनकी कन्याओं को पंजाब की रत्न, भूषण और प्रभाकर की परीक्षाओं की तैयारी कराने की असुविधा उन सबके सामने थी। और सबसे बड़ी समस्या थी स्थान के अभाव की। पंजाबी बन्धुओं के आग्रह से परिव्राजक जी ने इस कार्य का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लिया। उनके सत्यज्ञान-निकेतन में नियमित रूप से यह कक्षाएं लगने लगीं।

हिन्दी-प्रचार में पंजाब विश्वविद्यालय की हिन्दी रत्न, हिन्दी भूषण और हिन्दी प्रभाकर परीक्षाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। आर्यसमाजी और सनातनधर्मी परिवारों की कन्याएं इन परीक्षाओं में सफलता प्राप्त करके विश्वविद्यालय द्वारा दी गई सुविधाओं से लाभ उठाकर सहज ही में बी० ए० तथा एम० ए० की उपाधियां घर बैठे प्राप्त कर लिया करती थीं। परन्तु पंजाब में इस प्रकार के विद्यालय नहीं थे, जिनमें नियमित रूप से पढ़कर कन्याएं इन परीक्षाओं की तैयारी करतीं। परिव्राजक जी ने पंजाब के नगर-नगर में जाकर सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिए तथा पंजाब की जनता को इस प्रकार के विद्यालयों को खोलने के लिए उत्साहित किया। परिव्राजक जी के निरन्तर प्रचार के कारण सहस्रों की संख्या में सारे पंजाब में ऐसे विद्यालयों की स्थापना होती चली गई, जिन्होंने इन परीक्षाओं के अध्ययन के लिए सुविधाएं देकर हिन्दी-प्रचार के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया। परिव्राजक जी के उत्साहवर्द्धन से विभिन्न विषयों को पढ़ाने वाले महाविद्यालयों के प्राध्यापक-न्यायालयों के कर्मचारी, वकील भी इन परीक्षाओं में बैठने लगे।

यदि परिव्राजक जी उन सबके हृदय में हिन्दी के प्रति अनुराग उत्पन्न न करते तो यह कैसे संभव हो सकता था ? पचास-साठ वर्ष की अवस्था पार कर जाने वाले सेवा-निवृत्त लोग भी बड़े उत्साह के साथ इन परीक्षाओं की तैयारी करते थे। पंजाब की परीक्षाओं के प्रति अपने भाषणों द्वारा जो उत्साह परिव्राजक जी ने जाग्रत किया उसका भी हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है।'

पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के तो परिव्राजक जी प्राण ही थे। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग को वर्तमान रूप देने में राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास

---

1. . देखिये—हीरक जयन्ती ग्रन्थ (नागरी प्रचारिणी सभा)

टण्डन का जो स्थान है, वही स्थान पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्थापना में परिव्राजक जी का है। यद्यपि पंजाब-विभाजन के बाद पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्मृतियां ही शेष रह गई हैं, पर उसके द्वारा हिन्दी-प्रचार के क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं, उन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकता।

"परिव्राजक जी ही पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने विदेशों से आकाशवाणी द्वारा अपने भाषणों को प्रसारित करके अपना सन्देश देशवासियों को सुनाया था।"[1]

---

1. "Resistance to tyranny is a obedience to God." —Satya Deva.

उपसंहार

स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों को प्रचारित-प्रसारित करने का संकल्प लेकर स्वामी जी ने अपने जीवन की यात्रा प्रारम्भ की। अमरीकी-यात्रा से उन्हें जनतन्त्र, स्वाधीनता और विज्ञानवाद की प्रेरणा मिली। आर्यसमाज से अतीत के जीवन-मूल्यों को पुनः स्थापित करने की प्रेरणा मिली। परिव्राजक जी ने आधुनिक जीवन-संदर्भ में अतीत के जीवन-दर्शन की व्याख्या की।

भारत के पुनर्जागरण में इसी दृष्टि से स्वामी जी के क्रियाकलाप का मूल्यांकन किया जा सकता है। स्वामी जी का व्यक्तित्व भारतीय संस्कृति के सांचे में ढला हुआ था, वह योरोप से ज्ञान-विज्ञान की नई दृष्टि लेकर लौटे थे। भारत आकर पत्रकारिता, साहित्य और समाज-सुधार के क्षेत्र में उन्होंने अपने अनुभवों का प्रकाशन किया। उनके इस सत्याख्यान के कारण नैतिकतावादी आलोचकों ने उनका विरोध भी किया। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादन में प्रकाशित होने वाले 'विशाल भारत' में उनकी छीछालेदार इसी सत्य-निष्ठा के कारण हुई। स्वामी जी स्वयं को अरस्तू का शिष्य मानते थे। इसीलिए रूढ़ियों से ग्रस्त समाज को मुक्त करने के लिए उन्होंने जो भी प्रयत्न किया उसकी सार्वजनिक निन्दा हुई। पर उन्होंने लोक-कल्याण की दृष्टि से प्रसन्नतापूर्वक इस विष को पिया। उनका सारा जीवन हिन्दी और स्वदेशी के प्रचार में लगा और उन्होंने अपना सर्वस्व उत्तर भारत के पश्चिमी अंचल में 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना के लिए न्यौछावर कर दिया।

स्वामी रामतीर्थ, श्यामसुन्दरदास, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और पं० बालकृष्ण भट्ट के साथ उन्होंने निष्काम भाव से भारतीय-साहित्य और समाज की सेवा की। वह अपनी कृतियों के माध्यम से परम्पराशील भारत को आधुनिक बोध देना चाहते थे। आधुनिक भारत के वैचारिक निर्माण में उनका बहुत बड़ा योगदान है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में उनके 28 प्राप्य और छह अप्राप्य ग्रन्थों का साहित्यिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। प्रथम अध्याय में उनकी उन जीवन रेखाओं का अंकन किया गया है जिनसे भारतीय परम्परा के लेखक का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व निर्मित होता है। गांधी, प्रेमचन्द, पराड़कर जैसे मनीषियों ने उनके इसी व्यक्तित्त्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। परिव्राजक जी ने हिन्दी निबन्ध की उस निर्माण-युग में वैचारिक गम्भीरता प्रदान की है। व्यक्तित्त्व प्रकाशन की समस्या तथा राजनीतिक और सामाजिक चिन्तन से पुष्ट साहित्यिक कथ्य उनके निबन्धों में प्रथम बार दिखाई पड़ता है। गवेषणात्मक-निबन्धों में पैगम्बरी और भारतीय विचारधारा का पहली बार विश्लेषण कर भारत और योरोप की जातियों तथा उनके साहित्य की मूल विशेषताओं को उन्होंने स्पष्ट किया है।

शिक्षा के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी था, किन्तु अपने संस्कारों के कारण वह शुद्ध हिन्दुत्व के पक्षपाती थे, इसलिए एक विशेष राजनीतिक विचारधारा से वह जुड़े हुए थे। भावव्यंजक-शैली, काव्यात्मक-कथ्य और आवेगपूर्ण भाषा की दृष्टि से उनके निबन्ध सरदार पूर्णसिंह और रायकृष्णदास जैसे लेखकों के लिए प्रेरक सिद्ध हुए। प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में इसीलिए उनकी साहित्यिक शैलियों की विस्तृत समीक्षा की गई है। उद्बोधक, सूक्ति-प्रधान, भावात्मक, स्वगत, कथात्मक, अलंकृत, विचारात्मक, व्याख्यानात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक, व्यंग्यात्मक, दर्शनात्मक तथा गवेषणात्मक सभी शैलियों के नमूने उनके निबन्ध में मिलते हैं। शिल्प-विधान पर उनका पूर्ण अधिकार था।

अंग्रेजी में लेखन-कला को लेकर विभिन्न ग्रन्थ लिखे गए। नवोदित लेखकों के लिए आदर्श लेखन-पद्धति पर भारतीय परम्परा के अनुरूप कोई ग्रन्थ उस समय हिन्दी में नहीं था। रचना-कौशल के विभिन्न पक्षों पर परिव्राजक जी ने सर्वप्रथम 'लेखन-कला' ग्रन्थ लिखा। लेखकों के व्यक्तित्व, उनके दायित्व, लेखन के गुण, सामग्री-चयन तथा अभिव्यक्ति पक्ष पर उन्होंने साधिकार विचार किया और लेखन सम्बन्धी त्रुटियों के साथ भाषा और वर्तनी पर सामग्री प्रस्तुत की। रामचन्द्र वर्मा और पं० किशोरीदास वाजपेयी के संदर्भ में इस कार्य का प्राथमिक महत्त्व है।

यात्रा-साहित्य और गल्प-लेखन में भी परिव्राजक जी का योगदान अविस्मरणीय है। बाबू शिवप्रसाद गुप्त और राहुल जी ने अपने ग्रन्थों द्वारा यात्रा-साहित्य के अभाव की पूर्ति की। परिव्राजक जी ने घुमक्कड़ी-वृत्ति को साहित्यिक जीवन का आधार मानते हुए विराट यात्राएं कीं और अनेक ग्रन्थ लिखे। इन यात्राओं का उद्देश्य संसार के ज्ञान-विज्ञान से भारतीय जनता को परिचित कराना था। हिमालय की खोज में तो उन्होंने भारत के सांस्कृतिक अवदान को उजागर किया है। जीवनपरक साहित्य और आत्मकथा के क्षेत्र में भी उन्होंने पहल की है। इन उपेक्षित विधाओं के उद्धार का श्रेय परिव्राजक जी को है।

शुक्ल जी ने प्रथम हिन्दी कहानी लेखक का गौरव स्वयं को दिया है, किन्तु परिव्राजक जी ने इस क्षेत्र में भी पहल की है। फ्रांस के गल्प लेखक डीमुपाजां से प्रभावित होकर उन्होंने गल्प-लेखन का कार्य प्रारम्भ किया। उनकी कहानियां विराट जीवन के अनुभवों पर आधारित हैं। उनमें हिन्दुस्तान, अमरीका, साइबेरिया, सभी कहीं का मानव-जीवन अभिव्यक्त हुआ है। यह ठीक है कि इन कहानियों का शिल्प विकसित नहीं है, फिर भी किशोरीलाल गोस्वामी, बंग महिला, गिरजादत्त वाजपेयी और आचार्य शुक्ल की कहानियों की अपेक्षा ये कहानियां गल्प के वास्तविक रूप का वास्तविक प्रतिनिधित्व करती हैं। इनके अतिरिक्त परिव्राजक जी ने कविताएं भी लिखी हैं। कविताएं लम्बी भी हैं और आकार में छोटी भी हैं। उन्होंने शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी है। द्विवेदी-युग की तुकान्त प्रवृत्ति के आग्रह के कारण कहीं-कहीं उन्होंने व्यर्थ के तुक भी रखे हैं। ऐसे प्रयोग शास्त्रीय दृष्टि से क्षम्य नहीं कहे जा सकते। विभिन्न छन्दों में विभिन्न मुक्तक उन्होंने इसीलिए लिखे हैं कि विद्यार्थियों को छन्दों के उदाहरण देने में इनसे सहायता मिले। इन

रचनाओं में भी उनके योरोपीय जीवन के अनुभव दिखाई पड़ते हैं। यूं अलंकारों के उदाहरण भी इनमें मिल जाते हैं, पर इनका काव्य-पक्ष गौण ही है। अस्तु यह कहने में कोई संकोच नहीं हो सकता कि सत्यदेव परिव्राजक हिन्दी की उपेक्षित साहित्यिक विधाओं के पुरस्कर्ता थे और उन्होंने निबन्ध, आत्मकथा, जीवनी, यात्रा और गल्प के क्षेत्र में मौलिक कार्य करके अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया। आचार्य द्विवेदी और श्री टण्डन जी के साथ उन्होंने हिन्दी-भाषा और साहित्य के लिए जो कार्य किया हम उनके प्रति नतसिर-कृतज्ञ हैं।

परिशिष्ट (1)

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का साहित्य

क्रम	ग्रन्थ	विषय	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक	विशेष
1.	उन्नति का द्वार (ट्रैक्ट)	चरित्र निर्माण	1905	बम्बई से प्रकाशित	अप्राप्य
2.	अमरीका दिग्दर्शन	यात्रा साहित्य	1911	साहित्योदय कार्यालय इलाहाबाद	प्राप्य
3.	सत्यनिबन्धावली	निबन्ध संग्रह	1914	साहित्योदय कार्यालय इलाहाबाद	अप्राप्य
4.	हिन्दी का सन्देश (ट्रैक्ट)	राष्ट्रभाषा प्रचार	1914	ओंकार प्रेस—प्रयाग	प्राप्य
5.	मेरी कैलाश यात्रा	यात्रा साहित्य	1915	स्वयं	,,
6.	संजीवनी बूटी	निबन्ध संग्रह	1915	स्वयं	,,
7.	अमरीका भ्रमण	यात्रा साहित्य	1916	साहित्योदय कार्यालय	,,
8.	लेखन-कला	रचना सम्बन्धी	1916	साहित्योदय कार्यालय	,,
9.	राजर्षि भीष्म	जीवन-चरित्र	1917	कमर्शियल प्रेस—कानपुर	,,
10.	हिन्दी की पहली पुस्कत	राष्ट्रभाषा सम्बन्धी	1918	साहित्योदय कार्यालय	,,
11.	वेदान्त का विजयमंत्र (ट्रैक्ट)	दर्शन विषयक	1919	साहित्योदय कार्यालय	अप्राप्य
12.	श्री बुद्धगीता (ट्रैक्ट)	धम्मपद के एक अंश का हिन्दी अनुवाद	1922	सत्यज्ञान माला, केशव प्रेस—काशी	प्राप्य
13.	मनुष्य का अधिकार	नागरिकशास्त्र सम्बन्धी निबन्ध	1922	सत्यज्ञान माला केशव प्रेस—काशी	,,
14.	संगठन का बिगुल	हिन्दू संगठन विषयक	1922	सत्यग्रन्थ माला आफिस वेगूपुर, पटना सिटी	,,
15.	हमारी सदियों की गुलामी के कारण	तत्कालीन भारत की दासता के कारणों पर विचार	1922	सत्यग्रन्थ माला आफिस वेगूपुर, पटना सिटी	,,

क्रम	ग्रन्थ	विषय	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक	विशेष
16.	मेरी जर्मन-यात्रा	यात्रा-साहित्य	1924	स्वयं	प्राप्य
17.	हिन्दू-धर्म की विशेषताएं	सांस्कृतिक	1926	राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली	,,
18.	अनुभूतियां	काव्य	1933	स्वयं	,,
19.	देवचतुर्दशी	कहानी संग्रह	1933	सत्यग्रन्थ माला आफिस, नई दिल्ली	,,
20.	यात्री-मित्र	यात्रियों की मार्गदर्शिका	1936	स्वयं	,,
21.	योरोप की सुखद स्मृतियां	यात्रा साहित्य	1937	स्वयं	,,
22.	ज्ञान के उद्यान में	निबन्ध संग्रह	1937	स्वयं	,,
23.	नई दुनिया के मेरे अद्भुत संस्मरण	यात्रा-साहित्य	1937	स्वयं	,,
24.	अमरीका-प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी	यात्रा-साहित्य	1937	स्वयं	,,
25.	राष्ट्रीय संध्या (ट्रैक्ट)	काव्य	1937	स्वयं	,,
26.	भारतीय स्वाधीनता सन्देश	हिन्दू संगठन संग्रह	1939	स्वयं	,,
27.	उन्नति की ओर	आध्यात्मिक निबन्ध	1948	ज्ञानधारा कार्यालय, अलीगढ़	,,
28.	लहसुन बादशाह	स्वास्थ्य सम्बन्धी	1951	स्वयं	,,
29.	स्वतन्त्रता की खोज में	आत्मकथा	1951	ज्ञानधारा कार्यालय, अलीगढ़	,,
30.	विचार स्वातन्त्र्य के प्रागण में	आत्मकथा पर की गई आलोचना के उत्तर	1952	स्वयं	,,
31.	पाकिस्तान एक मृग-तृष्णा	समसामयिक निबन्ध	1954	स्वयं	,,
32.	मेरी पांचवीं जर्मन यात्रा	यात्रा-साहित्य	1955	स्वयं	,,
33.	अमरीका के स्वावलम्बी विद्यार्थी	चरित्र-निर्माण	1957	स्वयं	,,
34.	जर्मन में मेरे आध्यात्मिक प्रवचन	आध्यात्मिक प्रवचन	1960	स्वयं	,,

परिशिष्ट (2)

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी के ग्रन्थ

1. स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अभिनन्दन ग्रन्थ—प्रकाशन-सन् 1958, भाषा विभाग पटियाला।
2. पंजाब प्रांतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन—सन् 1958, संपादक-भीमसेन विद्यालंकार (रजत जयन्ती स्मृति ग्रन्थ)
3. पद्मसिंह शर्मा के पत्र—संपादक-बनारसीदास चतुर्वेदी।
4. मिश्रबन्धु-विनोद (भाग 4)—मिश्र बन्धु, गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ।
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य चतुरसेन शास्त्री।
7. आचार्य चतुरसेन का कथा-साहित्य—डॉ० शुभकार कपूर।
8. धर्म के नाम पर—आचार्य चतुरसेन शास्त्री।
9. भिखारीदास ग्रन्थावली—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।
10. अच्छी हिन्दी—बाबू रामचन्द्र वर्मा।
11. अच्छी हिन्दी का नमूना—आचार्य किशोरीदास वाजपेयी।
12. लेखनकला—आचार्य किशोरीदास वाजपेयी।
13. शैली—करुणापति त्रिपाठी—प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण सन् 1941
14. हिन्दी-विश्वकोश (18वां भाग)—श्री नगेन्द्रनाथ वसु।
15. घुमक्कड़ शास्त्र—महापंडित राहुल सांकृत्यायन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1949
16. मेरी लद्दाख यात्रा—महापंडित राहुल सांकृत्यायन।
17. हिमालय परिचय—महापंडित राहुल सांकृत्यायन।
18. राहुल यात्रावली—इंडिया पब्लिशर्स, 1958
19. पृथ्वी प्रदक्षिणा—शिवप्रसाद गुप्त, ज्ञान मण्डल, काशी, 1914
20. यात्रा साहित्य का उद्भव और विकास—डा० सुरेन्द्र माथुर।
21. राहुल जी की जीवनी—यात्रा-साहित्य—जनकदुलारी सहगल।
22. अरे यायावर रहेगा याद—श्री अज्ञेय।
23. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त (द्वितीय भाग)—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत।
24. आदर्श निबन्ध—डॉ० जगन्नाथ शर्मा।

25. गणेशशंकर विद्यार्थी के श्रेष्ठ निवन्ध—गणेशशंकर विद्यार्थी।
26. खण्डित भारत—डॉ० राजेन्द्रप्रसाद।
27. अशोक के फूल—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।
28. साहित्य-रूप—डॉ० रामअवध द्विवेदी।
29. आत्मकथा रामप्रसाद विस्मिल—बनारसीदास चतुर्वेदी।
30. मेरी कहानी—पं० जवाहरलाल नेहरू।
31. भारत निर्माता—पं० कृष्णवल्लभ द्विवेदी।
32. आर्यसमाज का इतिहास—पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति।
33. भारतीय नेताओं की हिन्दी सेवा—डॉ० ज्ञानवती दरवार।
34. दक्षिण के हिन्दी प्रचार-आन्दोलन का समीक्षात्मक इतिहास—
श्री पी० के० केशवन नायर, हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ, 1963
35. हीरक जयन्ती स्मृति ग्रन्थ (नागरी प्रचारिणी सभा)।
36. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन—डॉ० लक्ष्मीनारायण गुप्त।

अंग्रेजी के ग्रन्थ

1. ए प्रैक्टिल संस्कृत डिक्शनरी—डॉ०ए०ए० मैक्डानल।
2. ऐन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ लिटरेचर—विलियम हेनरी हडसन।
3. डिजाइन एण्ड ट्रुथ इन आटोवायोग्राफी—राय पास्कल।
4. इंग्लिश आटोवायोग्राफी—वेन शुमेकर।
5. एक्सपैरीमेंट इन बायोग्राफी—(वाल्यूम 2)—एच० जी० वेल्स।
6. डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर—टी० शिप्ले।
7. दि आर्ट ऑफ राइटिंग—एनडरी माउर्स।
8. आन राइटिंग एण्ड राइटर्स—वाल्टर रेलिजी।

हिन्दी के पत्र एवं पत्रिकाएं

1. सरस्वती— अप्रैल, जून, सन् 1906
मार्च, अप्रैल, जून, जुलाई, सितम्बर, अक्टूबर, सन् 1907
मार्च, अप्रैल, मई, जुलाई, सन् 1908।
जून, जुलाई, सन् 1909
जनवरी, मार्च, मई, जुलाई, सितम्बर, अक्टूबर, सन् 1910
फरवरी, सन् 1911
माच, सन् 1923
जून, सन् 1927

2. विशाल भारत— अक्टूबर, सन् 1930
जुलाई, सन् 1932
अगस्त, नवम्बर, दिसम्बर, सन् 1928
अगस्त, सन् 1931।
मई, सन् 1935।
3. हिन्दू (अंग्रेजी पत्र)—4 फरवरी, 1929 मद्रास
4. चतुर्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन का विवरण—भागलपुर
5. हिन्दी प्रचारक दशाब्दि अंक—अप्रैल, सन् 1932, 1939
6. गुरुकुल कांगड़ी पत्रिका—फाल्गुन, सं०2008, जनवरी, सन् 1962
7. नागपुर टाइम्स (दैनिक पत्र)—10 फरवरी, सन् 1952
8. ट्रिब्यून (अंग्रेजी पत्र)—24 फरवरी, सन् 1952
9. आलोचना—जुलाई, सन् 1954।
10. माधुरी (विशेषांक-अगस्त, सितम्बर, सन् 1928
11. सात्विक जीवन—संपादक-श्री रूलियाराम गुप्त, अक्टूबर, सन् 1943
12. मर्यादा—मई, सन् 1911